54/1

अनेकान्त

वीर सेवा मंदिर

21, दरियागंज, नई दिल्ली-110002

वीर सेवा मंदिर का त्रैमासिक
अनेकान्त
प्रवर्त्तक : आ. जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

इस अंक में -

कहाँ/क्या?

1. महावीर भगवान् — 1
   - श्री सुभाष जैन
2. नासूर बनता मानगढ़ मिशन — 2
   - डॉ जयकुमार जैन
3. भगवान महावीर की अहिंसा के निहितार्थ — 13
   डॉ सुरेन्द्रकुमार जैन भारती
4. कटोरी सीधी या उलटी — 17
   पूर्व न्यायमूर्ति एम.एल. जैन
5. आदि पुराण का भाषाई पक्ष — 25
   - डॉ वृषभ प्रसाद जैन
6. सर्वघाति और देशघाति कर्म प्रकृतियाँ — 41
   - डॉ श्रेयांसकुमार जैन
7. आचार्य अजितसेन की दृष्टि में उपमा — 49
   - डॉ सरीता जैन
8. प्राचीन भारत पुस्तक में कुछ और भ्रामक कथन — 53
   - राजमल जैन

वर्ष 54, किरण 1
जनवरी-मार्च 2001

सम्पादक :
डॉ. जयकुमार जैन

परामर्शदाता :
पं. पद्मचन्द्र शास्त्री

संस्था की आजीवन सदस्यता 1100/-
वार्षिक शुल्क 15/-
इस अंक का मूल्य 5/-
सदस्यों व मंदिरों के लिए निःशुल्क

प्रकाशक
भारतभूषण जैन, एडवोकेट

मुद्रक :
मास्टर प्रिन्टर्स 110032

विशेष सूचना : विद्वान् लेखक अपने विचारों के लिए स्वतन्त्र हैं। यह आवश्यक नहीं कि सम्पादक उनके विचारों से सहमत हों। इसमें प्रायः विज्ञापन एवं समाचार नहीं लिए जाते।

वीर सेवा मंदिर

21, दरियागंज, नई दिल्ली 110002, दूरभाष : 3250522

संस्था को दी गई सहायता राशि पर धारा 80 जी के अंतर्गत आयकर में छूट

(रजि. आर 10591/62)

महावीर भगवान्

- सुभाष जैन

महावीर भगवान्, तुम्ही ने जीवो का उद्धार किया।
सच्चे सुख की राह दिखाकर, दुनिया का उपकार किया।।
एक रात त्रिशला ने देखे, सोलह सपने अनजाने।
पूज्य पिता सिद्धार्थ लगे तब, उनका मतलब समझाने।
तीर्थकर का जीव गर्भ में, आया तुमको अपनाने।
दिव्य देवियो ने तब आकर, माता का सत्कार किया।। **महावीर भगवान...1**
तुमने जन्म लिया तो छाई, हर आंगन में खुशहाली।
जनता नाच-नाच हर्षाई, सुख वैभव से वैशाली।
'वर्द्धमान' के नामकरण पर, महक उठी डाली-डाली।
थमे हुए से सारे जग मे, नवजीवन सचार किया।। **महावीर भगवान...2**
वन मे जा पहुंचे तप करने, त्याग राज्य का सिंहासन।
धारण करके रूप दिगम्बर, छोडे मासारिक साधन।
केशलोच कर निज हाथों से, आत्म सुख मे हुए मगन।
बारह धर्म भावनाओ पर, निशदिन गहन विचार किया।। **महावीर भगवान...3**
जब आहार हेतु नगरी में, आए महाव्रत के धारी।
पड़गाहन को खड़े हुए थे, द्वार-द्वार पर नर-नारी।
तभी सींखचो में इक अबला, दीखी बन्दी बेचारी।
उसी चन्दना के हाथों से, कोदों को स्वीकार किया।। **महावीर भगवान...4**
द्वादस बरस किया तप तुमने, तीन लोक दुतिवंत हुए।
केवल-ज्ञान हुआ तब तुमको, तीर्थकर अरिहत हुए।
समव-शरण रच दिया सुरों ने, मंडप दिव्य दिगत हुए।
गौतम गणधर ने वाणी को, समझा और प्रसार किया।। **महावीर भगवान...5**
कातिक मावस के प्रभात में, ध्यानमग्न यों लीन हुए।
शेष अघाति कर्म नशाकर, शिवपद पर आसीन हुए।
जीव मात्र को दिव्य रत्नत्रय-मार्ग दिखा स्वाधीन हुए।
देवो ने की चरण-वन्दना, जग ने जय-जयकार किया।। **महावीर भगवान...6**
आए आज 'सुभाष-शकुन' भी, शरण तुम्हारी, हे भगवन्।
भटकें है अज्ञान-तिमिर में, करदो तनिक मार्ग दर्शन।
कर्म-बन्ध से छुट जायें हम, छूटे यह नश्वर जीवन।
चलते हैं जो पद-चिन्हों पर, उनका बेड़ा पा किया।। **महावीर भगवान...7**

-महासचिव, वीर सेवा मंदिर, 21, दरियागंज, नई दिल्ली-2

नासूर बनता सोनगढ़ मिशन

डॉ. जयकुमार जैन

जैन सन्देश का साहू श्री अशोक जैन विशेषांक मेरे सामने है और उसमें डॉ. हुकुमचन्द भारिल्ल, जयपुर के 'सम्मेदशिखर के लिए समर्पित साहू अशोक कुमार जैन' लेख में उल्लिखित वाक्य ने मेरा ध्यान आकृष्ट किया है। वाक्य इस प्रकार है-

"एक सामाजिक कार्यकर्ता, जैन दर्शन का अध्येता और सोनगढ़ मिशन का प्रतिनिधि होने के कारण मेरा साहू परिवार से विगत 33 वर्षों से निकट का सम्बन्ध रहा है।"

उपर्युक्त वाक्य में डॉ. भारिल्ल जी को यथार्थ तथ्यपरक स्वीकारोक्ति के लिए धन्यवाद। उन्होंने मात्र इस वाक्य के द्वारा जाने-अनजाने यह स्वीकार किया है कि सोनगढ़ मिशन की सत्ता है और वे उस मिशन के प्रतिनिधि हैं, परन्तु उनके सौम्य, आकर्षक व्यक्तित्व एवं अध्यात्मपरक चिन्तन का उनके क्रिया-कलापों से मेल नहीं खाता। क्योंकि सोनगढ़ मिशन द्वारा व्याख्यायित तथा प्रचारित अध्यात्म और ओशो के अध्यात्मपरक भोगवादी चिन्तन में विशेष अन्तर नहीं दिखता है। ओशो भी भोग से समाधि की प्रक्रिया को महत्त्व देते हैं और सोनगढ़ मिशन के संस्थापक स्वयम्भू घोषित भावी तीर्थकर सूर्यकीर्ति भी तप-दान-पूजा-तीर्थयात्रा आदि को मिथ्यात्त्व रूप में प्रचारित करते रहे हैं, प्रकारान्तर से भोगोपभोग को उन्होंने धर्ममार्ग में बाधक नहीं कहा।

दिगम्बर जैन धर्म मूलत: निवृत्तिपरक धर्म के रूप में स्वीकृत है और श्रुतपरम्परा से तप-दान-पूजा आदि को श्रावकोचित कर्तव्य मानते हुए परम्परया मोक्ष-फल देने वाला तक माना गया है यही कारण था कि अनेकान्त दृष्टि से विचार करने वाले और दिगम्बर जैन धर्म पर दृढ़ आस्था रखने वाले मनीषी विद्वानों द्वारा तथाकथित सोनगढ़ से बहुप्रचारित

अध्यात्म को उग्र विरोध का सामना करना पड़ा था। फिर भी, सोनगढ़ की आधारभूत शैली और कहानजी के प्रति दृढ़ आस्था में कोई अन्तर नहीं पड़ा और वे दिगम्बर जैन धर्म की वीतरागता की आड़ में अपना उल्लू सीधा करते रहे तो दूसरी ओर समाज की स्थिति भी आश्चर्यजनक रूप से ढ़ाक के पत्ते के समान ही बनी रही।

वस्तुत: इस सोनगढ़ के जनक थे-कहानजी भाई, जो कहानजी स्वामी के रूप में विख्यात हुए और उनकी ख्याति का सबसे बड़ा कारण था उनका स्थानकवासी सम्प्रदाय से दिगम्बर परम्परा में आना। उनके इस परिवर्तन में दिगम्बर जैन परम्परा पोषक अनुयायियों ने सोचा था कि एक अन्य परम्परा में जन्में कहानजी को सद्बुद्धि आयी है और उनके साथ हजारों अनुयायी भी उनके अनुसर्ता बने हैं तो अच्छा ही है, परन्तु उन्हें क्या मालूम था कि इस पंथ परिवर्तन की आड़ में छद्म निहित स्वार्थ छुपा हुआ है। बात तो धीरे-धीरे तब खुली जब स्वार्थ की परतें एक के बाद एक खुलती गई और लोगों को तथा दिगम्बर जैन धर्म के मनीषी विद्वानों को अहसास होने लगा कि यह तो स्वयं को स्थापित एवं प्रचारित करने का महज हथकण्डा और कुचक्र है। परिणाम स्वरूप धर्म प्रेमियों और विद्वानों ने विरोध का परचम लहराया, परन्तु स्वर्णपुरी के वैभव और स्वार्थान्ध लोगों के निहित स्वार्थ बदस्तूर जारी रहे। कहानजी भाई के सौम्य व्यक्तित्व और आभामण्डल की चामत्कारिक छाया में परम्परा विघातक गतिविधियाँ दीमक की तरह पनपती रहीं। ऐसा भी नहीं था कि समाज सोया था। समाज के जागरूक लोगों ने यथावसर हर स्तर पर उनका विरोध किया। यहाँ तक कि जब उन्होंने अपने स्वयम्भू आयतनों में सूचना लगायी कि यहाँ मात्र सोनगढ़ और कहानपंथी आगम का ही स्वाध्याय किया जायगा तब उनके आगमों को (जो परम्परा विरोधी ही थे) जलसमाधि देने में भी लोग नहीं झिझके। जगह-जगह काले झण्डों से कहानजी भाई का स्वागत किया गया। इस प्रकार स्वयम्भू भावी तीर्थंकर और सद्गुरुदेव का आभामण्डल जब फीका पड़ने लगा तब भी उनके अनुयायियों-मुमुक्षुओं का यकीन पूर्ववत् बना रहा-उनकी दृष्टि में-

यकताँ हैं बेमिसाल हैं और लाजवाब हैं
हुश्ने सिफ़ाते दहर में खुद इन्तख्वाब हैं।
पीरी में भी नमूनये अहदे शबाब हैं
गोया कि कहान जी खुद आफ़ताब हैं।।

और इसी यकीन के चलते कहानजी भाई का स्वयम्भू भावी तीर्थंकर बनने और उसके निमित्त मायाजाल बुनने का तारतम्य भी चलता रहा। कालक्रमानुसार जब वे जसलोक से विदा हुए तो उनकी नश्वर देह तक को भुनाने का स्वर्णपुरी के सम्बद्ध लोगों ने मौका नहीं गंवाया और तब तक उनकी अन्तिम क्रिया नहीं होने दी जब तक कि उनके दूरस्थ भक्त मुमुक्षुगण उपस्थित नहीं हो गए। मुमुक्षुओं को अपने स्वयम्भू आफ़ताब के इस प्रकार के बिछुड़ने का गहरा सदमा पहुँचा था, परन्तु अध्यात्म पर नजर रखने वाले मुमुक्षु भाईयों ने उन्हें पुन: स्थापित करने का बीड़ा उठाया और **'सोनगढ़ मिशन'** के रूप में सुनियोजित योजना के तहत कार्य प्रारम्भ कर दिया गया। उस मिशन के सर्वाधिक जागरूक समर्पित प्रतिनिधि के रूप में डॉ. हुकुमचन्द भारिल्ल ने इसकी कमान संभाल ली। सत्ता की लड़ाई में, सोनगढ़ में जब उनकी दाल नहीं गली तो उन्होंने टोडरमल स्मारक जयपुर पर संतोष करना उचित समझा। शनै: शनै: उन्होंने प्रवचनकारों की टोलियाँ बनायीं, सस्ता साहित्य उपलब्ध कराया, मुमुक्षु स्वाध्याय मण्डलों का निर्माण कराकर समाज को खण्ड-खण्ड करने में भी उन्होंने अपनी शान समझी, परन्तु तीन-चार वर्ष पहले जयपुर में जब आचार्य विद्यासागरजी के शिष्य मुनिश्री सुधासागरजी का चातुर्मास हुआ तो उन्होंने कहानपंथ की स्वर्णिम काठ की हांड़ी का स्वरूप लोगों को दिखाया। अपनी विशिष्ट शैली और तत्त्व की गहराई को जब उन्होंने लोगों को समझाया तो **सोनगढ़ मिशन** की चूलें हिलने लगीं। परिणामस्वरूप यथावसर कूटनीति और राजनीति के माहिर समझे जाने वाले समर्पित प्रतिनिधि ने सशक्त आश्रय की तलाश प्रारम्भ कर दी। शीघ्र ही उनकी यह तलाश पूरी हुई और वे राष्ट्रसन्त आचार्यश्री विद्यानन्दजी के शरणागत हो गए। आचार्यश्री ने शरणागत की रक्षा को उचित समझा और अब वे शरणागत होकर ही अपनी गतिविधियों को सर-अंजाम दने में लगे हुए हैं।

हालांकि उनकी सोच में कोई अन्तर नहीं आया है और न ही उनकी श्रद्धा आचार्य के प्रति है। वे तो किसी तरह घुसना चाहते हैं। यही उनका एकमात्र मिशन है।

समय की गति बड़ी विचित्र होती है। दुर्भाग्य से 'अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत् परिषद्, जैसी संस्था को कुछ स्वार्थान्ध लोगों ने तोड़ने का षड्यन्त्र रचा तो मौका ताड़कर सोनगढ़ के इस प्रतिनिधि ने उसे हवा ही नहीं दी, वरन् उसके संरक्षक भी बन बैठे। वित्तीय संरक्षण के साथ-साथ अपने कम्यून का पूरा समर्थन भी उसे दिला दिया। इस प्रकार इस मंच के माध्यम से मुमुक्षुमण्डल और सोनगढ़ मिशन को ऊर्जा भी मिली और स्वार्थान्ध लोगों को संतुष्टि। अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत् परिषद् ने फिरोजाबाद अधिवेशन में सोनगढ़ के पाखण्ड का विरोध किया था और मूड़बिद्री के भट्टारक श्री चारूकीर्ति स्वामी ने सोनगढ़ द्वारा किए जा रहे प्रयासों को **'इतिहास की सबसे बड़ी डकैती'** की सज्ञा दी थी। प्रस्ताव निम्नलिखित था।

'अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद का यह पन्द्रहवां अधिवेशन दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट सोनगढ़ द्वारा तथाकथित भावी तीर्थकर 'सूर्यकीर्ति' के नाम से जो मूर्ति स्थापित की गयी है, उसे कपोल-कल्पित एवं दिगम्बर परम्परा तथा आगम के प्रतिकूल घोषित करती हुई, इस कार्य को मिथ्यात्त्व प्रेरित और मिथ्यात्त्ववर्द्धक मानती है तथा इसकी निन्दा करती है।'

प्रस्तावक-**नीरज जैन**

27.5.85 समर्थक-**लक्ष्मीचन्द जैन, भारतीय ज्ञानपीठ**

अनुमोदक-**भट्टारक चारुकीर्ति मूड़बिन्द्री**

भट्टारक चारुकीर्ति श्रवणबेलगोला

इस प्रस्ताव के समर्थक विद्वत् समूह के कतिपय लोगों का सोनगढ़ मिशन के प्रतिनिधि की गोद में बैठ जाना आश्चर्य का विषय है और आश्चर्य है कि गत दिनों उन्हीं विद्वत् समूह को श्रवणबेलगोला के भट्टारक जी द्वारा बहुमान देना और भी विस्मय उत्पन्न करता है। जबकि

सोनगढ़ मिशन के पर्दे के पीछे के एजेण्डे के विषय में प्राय: सब जानते और समझते हैं कि उनकी प्रवृत्तियां दिगम्बर जैर परम्परा विघातक हैं। उनके कुछ स्थल द्रष्टव्य हैं -

-'गुरुदेव के ही मुख से अनेक बार आनन्दकारी उद्‌गार सुने हैं कि मेरा यह भव तीर्थंकर प्रकृति का बंध होने से पूर्व का भव है, अर्थात् जब अगले मनुष्यभव में तीर्थंकर प्रकृति का बंध होगा, साक्षात् तीर्थंकर भगवान् के समवसरण में पूज्य बहिन श्री चम्पा बहिन ने यह बात सुनी है-
--आत्मधर्म मई 1976 जन्म जयन्ती पृ. 24

-मैं तीर्थंकर हूँ, ऐसा अन्तर में भासित होता था, परन्तु उसका अर्थ अब समझ में आया कि मैं तीर्थंकर का जीव हूँ, तुम्हारे (चम्पा बहिन के) निर्मल जाति-स्मरण ज्ञान से उस आभास का भेद आज स्पष्ट हुआ है।
-आत्मधर्म 1976 पृ. 20 (जन्मजयन्ती अंक)

-'परमपूज्य गुरुदेव का जीव गत पूर्वभव में जम्बूद्वीप के पूर्व विदेहक्षेत्र में राजकुमार था, चम्पा बहिन का गत पूर्व भव में देवराज नाम का श्रेष्ठी पुत्र था, यह राजकुमार भविष्य में धातकी खण्ड में सूर्यकीर्ति के नाम के तीर्थंकर होंगें, यह बात भगवान की दिव्यध्वनि में प्रत्यक्ष सुनी थी, यह जाति स्मरण में आया है।'
-आत्मधर्म पृष्ठ 10, जन्मजयन्ती बम्बई अंक

जिनवाणी के विषय में -

- श्री वीतराग की वाणी का श्रवण भी पर विषय और स्त्री भी परविषय है। ज्ञानी की किसी भी पर विषय में रुचि नहीं है, वीतराग की वाणी के श्रवण की भी भावना ज्ञानी की नहीं है, अज्ञानी जीव स्त्री को बुरा और भगवान् की वाणी को अच्छा मानकर पर-विषय में भेद करता है।
-मोक्षमार्ग प्रकाशक की किरण-प्रथम भाग तीसरा अध्याय पृ. 80

दिगम्बर साधुओं के विषय में -

- 'आजकल जगत में त्याग के नाम पर अन्धाधुन्धी चल रही है कुंजड़े काछी जैसों ने भटे-भाजी की तरह व्रतों का मूल्य कर दिया है।'

- कल के भिखारी ने आज वेष बदल लिया, स्त्री व कुटुम्ब को छोड़ दिया, तो क्या वह त्यागी हो गए? सबने मिलकर त्यागी मान लिया तो क्या बाह्य संयोग-वियोग से त्याग है। अन्तरंग में कुछ परिवर्तन हुआ है या नहीं, वह तो देख। बाहर से दिखाई देता है कि अहो कैसा त्यागी है, स्त्री नहीं, बच्चे नहीं, जंगल में रहता है। ऐसे बाह्य त्याग को देखकर बड़ा मानते हैं, लेकिन त्याग का क्या स्वरूप है यह नहीं समझते।

-समयसार प्रवचन पृष्ठ 13, 11

- श्रावक के 12 व्रत और मुनियों के 5 महाव्रत भी विकार हैं-

-समयसार प्रवचन भाग-3 पृष्ठ 12

तप एवं परीषह के सन्दर्भ में -

- लोग मानते हैं कि खाना पीना छोड़ दिया इसलिए तप हो गया और निर्जरा हो गई, उपवास करके शरीर को सुखा लिया इसलिए अन्दर धर्म हुआ होगा। इस प्रकार शरीर की दशा से धर्म को नापते हैं।

- बाह्य तप परीषह इत्यादि क्रियाओं से मानता है कि मैंने सहन किया है। इसलिए मुझमें धर्म होगा, किन्तु उसकी दृष्टि बाह्य में है इसलिए धर्म नहीं हो सकता। -समयसार प्रवचन पृ. 308

धर्म के सन्दर्भ में -

- जो शरीर की क्रिया से धर्म मानता है सो तो बिल्कुल बाह्य दृष्टि मिथ्यादृष्टि है, किन्तु यहाँ तो पुण्य से भी जो धर्म मानता है, सो भी मिथ्यादृष्टि है।

- जितनी परजीव की दया, दान, व्रत पूजा भक्ति इत्यादि की शुभ लगन या हिंसादिक की अशुभ लगन उठती है वह सब अधर्म भाव है।

-आत्मधर्म पृष्ठ 10, अंक 1, वर्ष 4

श्रावकोचित कर्तव्यों के प्रति -

- कोई यह मत मानते हैं कि दान-पूजा तथा यात्रा आदि से धर्म होता है और शरीर की क्रिया से धर्म होता है यह मान्यता मिथ्या है।

-आत्मधर्म अंक 5, वर्ष 3

तीर्थयात्रा के विषय में -

- सम्मेदशिखर, गिरनार आदि की यात्रा से धर्म होता है, ऐसा मानने वाला मिथ्यादृष्टि है। -मोक्षमार्ग प्रकाशक किरण पृ. 170

शुभ-भावों के विषय में -

- दान पूजा आदि शुभ भावों से धर्म मानना त्रिकाल मिथ्यात्त्व है।
-समयसार प्रवचन भाग 2 पृष्ठ 6

शास्त्रों के विषय में -

- महाव्रत, दान, दया आदि का प्ररूपण करने वाले शास्त्र कुशास्त्र हैं।
-छहढाला ढाला-2 पद्य-13 (सोनगढ़ प्रकाशित)

ये कुछ उदाहरण हैं-कहानपंथ के, जिनमें परम्परागत आचार्यो द्वारा स्थापित चिरन्तन शाश्वत मूल्यों को नेस्तनाबूद करने की कोशिश की गई है। कहानपंथ के विषय में आचार्यश्री विद्यानन्द जी ने जो सामयिक टिप्पणी की थी और 'दिगम्बर जैन साहित्य में विकार' पुस्तक में कहानपंथ के विषय में पोस्टमार्टम करते हुए श्रावकजनों का मार्ग प्रशस्त किया था, वह आज भी सामयिक है। उन्होंने लिखा था-

''ये लोग निश्चय एकान्तवादी मिथ्यादृष्टि हैं। इनके शास्त्र कल्याणकारी न होकर घातक कुशास्त्र हैं। उनका पठन-पाठन क्या, अवलोकन तक नहीं करना चाहिए। उन्हें स्वाध्याय मण्डलों में तथा जिनमंदिरों में नहीं रखना चाहिए। कहानजी ने विकृत साहित्य लिखकर दण्डनीय अपराध किया है और समाज में भ्रामक स्थिति पैदा कर दी है। सोनगढ़ से प्रकाशित साहित्य आर्ष परम्परा के विरुद्ध है।''

-मुनि विद्यानन्द

(सोनगढ समीक्षा पृ 56-57)

उस समय अनेक आचार्यो ने सोनगढ़ मिशन के तहत चल रहे कार्यो का पुरजोर विरोध किया था। आचार्य देशभूषणजी ने ऐसे साहित्य को दिगम्बर जैन मन्दिर से बहिष्कृत किए जाने को उचित ठहराया था अन्य

आचार्यो ने भी सोनगढ़ तथा कहानजी प्रवर्तित साहित्य को धर्म का मूलोच्छेद करने वाला निरूपित किया था। इतना ही नहीं, मनीषी विद्वान् श्री जुगलकिशोर जी मुख्तार जी ने कहानजी मत के उदय को जैनधर्म और जैन समाज के लिए अभिशाप मानते हुए आशंका व्यक्त की थी कि यह किसी चौथे सम्प्रदाय की नींव रखी जा रही है-उन्होंने अनेकान्त में लिखा था-

आचार्य समन्तभद्र और कुन्दकुन्द का अपमान

कहानजी महाराज के प्रवचन बराबर एकान्त की ओर ढले चले जा रहे हैं। इससे अनेक विद्वानों का आपके विषय में अब यह ख्याल हो चला है कि आप वास्तव में कुन्दकुन्दाचार्य को नहीं मानते और न स्वामी समन्तभद्र जैसे दूसरे महान् जैनाचार्यो को ही वस्तुतः मान्य करते हैं। क्योंकि उनमें से कोई भी आचार्य निश्चय तथा व्यवहार दोनों में किसी एक ही नय के एकान्त पक्षपाती नहीं हुए हैं, बल्कि दोनों नयों का परस्पर सापेक्ष, अविनाभाव सम्बन्ध को लिए हुए, एक दूसरे के मित्र के रूप में मानते और प्रतिपादन करते आये हैं जबकि कहानजी महाराज की नीति कुछ दूसरी ही जान पड़ती है।

कहानजी महाराज अपने प्रवचनों में निश्चय अथवा द्रव्यार्थिक नय के इतने पक्षपाती बन जाते हैं कि दूसरे नय के वक्तव्य का विरोध तक कर बैठते हैं। उसे शत्रु के वक्तव्य रूप में चित्रित करते हुए 'अधर्म' तक कहने के लिए उतारू हो जाते हैं। यह विरोध ही उनकी सर्वथा एकान्तता को लक्षित कराता है और उन्हें श्री कुन्दकुन्द और स्वामी समन्तभद्र जैसे महान् आचार्यो के उपासकों की कोटि से निकालकर अलग करता है, अथवा उनके वैसा होने का सन्देह पैदा करता है। इसी कारण श्री कहानजी का अपनी कार्यसिद्धि के लिए कुन्दकुन्दादि की दुहाई देना प्रायः वैसा ही समझा जाने लगा है, जैसा कि कांग्रेस सरकार गांधीजी के विषय में कर रही है। वह जगह-जगह गांधी जी की दुहाई देकर और उनका नाम ले लेकर, अपना काम तो निकालती है, परन्तु गांधीजी के सिद्धान्तों को वस्तुतः मानती हुई नजर नहीं आती।

जैन समाज में यह चौथा सम्प्रदाय -

कहानजी स्वामी और उनके अनुयायियों की प्रवृत्तियों को देखकर कुछ लोगों को यह भी आशंका होने लगी है कि कहीं जैन समाज में यह चौथा सम्प्रदाय तो कायम होने नहीं जा रहा है? यह तो दिगम्बर, श्वेताम्बर और स्थानकवासी सम्प्रदायों की कुछ-कुछ अपनी बातों को लेकर तीनों के मूल में ही कुठाराघात करेगा और उन्हें अध्यात्मिकता के एकान्त गर्त में धकेलकर, एकान्त मिथ्यादृष्टि बनाने में यत्नशील होगा। श्रावक तथा मुनिधर्म के रूप में सच्चारित्र और शुभ-भावों का उत्थापन कर लोगों को केवल आत्मार्थी बनाने की चेष्टा में संलग्न रहेगा। उनके द्वारा शुद्धात्मा के गीत गाये जायेंगे, परन्तु शुद्धात्मा तक पहुँचने का मार्ग पास में न होने से लोग 'इतो भ्रष्टास्ततो भ्रष्टा:' की दशा को प्राप्त होंगे। उन्हें अनाचार का डर नहीं रहेगा, वे समझेंगे कि जब आत्मा एकान्तत: अबद्ध है, सर्व प्रकार के कर्मबंधनों से रहित शुद्ध-बुद्ध है, और उस पर वस्तुत: किसी भी कर्म का कोई असर नहीं होता, तब बंधन से छूटने तथा मुक्ति प्राप्त करने का यत्न भी कैसा?

पापकर्म जब आत्मा का कुछ भी बिगाड़ नहीं कर सकते तब उनमें प्रवृत्त लेने में भय कौन करेगा? पाप और पुण्य दोनों समान, दोनों ही अधर्म ठहरेंगे तब पुण्य जैसे कष्टसाध्य कार्य में कौन प्रवृत्त होना चाहेगा? **इस तरह यह चौथा सम्प्रदाय किसी दिन पिछले तीनों सम्प्रदायों का हितशत्रु बनकर, भारी संघर्ष उत्पन्न करेगा और जैन समाज को वह हानि पहुँचायेगा जो अब तक तीनों सम्प्रदायों के संघर्ष द्वारा नहीं पहुँच सकी है, क्योंकि तीनों में प्राय: कुछ ऊपरी बातों में ही संघर्ष है, भीतरी सिद्धान्त की बातों में नहीं। इस चौथे सम्प्रदाय द्वारा तो जिनशासन का मूलरूप ही परिवर्तित हो जायेगा। वह अनेकान्त के रूप में न रहकर आध्यात्मिक एकान्त का रूप धारण करने के लिए बाध्य होगा।** -अनेकान्त/जुलाई 1954/पृ. 8

आदरणीय मुख्त्यार सा. के उपर्युक्त आकलन को आज के परिप्रेक्ष्य में परखा जाय तो हम पाते हैं कि उनका आकलन कितना सटीक था। अब चौथा सम्प्रदाय हकीकत के रूप में सामने है। इस सम्प्रदाय ने अपना रबड़

का तम्बू का फैलाव प्रारम्भ कर दिया है और उनकी यह गर्वोक्ति भी है कि आगामी 10 वर्ष में सम्पूर्ण दिल्ली में कहान मत का वर्चस्व होगा। इसमें दो राय नहीं कि -

- दिगम्बर जैन महासभा, दि. जैन महासमिति विद्वत् परिषद्, शास्त्री परिषद् आदि के विरोध के बावजूद कहानपंथ ने अपना विस्तार किया है, फिर भी अब तक उन्हें समाज का भय होता था, परन्तु अब तो समाज ही उन्हें सिर आंखों पर बैठाने को पलक पांवड़े बिछाकर तैयार बैठी दिखती है। समाज की विडम्बना ही है कि धार्मिक अनुष्ठानों के आडम्बर पूर्ण आयोजन में व्यय तो उसे सह्य है, परन्तु परम्परागत विद्वान् को देना असह्य रहता है और इस मनोवृत्ति का सोनगढ़ मिशन के संचालक प्रतिनिधि ने पूरा लाभ उठाया है। अर्थाभाव तो है नहीं सो उनके पण्डित/प्रवचनकार निःशुल्क सेवायें देकर समाज के लिए श्रद्धास्पद बन जाते हैं। यद्यपि उनका वित्त-पोषण ट्रस्ट के माध्यम से हो जाता है। भले ही, इसकी आड़ में लाखों का कहान साहित्य आपको परोसकर चले जायें। इस पर गम्भीर चिन्तन की आवश्यकता है।

इसके अतिरिक्त इस तथाकथित चौथे सम्प्रदाय के विषय में मेरठ संसन जज का निर्णय द्रष्टव्य है जिसमें मान्य किया है कि "**कांजी स्वामी दिगम्बर मुनि भी नहीं थे।**" अतः स्पष्ट है कि कांजीपंथी दिगम्बर जैनधर्मी नहीं हैं।

जहाँ दिगम्बर जैन समाज की सभी शीर्षस्थ संस्थाओं ने कहान परम्परा को नकारा हो, विद्वत्समुदाय ने उसके कृत्यों को आगम परम्परा विरोधी घोषित किया हो और आचार्यो ने पूरी तरह अस्वीकृत कर दिया हो, वहीं भ्रमित जैन समाज के कतिपय कर्णधारों ने भगवान् महावीर 2600वें जन्म महोत्सव के प्रसंग में उस सोनगढ़ मिशन के प्रतिनिधि का सम्मान करने का निश्चय किया है। वह भी दिगम्बर जैन साधु सान्निध्य में उस सार्वजनिक मंच से, जिसकी एक सशक्त और प्रशस्त परम्परा रही हो।

उक्त मंच से भारिल्ल साहब का सम्मान होने का संकेत प्राप्त कर आश्चर्य हो रहा है। कभी इस मंच की ओर दिल्ली की दिगम्बर जैन

समाज और पूरा देश देखा करता था। क्या आयोजकों ने इस पर विचार करने का कष्ट उठाया है कि इस सम्मान से पूरे देश की दिगम्बर जैन समाज को क्या संकेत और संदेश जायेंगे? हमारा दृढ़ मत है कि कहानजी पंथ पर यह ऐसी मोहर सिद्ध होगी, जो पूरे देश में प्रमाण के रूप में प्रस्तुत की जायेगी। आश्चर्य इस बात का भी है कि अनेक परम्परानिष्ठ और तत्त्ववेत्ताओं के रहते हुए भी यह सम्मान की योजना बनी और जहाँ इसकी फलश्रुति के रूप में निश्चित ही **भावी तीर्थंकर** यह देख और जानकर प्रमुदित होंगे कि जो कार्य वे अधूरा छोड़ आए थे उसे उनका **सोनगढ़ मिशन का प्रतिनिधि गणधर** के रूप में पूरा कर रहा है वहीं दिल्ली की दिगम्बर जैन समाज को यह गौरव भी मिलेगा कि उसने एक ऐसी परम्परा के मार्ग को प्रशस्त किया जिसके लिए कहानपंथी चार-पांच दशकों से जूझ रहे थे और जो दिगम्बर परम्परा के लिए वास्तव में घातक था।

इस प्रकार विगत-दशकों में दिगम्बर जैन धर्म के लिए सोनगढ का उदय एक ऐसे जख्म के रूप में उभर कर आया है, जिसने जिनशासन के मूल को ही समाप्त करने का उपक्रम किया है। स्वयम्भू तीर्थकर के बाद चम्पा बहिन और उसके बाद सोनगढ़ मिशन के प्रतिनिधि के माध्यम से चलने वाले कूटनीतिक चालों से जैनागम को जो आघात पहुँचा है उसकी भरपाई तो क्रमबद्ध पर्याय से नहीं होने वाली। अब भी, यदि लोग नहीं चेते तो दिगम्बर जैन धर्म के मूल स्वरूप का भावी रूप निश्चित रूप से ऐकान्तिक अध्यात्म परक होगा और चारित्र-जो जैन धर्म का प्राण है-उसकी घोर उपेक्षा होगी। अस्तु, इस **सोनगढ़ (कांजीपंथ) के नासूर** को फैलने से पहले ही आप्रेशन की सक्षम पहल होनी चाहिए तभी भगवान् महावीर के 2600वे जन्मोत्सव को मनाने की सार्थकता होगी।

कहीं ऐसा न हो कि भावावेश में हम अपने विवेक को भूल जायें और आने वाली पीढ़ियां हमें क्षमा न करें क्योंकि इस भूल का फिर निराकरण चाहकर भी नहीं कर सकेंगे।

-261/3, पटेल नगर, नई मण्डी, मुजफ्फरनगर-251001

भगवान् महावीर की अहिंसा के निहितार्थ

- डॉ. सुरेन्द्र कुमार जैन 'भारती'

आज विज्ञान को श्रेय देने की होड़ है; किन्तु विज्ञान ने जो दिया वह हिंसा का कारक और कारण अधिक है, अहिंसा का कम। सबसे बड़ा विज्ञान तो अहिंसा का विज्ञान है, जो सबको सुख देता है और सबको सुखी रहने देता है। प्रसिद्ध फ्रेंच लेखक रोम्या रोला ने लिखा है कि- "The Rishis who discover the Law of Non Violence amongst the violence have greater genious than Newton and they are greater warrior the Wellington." अर्थात् जिन ऋषियों ने हिंसा के सिद्धान्त में से अहिंसा के सिद्धान्त का आविष्कार किया वे न्यूटन से बड़े वैज्ञानिक एवं बेलिंगटन से बड़े योद्धा थे। इस दृष्टि से संसार के सुपर वैज्ञानिक एवं योद्धा भगवान् महावीर ठहरते हैं, जिन्होंने हिंसक वातावरण और हिंसकों की बहुलता की परवाह न करते हुए अहिंसा को धर्म के रूप में प्रतिष्ठित किया। उनका यह निषेधात्मक स्वर सबसे बड़ा विधेयात्मक स्वर बन गया, जिसने विगत लगभग 2600 वर्षों में जन-जीवन, पशु-प्रकृति, जलचर, नभचर, भूचर, सभी के अस्तित्व की रक्षा सुनिश्चित की। क्रूर आततायियों की हिंसा भी इस स्वर को दबा नहीं पायी।

भगवान् महावीर ने कहा कि प्रमाद के वशीभूत होकर प्राणघात करना हिंसा है-"प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा।" यह हिंसा दो प्रकार की कही गयी है-(1) द्रव्यहिंसा (2) भावहिंसा। किसी जीव का शरीर से घात कर देना, मार डालना या उसके अंग-उपांगों को पीड़ा पहुंचाना द्रव्य हिंसा है, इसे कायिकी हिंसा भी कहते हैं। अपने मन से किसी के प्राण हरने, दुःख पहुंचाने, यातना देने का विचार करना भाव हिंसा है। हिंसा के चार अन्य भेद भी कहे गये हैं-(1) आरम्भी हिंसा (2) उद्योगी हिंसा (3) संकल्पी हिंसा (4) विरोधी हिंसा। इनमें से गृहस्थ आरम्भी हिंसा गृहस्थोचित कार्यों की अनिवार्यता के कारण बचा नहीं पाता, उद्योगी हिंसा से भरसक बचने का प्रयत्न करता है, विरोधी हिंसा कभी-कभार मजबूरी

में करता है, किन्तु संकल्पी हिंसा का पूर्णतया त्याग कर सद्गृहस्थ बनता है।

प्राय: द्रव्यहिंसा कम होती है, किन्तु भावहिंसा अधिक होती है क्योंकि उसका सम्बन्ध विचारों से है। कहा भी है-

स्वयमेवात्मनाऽऽत्मानं हिनस्त्यात्मा प्रमादवान्।
पूर्वं प्राण्यन्तराणां तु पश्चात्स्याद्वा न वधः॥

अर्थात् प्रमादी मनुष्य अपने हिंसात्मक भाव के द्वारा आप ही अपने की हिंसा पहले ही कर डालता है, उसके बाद दूसरे प्राणियों का उसके द्वारा वध हो या न हो। अन्यत्र भी कहा है-

मरदु व जियदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा।
पयदस्स णत्थि बन्धो हिंसामित्तेण समिदस्स॥

अर्थात् जीव मरे या न मरे अयत्नाचारी के नियम से हिंसा होती है। यदि कोई संयमी अपने आचरण के लिए प्रयत्नशील है, जो (द्रव्य) हिंसा मात्र से उसे कर्मबन्ध नहीं होता।

उक्त स्थिति को देखते हुए सभी को भाव हिंसा से बचना चाहिए। अहिंसा का उद्देश्य तो जीवदया है। कहा है कि-

यस्य जीवदया नास्ति तस्य सच्चरितं कुतः।
न हि भूतद्रुहां कापि क्रिया श्रेयस्करी भवेत्॥

अर्थात् जिसके हृदय में जीवों की दया नहीं है उसके सच्चरित्र कहां से हो सकता है? जो जीवों से द्रोह करने वाले लोग हैं, उनकी कोई भी क्रिया कल्याणकारी नहीं होती।

एक की अल्प हिंसा, हिंसा के तीव्रभाव होने के कारण बहुत अधिक पापरूप फल देती है, जबकि महाहिंसा भी हिंसा के मन्दभाव होने के कारण परिपाक के समय न्यून फल देने वाली होती है। आचार्य कहते हैं-

एकस्य सैव तीव्रं दिशतिफलं सैव मन्दमन्यस्य।
व्रजति सहकारिणोरपि हिंसा वैचित्र्यमत्र फलकाले॥

अर्थात् एक-सी ही हिंसा एक को तीव्र फल देती है और दूसरे को मंदफल। जिन दो मनुष्यों ने मिलकर हिंसा की हो उनके फल में समानता

नहीं, अपितु विचित्रता देखी जाती है और इसका कारण भावों की विषमता है।

द्रव्य हिंसा और भाव हिंसा को इस रूप में भी अभिव्यक्त किया गया है -

उच्चालिदम्मि पादे इरियासमिदस्स णिग्गमट्ठाणे।
आवादेज्ज कुलिंगो मरेज्ज तं जोगमासेज्ज।।
ण हि तस्स तण्णिमित्तो बंधो सुहुमो विदेसिदो समये।
जम्हा सो अपमत्तो सा उ पमाउ त्ति णिद्दिट्ठा।।

-गमन सम्बन्धी नियमों का सावधानी से पालन करने वाले संयमी ने जब अपना पैर उठाकर रखा, तभी उसके नीचे कोई जीव-जन्तु चपेट में आकर मर गया, किन्तु इससे शास्त्रानुसार उस संयमी को लेशमात्र भी कर्मबन्धान नहीं हुआ; क्योंकि संयमी ने प्रमाद नहीं किया; और हिंसा तो प्रमाद से ही होती है।

भगवान् महावीर ने अहिंसा की शक्ति को पहचाना। उन्हीं की भावनानुसार महात्मा गांधी कहा करते थे कि-''अहिंसा कायर का नहीं, बलवान का शस्त्र है।'' अहिंसा का लक्ष्य शान्ति की स्थापना है चाहे वह आन्तरिक हो या बाह्य। संसार में अनेक प्रकार के धर्म प्रचलित हैं, किन्तु उन सब धर्मो का यदि लघुत्तम निकाला जाय तो वह अहिंसा ही होगा; भले ही वे इसे स्थूल रूप में मानते हों या सूक्ष्म रूप में। मनुष्य तो क्या तिर्यञ्च भी अहिंसा को स्वीकारते हैं। यहां तक कि क्रूरतम प्राणियों में भी अहिंसक भावना विद्यमान होती है। बिल्ली और शेरनी भी अपने बच्चों को नहीं खाते। अहिंसा कायरता नहीं है। डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन के अनुसार-''यह जमाना हथियार बन्द कायरता का है। कायरता ने अपने हाथ में हथियार इसलिए रखे हैं कि वह दूसरों के हमलों से डरती है और स्वयं हथियार इसलिए नहीं चलाती क्योंकि उसकी हिम्मत नहीं होती। जो डर के मारे हथियार चला नहीं पाती, उसी का नाम कायरता है। इस कायरता से इंसान को उबारने वाली एक ही शक्ति है और उसका नाम है-अहिंसा।''

हिंसा किसी भी समस्या का समाधान न कभी थी, न कभी हो सकती है। कभी-कभी हिंसा में हो रही वृद्धि देखकर व्यक्ति परेशान हो उठता है, किन्तु वास्तविकता में हिंसा हार रही है। 'हिरोशिमा' और 'नागासाकी'

पर हुआ अणुबम का प्रहार भी जापान को नष्ट नहीं कर पाया। आज तो हिंसक लोगों की भी हिंसा से आस्था उठ चुकी है। वे भी शान्ति की तलाश में अहिंसा का पक्ष लेते हुए संवाद स्थापित कर रहे हैं। हिंसा का विकल्प अहिंसा ही है। स्वमत की प्रशंसा और दूसरों के मत की निन्दा से हिंसा जन्मती है। शास्त्रकार हिंसा को नीचगति और अहिंसा को उच्चगति का कारण मानते हैं।

वस्तुत: अहिंसा एक जीवन शैली है जो कहती है-तुम भी जियो और मुझे भी जीने दो। इसी में सबका भला है, समाज का हित भी इससे सुरक्षित होता है। डॉ. राजेन्द्र प्रसाद ने अहिंसा की आवश्यकता प्रतिपादित की और इस सम्बन्ध में जैनों का आह्वान करते हुए कहा कि-''जैनधर्म ने संसार को अहिंसा की शिक्षा दी है। किसी दूसरे धर्म ने अहिंसा की मर्यादा यहां तक नहीं पहुंचायी। आज संसार को अहिंसा की आवश्यकता महसूस हो रही है; क्योंकि उसने हिंसा के नग्न ताण्डव को देखा है और आप लोग डर रहे है; क्योंकि हिंसा के साधन आज इतने बढ़ते जा रहे हैं और इतने उग्र होते जा रहे हैं कि युद्ध में किसी के जीतने या हारने की बात इतने महत्त्व की नहीं होती जितनी किसी देश या जाति के सभी लोगों को केवल निस्सहाय बना देने की ही नहीं, पर जीवन के मामूली सामान से भी वंचित कर देने की होती है। जिन्होंने अहिंसा के मर्म को समझा है, वे ही इस अंधकार में कोई रास्ता निकाल सकते हैं। जैनियों का आज मनुष्य समाज के प्रति सबसे बड़ा कर्त्तव्य यह है कि वह इस पर ध्यान दें और कोई रास्ता ढूंढ़ निकालें।''

आज जबकि चहुंओर मोहभंग का दौर चल रहा है। प्रभूत धन भी सुख नहीं दे पा रहा है; तब गृहस्थ जीवन को अहिंसा का संबल देकर ही बचाया जा सकता है। संयम, अनुशासन, निर्लोभता, श्रमशीलता और स्वावलम्बन अहिंसा के आधार हैं। सुख की चाह रखने वाला इनसे बच नहीं सकता। संसार में मार्ग बहुत हैं किन्तु सन्मार्ग तो वही है जिसमें तुच्छ से तुच्छ प्राणी की रक्षा का ध्यान रखा जाये। अहिंसक व्यक्ति यही ध्यान रखता है। अत: अहिंसा ही परम धर्म है।

प्रधान सम्पादक-पार्श्वज्योति
एल-65, न्यू इन्दिरा नगर, बुरहानपुर-450331 (म.प्र.)
फोन 07325-57662

कटोरी सीधी या उलटी

- पूर्व न्यायमूर्ति एम.एल. जैन

लोक शिखर तनुवात वलय महँ संठियो
धर्मद्रव्यबिन गमन न जिहिं आगे कियो। -रूपचन्द

सिद्ध जीव लोकान्त में तनुवातवलय में स्थित हैं।

अष्ट करम करि नष्टअष्ट गुण पायकैं
अष्टम वसुधा माहिं विराजे जायकैं -हीरा

सिद्ध जीव अष्टम वसुधा में जाते हैं।

सिद्ध आत्माएं जहां रहती है क्या उसका सही नाम सिद्ध शिला है? सिद्ध शिला का आकार क्या है? पूजा में कैसा होना चाहिए उसका प्रतीक? आचार्य विद्यासागर जी ने प्रचलित अर्द्धचन्द्रकार प्रतीक È के विपरीत विचार प्रगट करके इसका आकार छत्र की भांति Ç इस प्रकार होना तय कर दिया है। इसी सूत्र को पकड़ कर श्री रतन लाल जी बैनाड़ा ने जैन गजट 18.2.1999 पृ. 5 कालम 1-3 में बताया कि इसका प्रतीक Ç ही शास्त्र सम्मत है, किन्तु अब शोधादर्श 41/156 पर ब्र. श्री अशोक जैन ने अफसोस जाहिर किया है कि पुराना È प्रतीक लोग छोड़ने लगे हैं। इस दुविधा की हालत में मैं भी कुछ निवेदन करना चाहता हूँ -

1. मोक्ष शिला, सिद्ध शिला, निर्वाण शिला, इस नाम की शिला यदि कोई है, तो यह मध्य लोक की वह शिला है, जिस पर तीर्थकरों ने बैठकर या खड़े रहकर अपनी अंतिम तपस्या में लीन होकर शरीर त्याग कर मोक्ष की ओर प्रयाण किया था। इसका जिकर पुराणों में इस प्रकार है -

गुणभद्र (803-895) के उत्तर पुराण सर्ग 54/269-272 में वर्णन है कि भगवान् चन्द्रप्रभ सारे आर्य देशों में तीर्थ प्रवर्तन कर सम्मेद शिखर पहुंचे और वहां -

विहारमुपसंहृत्य मासं सिद्धशिलातले।
प्रतिमा योग मासाद्य सहस्त्रमुनिभिस्सह॥ -54/270

अयोग पदमासाद्य तुर्य शुक्लेन निर्रहरन्।
शेष कर्माणि निर्लुप्त शरीर परमोऽभवत्॥ -54/272

वे विहार बंद करके एक हजार मुनियों के साथ सिद्ध शिला पर स्थित होकर प्रतिमा योग धारण कर चौथे शुक्लध्यान से अयोग केवली पद प्राप्त करके शेष कर्मो को नष्ट कर निर्लुप्त शरीर परम (सिद्ध) हो गए।

जिनसेन (778-828) के हरिवंश पुराण सर्ग 60/36-37 के अनुसार धीवर पुत्री पूतिगन्धा राजगृह गई और

अत्र सिद्धशिलां वन्द्यां वन्दित्वा च स्थिता सती।
कृत्वा नील गुहायां सा सती सल्लेखनां मृता॥

यहा वन्दना करने योग्य सिद्ध शिला थी उसकी वन्दना कर नीलगुहा में रहने लगी और सल्लेखना करके मृत्यु को प्राप्त हुई।

इसी पुराण के सर्ग 65/14 में लिखा है कि -

उर्जयन्तगिरौ वज्री वज्रेणालिख्य पावनीम्।
लोके सिद्धशिलां चक्रे जिन लक्षण पंक्तिभिः॥

गिरनार पर्वत पर इन्द्र ने वज्र से उकेर कर इस लोक में पवित्र सिद्ध शिला का निर्माण किया और उसे जिनेन्द्र के लक्षणों से युक्त किया।

पद्म पुराण सर्ग 48/186-222 मे वर्णन है कि अनंतवीर्य मुनि ने रावण को बताया कि-

यो निर्वाण शिलां पुण्यामतुलामर्चितां सुरैः।
समुद्यतां स ते मृत्योः कारणत्वं गमिष्यति॥ -186

जो देवों द्वारा पूजित अनुपम पुण्यमयी निर्वाण शिला को उठावेगा वही तेरी मृत्यु का कारण होगा। यह वृतान्त सुनकर राम लक्ष्मण आदि उस शिला के दर्शन के लिए गए और वहां वे सब वन्दना करने लगे कि-

अस्या च ये गता सिद्धिं शिलायां शीलधारिणः।
उपगीताः पुराणेषु सर्व कर्म विवर्जिताः॥ -208

शील को धारण करने वाले जो भी पुरुष इस सिद्ध शिला से सिद्धि को प्राप्त हुए हैं, उनकी हर बार-बार वन्दना करते हैं।

तभी देवों ने कहा -

शिलायामिह ये सिद्धा ये चानये हतकिल्विषाः।
ये विघ्न सूदना सर्वे भवन्तु तव मंगलम्॥ -211

इस शिला से जो सिद्ध हुए हैं तथा अन्य जिन पुरुषों ने पाप कर्म नष्ट किए हैं वे सब विघ्नसूदन तुम्हारा मंगल करें।

तब लक्ष्मण ने उस शिला को हिला दिया। वे फिर किष्किंधा आए और कहते रहे कि -

सा निर्वाणशिला येन चालयिता समुद्धृता।
उत्सादयत्यं क्षिप्रं रावणं नात्र सं शयः॥ -222

जिसने उस निर्वाण शिला को चलाकर उठा लिया ऐसा वह (लक्ष्मण) शीघ्र ही रावण को मारेगा इसमें संशय नहीं है।

हरिवंश पुराण में सर्ग 5/347-348 में पाण्डुक, पाण्डुकम्बला, रक्ता व रक्तकम्बला ये चार शिलाएं बताई हैं जो अर्द्धचन्द्राकार हैं। तो फिर सिद्धशिला (?) भी वैसी ही होगी।

पाण्डुक शिला के बारे में वीर वर्धमान चरित अधिकार 8/118-119 में कहा भी है कि वह पाण्डुक शिला अर्द्धचन्द्राकार है और ईषत्प्राग्भार आठवीं पृथ्वी के समान शोभती है।

2. मनीषी रतनलाल बैनाड़ा के द्वारा दिए गये उद्धरणों को भी यदि गौर से पढ़ा जाए तो जाहिर होता है कि त्रिलोकसार (गाथा 557) के अनुसार उर्ध्व लोक के अन्त में ईपत्प्राग्भार आठवीं पृथ्वी है -

तम्मज्झे रुप्पमयं छत्तायारं मणुस्स महिवासं।
सिद्धक्खेत्तं मज्झडवेहं कमहीण बेहुलियं॥ -557

उत्ताण ट्ठियमंते पत्तं व तणु तदवरि तणु वादे।
अट्ठगुणड्ढाः सिद्धा तिष्ठिन्ति अणंत सुहतित्ता॥

इसकी टीका में उत्तान छत्र का उत्तान स्थित पात्र या चषक के समान ऐसा अर्थ किया है। इसके मध्य में रजत छत्राकार सिद्धक्षेत्र स्थित है।

कहां है यहां सिद्धशिला का नाम?

इसी प्रकार तिलोयपण्णत्ति 8/657 में -

उत्ताण धवल छत्तोवसाणं संठाण सुदरं एदं।
पंचात्तालं जोयण लक्खाणि वाससंजुंत्तं।

यह क्षेत्र (न कि शिला) 45 लाख योजन प्रमाण उत्तान धवल छत्र के सदृश है और सुंदर है।

हरिवंश पुराण 6/128 में -

सोत्तनित महावृत श्वेत छत्रोपमाकृतिः

विशाल गोल सफेद उत्तनित छत्र की आकृति की आठवीं पृथ्वी है-कहां है यहां शिला?

सिद्धान्तसार दीपक 16/4 व प्रतिक्रमण ग्रंथत्रयी पृष्ठ 28 पंक्ति में अवश्य ही ईषत्प्राग्भार (आठवीं भूमि) में बीच में मोक्ष शिला होना बताया गया है। कहां है? यहां भी सिद्ध शिला का नाम?

जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष भाग 3 पृ. 323-324 पर सिद्ध लोक का वर्णन है न कि सिद्ध शिला का।

इस सिद्ध क्षेत्र के सिलसिले में क्षपणासार गाथा 258 व जय धवला पु. 16 पृ. 193 दोनों में भी सिद्ध शिला का नाम नहीं है। ईषत् प्राग्भार व सुधा का वर्णन है।

भगवान् वृषभ देव के निर्वाण के बारे में आदि पुराण 47/341 लिखता है।

शरीर त्रितयापाये प्राप्य सिद्धत्व पर्ययम्।
निजाष्टगुण सम्पूर्णः क्षणाप्त तनुवातकः॥

तीनों शरीरों के नाश होने से सिद्धत्व पर्याय प्राप्त कर वे निज के आठ गुणों से युक्त हो क्षण भर में ही तनुवातवलय में जा पहुंचे।

मल्लिनाथ के निर्वाण का वर्णन उत्तर पुराण 66/62 में यों है-

फाल्गुणो ज्जवल पंचम्यां तनुवातं समाश्रयत्

फाल्गुन सुदी पंचमी के दिन तनुवात (वलय) में स्थान ग्रहण कर लिया। यहां भी सिद्ध शिला का जिकर नहीं है।

3. तिलोयपण्णत्ति 8/657, त्रिलोकसार गाथा 557 में 'शिला' का प्रयोग नहीं है, 'क्षेत्र' का प्रयोग है यह भ्रम शायद इसलिए पैदा हुआ है कि तीर्थंकरों का जन्माभिषेक, दीक्षा व ज्ञान आदि कल्याणक बहुधा शिलाओं पर ही हुए हैं।

4. सिद्ध क्षेत्र तो मध्य लोक में अनेक हैं कई तीर्थस्थल कहे जाते हैं पर स्वर्गों के अंतिम छोर के बाद कोई सिद्ध लोक स्थित है, जहां आत्माएं निवास करती हैं। यह तीन लोक के अग्रभाग में वर्तुला कार 45 लाख योजन लम्बा व 12 योजन चौड़ा बताया जाता है वीर वर्धमान चरित 11/109। इस सिद्ध लोक/सिद्धक्षेत्र के विषय में तिलोयपण्णत्ति में बताया है कि यह आठवीं पृथ्वी धनोदधिवात, घनवात और तनुवात इस तीन वायुओं से युक्त है। इसके मध्य भाग में चांदी व सुवर्ण के सदृश और नाना रत्नों से परिपूर्ण ईषत्प्राग्भार क्षेत्र है -

एदाए बहु मज्झे खेत्तं णामेण ईसिपब्भारं
अजुण्ण सवण्ण सरिसं णाणारयणेहि परिपुण्णं। ति.प. 8/556

तिलोय पण्णत्ति (9/3) के अनुसार पृथ्वी के ऊपर 7050 धनुष जाकर सिद्धों का आवास है। यहां पर -

जावद्दं गंदव्वं तावं गंतूण लोय सिहरम्भि।
चेट्ठंति सव्व सिद्धा पुह पुह गयसित्थमूसगब्भणिहा॥ 9-14

जितना जाने योग्य है उतना जाकर लोक शिखर पर सब सिद्ध पृथक् पृथक् मोम से रहित मूषक के अभ्यन्तर आकाश के (याने चूहे के पेट के) सदृश स्थित हो जाते हैं। (चूहे से तुलना करना कुछ अजीब तो लग रहा है।)

इस सब का सार यह जान पड़ता है कि तनुवात वलय के मध्यभाग में नाना रत्नों से परिपूर्ण ईषत्प्राग्भर है जिसे आठवीं पृथ्वी कहते हैं। इसके

ऊपर 7050 धनुष जाकर सिद्धों का आवास है, जहां से आगे धर्म द्रव्य का अभाव है। इस लोक का आकार करणानुयोग के ग्रंथ कहते हैं धवल रंग वाला उत्तान छत्र या उत्तान चषक जैसा है जिसका अर्थ ब्र. अशोक जी ने सही किया है। क्या वह शिला सीधी कटोरी की तरह है या उल्टी कटोरी की तरह? उत्तान रंग धवल है तो फिर चंदन केसर से उसकी आकृति बनाना भी समुचित नहीं है।

5. चूंकि सर्व कर्म बंधन मुक्त शुद्ध आत्माओं के भी दो बंधन हैं-(1) वे केवल उर्ध्वगामी ही हो सकती है और (2) वहीं तक जाकर सदा के लिए रुकी रहती है, जहां तक धर्म द्रव्य है। अत: मौजूदा प्रतीक में परिवर्तन ही करना है, तो मेरे हिसाब से इस जगह की सही अवधारणा यों की जानी चाहिए-

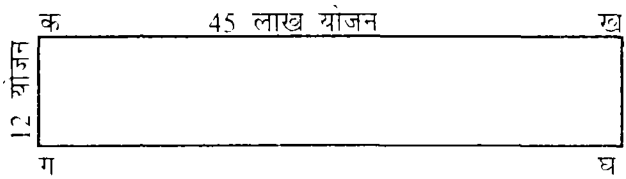

गघ वह पंक्ति है जो स्वर्गो का अंतिम छोर है और कख व पंक्ति है जिसके आगे धर्म द्रव्य नहीं है; अत: सिद्ध लोक उक्त कखगघ एक मंजूषा जैसा है। कख व गघ की लम्बाई 45 लाख योजन व कग व खघ की ऊंचाई/चौड़ाई 12 योजन है इसी क्षेत्र को सिद्धालय, मुक्ति धाम, अष्टम वसुधा और शिवपुर विश्राम आदि भी कहते हैं। सिद्धों की पूजाओं में भी सिद्ध शिला का ज़िकर नहीं है। इस मोक्ष स्थान का नाम सिद्ध शिला कब और क्यों चल पड़ा यह विचारणीय है।

इस सिद्ध लोक के बीच में भगवान ऋषभदेव के 500 धनुष लम्बाई वाले आत्म प्रदेश विराजमान होने चाहिए। पुराणों के अनुसार मानव की यही ज्ञात सबसे अधिक ऊंचाई है और उसके आस पास ही उन आत्माओं के प्रदेश होने चाहिए जो सबसे पहले मुक्ति धाम पहुंची। उसके बाद 'एक में एक समाय' के अनुसार इसी क्षेत्र में असंख्य आत्माएं समाकर अनंत आनन्द का अनुभव कर रही हैं। यदि ऐसा तसव्वुर न किया जाए, तो फिर

यह मानना पड़ जाएगा कि वे असंख्य सिद्ध आत्माएं जगह के लिए आपस में कशमकश कर रही हैं।

6. चूंकि कखगघ जगह सीमाओं से बंधी है इसलिए आत्माएं वहां पर अनंत शायद नहीं कही जा सकती। हां, अनगिनत अवश्य हैं। हालांकि यह भी सही है कि सिद्ध आत्माओं का यहां आना अनादि है, अनंत काल तक यह क्रम चलता भी रहेगा।

बेनाड़ा जी का एक तर्क यह भी है कि अर्द्धचन्द्राकार शिला पर कोई बैठ नहीं सकता। इस का समाधान भी प्रतीक ◻ से हो जाता है। इसके अलावा मोक्ष स्थान में बैठने खड़े होने का सवाल ही कहां पैदा होता है। यदि है, तो उनके प्रतीक ◡ में तो यह और भी मुश्किल है।

7. तो पहली बात तो यह कि सिद्ध क्षेत्र में कोई सिद्ध शिला नाम की शिला नहीं है। सिद्धलोक के लिए शब्द सिद्ध शिला का प्रयोग भ्रम पैदा करता है तथा शास्त्र विपरीत है और बंद होना चाहिए।

8. दूसरी बात है <u>उत्तान</u> शब्द के अर्थ को लेकर। तिलोयपण्णत्ति व त्रिलोकसार दोनों ही प्राकृत के ग्रंथ हैं और प्राकृत शब्द महार्णव में उत्तान का अर्थ <u>उर्ध्वमुख</u> है जिससे नतीजा निकलेगा कि उल्टा छत्र अथवा सीधी कटोरी-सीधा छत्र व उल्टी कटोरी उर्ध्वमुख नहीं होते। सिद्धान्तसार में इसे उत्तान अर्द्ध गोले के समान बताया गया है उससे मतलब है कि पहले गोले को आधा काटिए, तो फिर उर्ध्वमुख एक आधा हिस्सा गोला क्या ऐसा नहीं होगा मानों उल्टा छत्र हो। मोनियर विलियम्स के संस्कृत कोष पृ. 177 कालम 2 में भी उत्तान का अर्थ उर्ध्वमुख लेटा हुआ, वर्तन को ऐसे रखा जाए कि मुंह ऊपर हो ऐसा दिया हुआ है और भला इसके अलावा अर्द्धचन्द्राकार क्या होता है?

9. जब भगवान् वृषभ देव को श्रेयांस कुमार ने हस्तिनापुर में जो ईक्षु का आहार समर्पित किया था उसका वर्णन जिनसेन ने आदिपुराण में इस प्रकार किया है।

श्रेयान् सोमप्रभेणामा लक्ष्मी मत्या च सादरात्।
रसभिक्षोरदात् प्रासु (क) मुत्तानी कृतपाणये॥ -20/100

जिन्होंने अपने दोनों हाथ उत्तान किए थे अर्थात् हाथों को सीधा मिलाकर अंजली (खोवा) बनाई थी ऐसे भगवान् वृषभ देव के लिए श्रेयांस कुमार ने राजा सोमप्रभ व रानी लक्ष्मीमती के साथ आदर पूर्वक ईक्षु के प्रासुक रस का आहार दिया था। मेरे विचार से अब उत्तान शब्द के अर्थ में कोई शंका शेष नहीं रहती। आहार के समय की हाथों की यह स्थिति उर्ध्वमुख ही तो कही जाएगी।

10. फिर भी, प्रतीक तो प्रतीक है; È य Ç र □ ल में से कोई भी चलेगा। पूजा में भावों का महत्व है कि न प्रतीकों का। जिस तरह, तरह-तरह की मूर्तियों को साक्षात् भगवान मानकर पूजा-याचना की जाती है, वैसे ही प्रचलित प्रतीक को सही मानकर पूजा करने में मूल शास्त्रों का कोई उल्लंघन नहीं है, अत: मेरा खयाल है कि इस प्रकार की बहस ही व्यर्थ है, लक्ष्य से डिगाने वाली है। शायद यही कारण है कि उमा (स्वाति) व वट्टकेर ने सिद्ध लोक के क्षेत्रफल आकार आदि का कोई ज़िकर नहीं किया। ऐसी सूरत में स्वर्ग मोक्ष के बारे में श्री सुखमाल चंद जी ने जो विवेचन शोधादर्श 34/56-63 पृ. (व 38/160-161) पर किया है वह बड़ा ही समुचित ठहरता है। मूलाचार 7/44 में वर्णित लोक के नौ भेदों में से एक भाव लोक है याने रागद्वेष भावों के उदय को ही भाव लोक कहते हैं। मुक्ति हो जाने पर (भक्तों के इलावा) किस सिद्ध आत्मा को फ़िकर है कि उसके अनंत कालीन निवास का क्षेत्रफल कितना है और उसका आकार-प्रकार कैसा है। कई बातों में कुछ नवीन करने की इच्छा से बेहतर है कि पुरातन परम्परा व प्रतीक को ही चलते रहने दिया जाए। ऐसा न हो कि कहीं भक्त जन बिना काकूल वजह सीधा छत्र या सीधी कटोरी में उलझकर दो नए पंथों में बंट जाएं।

जो समझ में आया निवेदन कर दिया। भूलचूक माफ़ कर, जानकार महानुभाव मुझ अज्ञानी के इस निवेदन पर भी विचार करने की अनुकम्पा करें और स्थिति को साफ़ कर दुविधा का अंत करें।

-215, मन्दाकिनी एन्क्लेव
अलकनन्दा, नई दिल्ली-110019

आदिपुराण का भाषाई पक्ष

– प्रो. वृषभ प्रसाद जैन

यह निबन्ध कुछ मूलभूत समस्याओं की उद्भावनाओं के साथ प्रारम्भ किया जाना अपेक्षित है क्योंकि आदिपुराण की भाषा किसी भी सामान्य प्रयोक्ता के प्रयोग-जैसी भाषा नहीं है। कोई भी सामान्य भाषा प्रयोक्ता अपने कथ्य को ग्रहीता तक पहुँचाने के लिए माध्यम बनाता है अपने भाषिकोच्चार (Speech Form) को, इसीलिए भाषाविज्ञान में भाषिकोच्चार को ही भाषा के सबसे सटीक अप्रभावित रूप के रूप में लिया जाता है, यही कारण है कि आज के भाषाविज्ञान में उसे विश्लेषण का केन्द्र माना गया है। चूँकि आचार्य जिनसेन के द्वारा रचित आदिपुराण का भाषिकोच्चार रूप आज उपलब्ध नहीं है, इसीलिए भाषिकोच्चार के विश्लेषण करने वाले भाषाविज्ञान के मापक आदिपुराण की भाषा पर लागू नहीं हो सकते। दूसरा कारण यह कि भाषाविज्ञान में सामान्यतया किसी पाठ (Text) के विश्लेषण के लिए वाक्य, उपवाक्य, पदबन्ध, पद, शब्द, रूपिम, ध्वनि आदि घटक छाँटे जाते हैं, क्योंकि ये घटक ही प्रयोक्ता के संदेश-संप्रेषण के माध्यम बनते हैं पर यदि इन भाषाई घटकों के आधार पर आदिपुराण की भाषा को विश्लेषित किया जायेगा तो मुझे लगता है कि आदिपुराण का पाठ रूप इतना खण्डित हो जायेगा या फिर तार-तार हो जायेगा कि फिर उस पाठ को अखण्ड पाठ के रूप में देखना संभव नहीं रह जाएगा और ऐसे विश्लेषण से आदिपुराण के पाठ के कुछ विशिष्ट पक्ष या अनुद्घाटित पक्ष उद्घाटित भी नहीं होंगे। यदि कोई शोधपत्र किसी अनछुये या अज्ञात रूप को उद्घाटित नहीं करता है तो मुझे लगता है कि वह विश्लेषण केवल विश्लेषण के लिए है, किसी प्रयोजन के लिए नहीं; इसीलिए वह शोधपत्र भी नहीं रह जाता। इसीलिए मैं समझता हूँ कि पहले आदिपुराण की भाषा की प्रकृति को समझा जाये, तब उसके विश्लेषण के आयामों को स्थिर किया जाय और फिर उसके बाद तदनुसार विश्लेषण।

यदि कुल सामान्य भाषाई प्रयोगों को देखा जाए तो वे प्रमुख रूप से दो रूपों में होते हैं; एक-भाषा के किसी भी वक्ता या बोलने वाले की भाषा के प्रयोग और दूसरे-रचनाकार की भाषा के प्रयोग। चूँकि आदिपुराण की भाषा सामान्य भाषा-प्रयोक्ता की भाषा भर नहीं है, वह है रचनाकार की भाषा भी, इसीलिए रचनाकार की भाषा की प्रकृति को समझते हुए ही आदिपुराण को विश्लेषित किया जाना अपेक्षित है। मैं भाषा की संगठन प्रक्रिया या निर्माण-प्रक्रिया में दो प्रक्रियाओं को निहित मानता हूँ। एक भाषा की वह सामान्य गठन-प्रक्रिया जिसमे सामान्य भाषा-प्रयोक्ता की भाषा जन्म लेती है, इसे प्रजनित या पश्चिमी शब्दावली में Generation की भाषा कह सकते हैं और इसकी प्रक्रिया को Generation की प्रक्रिया अर्थात् प्रजनन प्रक्रिया क्योंकि इसमें भाषा के घटक अर्थात् भाषा की प्रत्येक इकाई व्याकरण के नियमों से पूरी तरह बँधकर चलती है, इसीलिए इसमें विचार से भाषिकोच्चार की प्रक्रिया पूरी तरह निश्चित होती है, इसके चरण निश्चित होते हैं। जबकि रचनाकार की भाषा व्याकरण के नियम में पूरी तरह बँधी नहीं होती, वह अनेकत्र व्याकरण के नियमों को लाँघकर रची जाती है पर व्याकरण के नियमो को पूरी तरह नकारकर नहीं। यदि ऐसा न हो तो रचनाकार अपने पाठ में नये अर्थ की सर्जना नहीं कर सकता और किसी भी रचना का सबसे बड़ा मापक यह होता है कि वह जितनी बार पढ़ी जाए, उतनी बार नये-नये रमणीक अर्थ की प्रतीति कराये। जो रचना इस नये रमणीय अर्थ की प्रतीति कराने में जितनी सबल होती है वह रचना उतनी बड़ी होती है। इसलिए मैं मानता हूँ कि रचनाकार की भाषा सृजन/सर्जन की भाषा होती है और इसीलिए वह प्रजनन प्रक्रिया के साथ-साथ सृजन/सर्जन प्रक्रिया से निर्मित होती है। रचनाकार कई बार बहुत जगहों पर व्याकरण के नियमों से बँधा रहता है पर बहुत जगहों पर व्याकरण के नियमों को छोड़कर चलता है। वहीं अनेकत्र सामान्य भाषाई व्याकरण के नियमों को तोडकर काव्यभाषाई व्याकरण की रचना करता है। आदिपुराण की भाषा इसी तरह की भाषा-सी लगती है।

काव्यभाषाई व्याकरण का पहला आधार है छंदोबद्धता और आदिपुराण की भाषा छंदोबद्ध है भी। प्रश्न उठता है कि जहाँ कोई विषय छंदों में निबद्ध है तो क्या उस विषय को पुरस्सर करने वाली रचना काव्य

कहलाएगी और उसकी भाषा काव्यभाषा? यदि इसका उत्तर 'हाँ' में मान लिया जाए तो सारे धर्मशास्त्र, सारे दार्शनिक ग्रंथ, सारे कारिका ग्रंथ व सारे शास्त्र काव्य की कोटि में आने लग जाएंगे और इस प्रकार अतिव्याप्ति हो जाएगी, इसलिए केवल छंदोबद्ध भाषा के आधार पर आदिपुराण को काव्य मानना समीचीन नहीं लगता।

चूँकि काव्य होने के बहुत सारे अभिलक्षणों में से छंदोबद्धता भी एक अभिलक्षण तो है ही, अत: काव्यभाषा के अन्य अभिलक्षणों को आदिपुराण की भाषा में तलाशा जाना चाहिए और तब निर्णय किया जाना चाहिए कि यह काव्य है या नहीं? .... अब प्रश्न उठता है कि काव्य होने के या काव्यभाषा होने के अन्य अभिलक्षण क्या हैं? वस्तुत: ध्यान से देखा जाए तो इस बिन्दु पर भी हमें अनेक मत देखने को मिलते हैं, इसलिए यह आवश्यक है कि पहले काव्यत्व के/काव्यभाषात्व के मानकों को स्थिर किया जाए और फिर उनके आधार पर आदिपुराण की काव्यभाषा का परीक्षण किया जाए; लेकिन यह भी आसान नहीं है, इसीलिए तो आचार्य जिनसेन स्वयं कहते हैं कि -

केचित् सौशब्द्यमिच्छन्ति केचिदर्थस्य संपदम्।
केचित् समासभूयस्त्वं परे व्यस्तां पदावलीम्॥।1/78॥
मृदुबन्धार्थिनः केचित् स्फुटबन्धैषिणः परम्।
मध्यमा केचिदन्येषां रुचिरन्यैव लक्ष्यते॥1/79॥
इति भिन्नाभिसन्धित्वाद्दराराधा मनीषिणः॥1/80॥

अर्थात् कोई शब्दों की सुन्दरता को पसन्द करते हैं, कोई मनोहर अर्थसम्पत्ति को चाहते हैं, कोई समास की अधिकता को अच्छा मानते हैं और कोई मृदुल-सरल रचना को उत्कृष्ट मानते हैं, कोई कठिन रचना को चाहते हैं, कोई मध्यम श्रेणी की रचना पसन्द करते हैं और कोई ऐसे भी हैं, जिनकी रुचि सबसे विलक्षण अनोखी है। इस प्रकार भिन्न-भिन्न होने के कारण बुद्धिमान् पुरुषों को प्रसन्न करना कठिन कार्य है, जोकि वस्तुत: काव्यभाषा का प्रयोजन है।

मुझे लगता है कि उपर्युक्त भिन्न-भिन्न मान्यताओं के कारण काव्यभाषा के मापकों के निर्धारण में आवश्यक है कि हम यह देखें कि आचार्य

जिनसेन ने स्वयं किन अभिलक्षणों को काव्यभाषा के मापक के रूप में स्वीकारा है। द्रष्टव्य हैं-प्रथम पर्व के निम्नांकित श्लोक-

कवेर्भावोऽथवा कर्म काव्यं तज्ज्ञैर्निरुच्यते।
तत्प्रतीतार्थमग्राम्यं सालंकारमनाकुलम्।
केचिदर्थस्य सौन्दर्यमपरे पदसौष्ठवम्।
वाचालमलंक्रियां प्राहुस्तद्द्वयं नो मतं मतम्।
सालंकारमुपारूढ़रसमुद्भूतसौष्ठवम्।
अनुच्छिष्टं सतां काव्यं सरस्वत्या मुखायते।।1/94-96।।

आचार्य जिनसेन कहते हैं कि कवि का भाव या कार्य काव्य है। यह भाव या कार्य वस्तुतः भाषारूप होता है, इसलिए कवि की भाषा ही काव्य होती है। वे आगे मानते हैं कि कवि का काव्य या उसकी भाषा सर्वसम्मत अर्थ से सहित अर्थात् प्रतीकार्थवाचक, ग्राम्य दोष से रहित, अलंकारों से युक्त और प्रसाद आदि गुणों से शोभित अर्थात् अनाकुल होनी चाहिए। काव्यशास्त्री मम्मट की तरह वे भी उल्लिखित करते हैं कि कितने ही विद्वान् अर्थ की सुन्दरता को वाणी का अलंकार कहते हैं और कितने ही पदों की सुन्दरता को, किन्तु उनका मत है कि अर्थ और पद दोनों की सुन्दरता ही वाणी का अलंकार है। सज्जन पुरुषों का बनाया हुआ जो काव्य अलंकार सहित, श्रृंगारादि रसों सं युक्त, सौन्दर्य से ओत-प्रोत और उच्छिष्टता रहित अर्थात् मौलिक होता है, वह काव्य सरस्वती देवी के मुख के समान शोभायमान होता है। जिस प्रकार शरीर में मुख सर्वप्रधान अंग है, इसके बिना शरीर की शोभा नहीं; ठीक उसी प्रकार सभी शास्त्रों में काव्य प्रधान है, यह है-आचार्य जिनसेन की काव्यभाषा की कसौटी। वस्तुतः है भी यही, इसीलिए तो काव्य में न केवल संरचना ही प्रधान है और न काव्यार्थ ही, दोनों की सम्यक्युति ही काव्य है और वही काव्यभाषा का निर्माण करती है। बात इतनी ही नहीं, ये भी कविता को स्फुट काव्य, प्रबन्ध काव्य, महाकाव्य के भेद के रूप में मानते हैं, और कहते हैं कि जिस प्रकार महावृक्षों की छाया से मार्ग की थकावट दूर हो जाती है और चित्त हल्का हो जाता है, उसी प्रकार महाकवियों की काव्यभाषा के परिशीलन से अर्थाभाव से होने वाली खिन्नता दूर हो जाती है और चित्त प्रसन्न हो जाता है। प्रतिभा जिसकी जड़ है, माधुर्य, ओज,

प्रसाद आदि गुण जिसकी उन्नत शाखाएँ हैं और उत्तम शब्द ही जिसके उज्जवल पत्ते हैं-ऐसा यह महाकविरूपी वृक्ष यशरूपी पुष्पमंजरी को धारण करता है अथवा बुद्धि ही जिसके किनारे हैं, प्रसाद आदि गुण ही जिसमें लहरें हैं, जो गुणरूपी रत्नों से भरा हुआ है, जो उच्च और मनोहर शब्दों से युक्त है तथा जिसमें गुरु-शिष्य-परम्परा रूप विशाल प्रवाह चला आ रहा है-ऐसा यह महाकवि समुद्र के समान आचरण करता है। यथा-

प्रज्ञामूलो गुणोदग्रस्कन्धो वाक्पल्लवोज्ज्वलः
महाकवितरुर्धत्ते यशःकुसुममंजरीम्॥1/103॥
प्रज्ञावेलः प्रसादोर्मिर्गुणरत्नपरिग्रहः
महाध्वानः पृथुस्रोताः कविरम्भोनिधीयते॥1/104॥
यथोक्तमुपयुंजीध्वं बुधाः काव्यरसायनम्।
येन कल्पान्तरस्थायि वपुर्वः स्याद् यशोमयम्॥1/105॥
यशोधनं चिचीर्पूणां पुण्यपुण्यपणायिनाम्।
परं मूल्यमिहाम्नातं काव्यं धर्मकथामयम्॥1/106॥

महाकान्तिमान् महाराज वज्रबाहु एक दिन अपने ही राजमहल की अट्टालिका पर बैठे हैं, पुत्र वज्रजंघ आनी नवविवाहिता पत्नी श्रीमती के साथ रमण में लीन है, अचानक महाराज की दृष्टि जाती है शरद् ऋतु के उठते बादल पर..बादल का उत्थान इतना मनोहर है कि महाराज के रोम-रोम को पुलकित कर देता है और घेर लेता है महाराज को ही नहीं, बल्कि उनके सम्पूर्ण राजप्रासाद को, महाराज यह देख ही रहे हैं, वे उसकी सुन्दरता से अपने मन को अभी भर भी नहीं पाए हैं कि बादल क्षण भर में ही विलीन हो जाता है और उस बादल का विलीन होना महाराज को भीतर तक झकझोर देता है और उन्हें सहज वैराग्य की ओर उन्मुख कर देता है, बड़ा मार्मिक है दृश्य, बड़ी तुली हुई, मंजी हुई, सधी हुई भाषा है दृश्य की, एक-एक शब्द, एक-एक ध्वनि ऐसे बँधे हैं कि वे दृश्य के कोर-कोर का प्रत्यक्ष कराना चाहते हैं अपने पाठक को। यथा-

अथान्येद्युर्महाराज वज्रबाहुर्महाद्युतिः।
शरदम्बुधारोत्थानं सौधाग्रस्थे निरूपयन्॥8/50॥
दृष्ट्वा तद्विलयं सद्यो निर्वेदं परमागतः।
विरक्तस्यास्य चित्तेऽभूदिति चिन्ता गरीयसी॥8/51॥

पश्य नः पश्यतामेव कथमेष शरद्धनः।
प्रासादाकृतिरुद्भूतो विलीनश्च क्षणान्तरे।।8/52।।
संपदभ्रविलायं नः क्षणादेषां विलास्यते।
लक्ष्मीस्तडिद्विलोलेयं इत्वर्यो यौवनश्रियः।।8/53।।
आपातमात्ररम्याश्च भोगाः पर्यन्ततापिनः।
प्रतिरक्षणं गलत्यायुर्गलन्नालिजलं यथा।।8/54।।
रूपमारोग्यमैश्वर्यमिष्टबनधुसमागमः।
प्रियाङ्गनारतिश्चेति सर्वमप्यनवरिथतम्।।8/55।।

इन छन्दों की भाषा के शब्दों को महाकवि कई स्रोतों से लेते हैं। हम श्लोक 54 के प्रथम "आपात" शब्द की बात करते हैं, अमरकोशकार ने इसे नहीं संजोया, पर भाषा में बहुप्रचलित है, इसलिए विश्वलोचनकोशकार से यह नहीं छूटता और नहीं छूटता महाकवि जिनसेन से भी क्योंकि सर्वसम्मत अर्थ के वाहक शब्दों को संजोना है न उन्हें अपनी काव्यभाषा में। कविवर जिनसेन संसार के जनों की स्थिति पर सटीक टिप्पणी करते हुए कहते हैं कि जबकि सज्जनों का धन गुण है और दुर्जनों का धन दोष, तब फिर उन्हें अपना-अपना धन ग्रहण कर लेने देने में भला कौन बुद्धिमान् पुरुष बाधक होगा? इसी क्रम में वे अपने काव्यरूप के सन्दर्भ में कहते हैं कि दुर्जन पुरुष हमारे काव्य से दोषों को ग्रहण कर लें, जिससे हमारे काव्य में गुण-गुण ही रह जायें-यह बात हमको अत्यन्त इष्ट है क्योंकि जिस काव्य से समस्त दोष निकाल दिये गए हों, वह काव्य निर्दोष होकर उत्तम हो जायेगा। प्रकारान्तर से उनकी मान्यता है कि उत्तम काव्यभाषा सज्जनचित्तवल्लभ होती है।

यतो गुणधनाः सन्तो दुर्जना दोषवित्तकाः।
स्वधनं गृह्वतां तेषां कः प्रत्यर्थी बुधो जनः।।1/84।।
दोषान् गृह्णन्तु वा कामं गुणास्तिष्ठन्तु नः स्फुटम्।
गृहीतदोषं यत्काव्यं जायते तद्धि पुष्कलम्।।1/85।।

आगे कविवर जिनसेन रचनाकार की रचना प्रक्रिया या यूँ कहें काव्यभाषा के गढ़ने की प्रक्रिया पर टिप्पणी करते हुए कहते हैं कि कोई भी रचनाकार किसी भी भाषा का क्यों न हो, उसके सम्मुख अनन्त मौलिक प्रयोगरूप अनंत शब्दराशि होती है, उस अनंत शब्दराशि के

माध्यम से वह जिस अर्थ को चाहे उस अर्थ को व्यक्त कर दे, इसलिए अर्थ निर्णय भी उसके अधीन होता है और संसार में चूँकि अर्थ रूप विषय अनंत हैं, इसलिए कविता कामिनी की भाषा के नवरस भी बड़े स्फुट बड़े स्पष्ट होते हैं और जब ये तीनों चीजें स्पष्टतया रचनाकार को प्राप्त हो रही हों तो रचना की भाषा को बाँधाने वाली जटिल से जटिल छंदों की व्यवस्था भी उसे बड़ी आसानी से लभ्य हो जाती है, क्योंकि रचनाकार छंदशास्त्र का विधिवत् अधिकारी तो होता ही है, इसीलिए बारहवें पर्व में कविवर जिनसेन ने ऐसे-ऐसे जटिल छंदों को प्रस्तुत किया है, जिससे लगता है मानों वे अलभ्य या कष्टलभ्य छंदों का शास्त्र ही रच रहे हों (निगूढ़ार्थक्रियापादैः बिन्दुमात्राक्षरक्ष्युतैः। देव्यस्तां रञ्जयामासुः श्लोकैरन्यैश्च कैश्चन ।।12/213।।) इसके बाद भी यदि किसी रचनाकार से उत्तम कवितारूप भाषा का सर्जन नहीं होता तो आचार्य जिनसेन की मान्यतानुसार इससे बड़ी दरिद्रता और क्या होगी अर्थात् रचनाकार को उत्तम काव्यभाषामई रचना की गढ़ना चाहिए।

इस प्रकार कुल मिलाकर बात यह निकलकर आती है कि आचार्य जिनसेन के अनुसार काव्यभाषा प्रसाद आदि गुणों से युक्त, अलंकारों से सज्जित, नई उद्‌भावना रूप मूलभावनाओं से युक्त अर्थात् मौलिक, प्रतीकार्थव्यंजक सज्जनचित्तवल्लभ रूप अभिलक्षणों से युक्त होती है।

आदिपुराण की काव्यभाषा अधिकांशतः प्रसाद और माधुर्य गुणों से ओतप्रोत अलंकारमयी है। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, श्लेष, अर्थान्तरन्यास और दृष्टान्त तो छंद-छंद में पग-पग पर देखने को मिल जाते हैं, पर परिसंख्या जैसे अलंकार भी कविवर से नहीं छूटते। इसलिए तो वे गन्धिला देश का वर्णन करते हुए कहते हैं कि वहाँ के मनुष्यों की प्रीति पात्रदान आदि में ही थी, विषय वासनाओं में नहीं। उनकी शक्ति शील व्रत की रक्षा के लिए ही थी निर्बलों को पीड़ित करने के लिए नहीं और उनकी रुचि प्रोषधोपवास धारण करने में ही थी वारांगनाओं आदि विषय के साधनों में नहीं।

यत्र सत्पात्रदानेषु प्रीतिः पूजासु चार्हताम्।
शक्तिरात्यन्तिकी शीले प्रोषधे च रतिर्नृणाम्।।4/57।।

पर इस आलंकारिकता की उद्भावनायें भी कवि की अनूठी हैं इसीलिए वे बगीचे में होती कोकिलाओं की मधुर ध्वनि में ऐसी उद्भावना करते हैं मानों वह कूकध्वनि फलों का सेवन कराने के लिए पथिकों का आह्वान कर रही हो। कैसे अनूठे भाव को शब्द दिया है रचनाकार ने!

यत्रारामाः सदा रम्यास्तरुभिः फलशालिभिः।
पथिकानाह्वयन्तीव परपुष्टकलस्वनैः।।4/59।।

अन्तिम कुलकर नाभिराय के समय में आकाश में घनी घटाओं का दिखना, उससे जल वृष्टि होना तथा नदी, निर्झर आदि के प्रवाहित होने का वर्णन करती भाषा बड़ी सीधी है पर है अलंकारमयी इसीलिए उपमायें भी हैं, उत्प्रेक्षायें भी और श्लेष भी। कवि एक उपमा से न तो स्वयं तृप्त होता है और न अपने पाठक का तृप्त पाता है, इसीलिए इसकी श्रृंखला रचता है। यथा-

चातका मधुरं रेणुरभिनन्दा घनागमम्।
अकस्मात्ताण्डवारम्भमातेने शिखिनां कुलम्।।3/170।।
अभिषेक्तुमिवारब्धा गिरीनम्भेमुचां चयाः।
मुक्तधारं प्रवर्षन्तः प्रक्षरद्धातुनिर्झरान्।।3/171।।
क्वचिद् गिरिसरित्पूराः प्रावर्तन्य महारयाः।
धातुरागारुणा मुक्तारक्तमोक्षा इवाद्रिषु।।3/172।।
ध्वनन्तो ववृषुर्मुक्तस्थूलधारं पयोधराः।
रुदन्त इव शोकार्ताः कल्पवृक्षपरिक्षये।।3/173।।
मार्दङ्गिककरास्फालादिव वातनिघट्टनात्।
पुष्करेष्विव गम्भीरं ध्वनत्सु जलवाहिषु।।3/174।।
विद्युन्नटी नभेरङ्गे विचित्राकारधारिणी।
प्रतिक्षणविवृत्ताङ्गी नृत्तारम्भमिवातनोत्।।3/175।।
पयः पयोधरासक्तैः पिबद्भिरवितृप्तिभिः।
कृच्छलब्धमतिप्रीतैश्चातकैरर्भकायितम्।।3/176।।

काव्यभाषा का चरम लक्ष्य होता है संवेदनशील ग्रहीता के हृदय में रसोद्रेक करना। सामान्यजन अपने लोकजन्य कष्टों के निवारणार्थ प्रभु के पास जाता है, प्रभु की दिव्य वाणी खिरने वाली है, वह जैसे ही भक्ति विह्वल होकर प्रभु के चरणों में प्रणाम करता है तो प्रणाम करते ही उसे

लगने लगता है कि आकाशगंगा के जल के समान स्वच्छ प्रभु के चरणों के नखों की किरणें जब उसके सिर पर पड़ रही हैं तो ऐसी लगती हैं मानों वे उसका सब ओर से अभिषेक ही कर रही हों। यह है भक्ति की पराकाष्ठा और उत्प्रेक्षा का भी अतुलनीय रूप कि भक्त इतना तक भूल जाता है कि प्रभु का अभिषेक करना उसकी दैनन्दिन क्रिया है, प्रभु की नहीं; इसीलिए तो उसे लगता है कि प्रभु की नख-किरण रूप आकाश-जल-धारायें उसका अभिषेक करा रहीं हैं। यह है कवि जिनसेन की काव्यभाषा में व्यक्त भक्तिरस की पराकाष्ठा और उत्प्रेक्षा की उत्तम अभिव्यक्ति को लिए उनकी काव्यभाषा।

पुण्याभिषेकमभितः कुर्वनतीव शिरस्सु नः।
व्योमगङ्गाम्बुसच्छाया युष्मत्पादनखांशवः।।2/5।।

इतना ही नहीं, भक्त आगे और कहता है कि हे भगवन्। जिस प्रकार सूर्य रात में निमीलित हुए कमलों को शीघ्र ही प्रबोधित/विकसित कर देता है उसी प्रकार आपने अज्ञान रूपी निद्रा में निमीलित/सोये हुए इस समस्त जगत् को प्रबोधित/जागृत कर दिया है। हृदय में जिस अज्ञानरूपी अंधकार को चन्द्रमा अपनी किरणों से छू तक नहीं सकता और सूर्य भी जिसका संस्पर्श तक नहीं कर सकता, उसे आप अपने वचन रूपी किरणों से अनायास ही नष्ट कर देते हैं। यह है प्रभु और सन्मार्गी प्रभुभक्त की यथार्थस्थिति। जो लोक के असंभव को संभव बना देती है, इसलिए है यथार्थ के साथ-साथ पारलौकिक भी।

त्वया जगदिदं कृत्स्नमविद्यामीलितेक्षणम्।
सद्यः प्रबोधमानीतं भास्वतेवाब्जिनीवनम्।।2/7।।
यन्नेन्दुकिरणैः स्पृष्टमनालीढं रवेः करैः।
तत्त्वया हेलयोदस्तमन्तर्ध्वान्तं वचोंऽशुभिः।।2/8।।

बात इतनी ही नहीं, इस भक्ति रस से केवल भक्त ही बँधता हो बल्कि भज्य अर्थात् योगी भी बँधता है, इसीलिए तो अन्यत्र आचार्य की उक्ति है-

भक्तिग्राह्या हि योगिनः।।2/83।।

कितनी सरल और सहज भाषा है, पर भक्तिरस से सराबोर।

प्रभु की सभा लगी हुई है, चूँकि प्रभु मोक्षमार्गगामी हैं इसलिए अलौकिक हैं और इसलिए उनकी सभा रूप समवसरण भी अलौकिक है। समवसरण में जो पशु बैठे हैं वे धन्य हैं, उनका शरीर मीठी घास के कारण अन्यन्त पुष्ट हो रहा है, ये दुष्ट पशुओं द्वारा होने वाली पीड़ा को भी जानते ही नहीं। पादप्रक्षालन करने से इधर-उधर फैले हुए कमण्डलु के जल से पवित्र हुए ये हिरणों के बच्चे इस तरह बढ़ रहे हैं मानों अमृत पीकर ही बढ़ रहे हों। इस ओर ये हथिनियाँ सिंह के बच्चों को अपना दूध पिला रही हैं और ये हाथी के बच्चे स्वेच्छा से सिंहिनी के स्तनों का स्पर्श कर रहे हैं-दूध पी रहे हैं। अहो! बड़े आश्चर्य की बात है कि जिन हिरणों को बोलना भी नहीं आता, वे भी मुनियों के समान भगवान् के चरणकमलों की छाया का आश्रय ले रहे हैं। जिनकी छालों को कोई छील नहीं सका है तथा जो पुष्प और फलों से शोभायमान हैं, ऐसे सब ओर लगे हुए ये वन के वृक्ष ऐसे मालूम होते हैं मानों धर्मरूपी बगीचे के ही वृक्ष हों। ये फूली हुई और भ्रमरों से घिरी हुई वनलताएँ कितनी सुन्दर हैं? ये सब न्यायवान् राजा की प्रजा की तरह कर-बाधा (हाथ से फल-फूल आदि तोड़ने का दु:ख, पक्ष में टैक्स का दु:ख) को तो जानती ही नहीं हैं। यथा-

पादप्रधावनोत्सृष्टैः कमण्डलुजलैरिमे।
अमृतैरिव बर्द्धन्ते मृगशावाः पवित्रिताः।।2/12।।
सिंहस्तनन्धयानत्र करिष्यः पाययन्त्यमूः।
सिंहधेनुस्तनं स्वैरं स्पृशन्ति कलभा इमे।।2/13।।
अहो परममाश्चर्यं यदवाचोऽप्यमी मृगाः।
भजन्ति भगवत्पादच्छायां मुनिगण इव।।2/14।।
अकृत्तवल्कलाश्चामी प्रसूनफलशालिनः।
धर्मारामतरूयन्ते परितो वनपादपाः।।2/15।।
इमा वनलता रम्याः प्रफुल्ला भ्रमरैर्वृताः।
न विदुः करसंबाधां राजन्वत्य इव प्रजाः।।2/16।।

श्लेष को व्यक्त करती महाकवि की भाषा कितनी सहज है।

आदिपुराण की सम्पूर्ण भाषा को देखें तो अनेकत्र लगता है कि यह केवल कविता भर नहीं है, यह शास्त्र है यथा-कालद्रव्य का वर्णन देखिए, कोई व्यंग्य नहीं, सीधे सिद्धान्त रख रहे हैं आचार्य -

अनादिनिधनः कालो वर्त्तनालक्षणो मतः।
लोकमात्रः सुसूक्ष्माणुपरिच्छिन्नप्रमाणकः॥3/2॥
सोऽसंख्येयोऽप्यनन्तस्य वस्तुराशेरुपग्रहे।
वर्त्तते स्वगतानन्तसामर्थ्यपरिबृंहितः॥3/3॥
यथा कुलालचक्रस्य भ्रान्तेर्हेतुरधश्शिला।
तथा कालः पदार्थानां वर्त्तनोपग्रहं मतः॥3/4॥

आदिपुराण में विज्ञानवाद, शून्यवाद, भूतवाद आदि के खण्डन-मण्डन की भाषा यद्यपि छंदोबद्ध है पर बराबर लगता है कि शास्त्रार्थ की भाषा है क्योंकि इसमें शास्त्रार्थ के तर्को की तरह तीक्ष्णता है और वह निरन्तर परमतों को पोषित करने वाली भाषा का या प्रकारान्तर से परमतों का खण्डन करती है, इसलिए इसे या यूँ कहें आदिपुराण की सम्पूर्ण भाषा को कविता की भाषा या कविता भर नहीं माना जाना चाहिए; बल्कि इसे कुछ और-और मानना चाहिए या फिर इसके ऐसे स्थलों को कहना चाहिए शास्त्रों का शास्त्र और ऐसे स्थलों की भाषा को भी शास्त्रों के शास्त्र की भाषा (Meta-language) मानना चाहिए क्योंकि इसमें शास्त्र-जैसा गाम्भीर्य है, पर वैसी दुरूहता नहीं। इसी प्रसंग में काल के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए आचार्य निरूपित करते हैं कि यह व्यवहार काल वर्तना लक्षण रूप निश्चय काल द्रव्य के द्वारा ही प्रवर्तित होता है और वह भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान् रूप होकर संसार का व्यवहार चलाने के लिए कल्पित किया जाता है। यथा-

वर्त्तितो द्रव्यकालेन वर्त्तनालक्षणेन यः।
कालः पूर्वापरीभूतो व्यवहाराय कल्प्यते॥3/11॥
समयावलिकोच्छ्वास-नालिकादिप्रभेदतः।
ज्योतिश्चक्रभ्रमायत्तं कालचक्रं विदुर्बुधाः॥3/12॥
भवायुष्कायकर्मादिस्थितिसंकलनात्मकः।
सोऽनन्तसमयस्तस्य परिवर्त्तोऽप्यनन्तधा॥3/13॥

कितना गूढ़ विवेचन किया है बड़े सीधे शब्दों में आचार्य ने, लगता है मानों तत्त्वदर्शन की गाँठ ही खोल दी हो। उपर्यंकित प्रसंगों से हमें आदिपुराण की भाषा को काव्यभाषा के रूप में या शास्त्र भाषा के रूप में या फिर किसी अन्य रूप में पूरी तरह मानने से पहले यह आवश्यक लगता है कि हम उन बिन्दुओं को भी तलाशें जिनके आधार पर आदिपुराण की पुराण्ता है; स्वयं आचार्य कहते हैं कि यह ग्रन्थ अत्यन्त प्राचीनकाल से प्रचलित है, इसलिए पुराण कहलाता है और चूँकि महापुरुषों का वर्णन है और है उनका उपदेश इसलिए उसके पठन-पाठन से है यह महापुराण।

पुरातनं पुराणं स्यात् तन्महन्महदाश्रयात्।
महद्भिरुपदिष्टत्वात् महाश्रेयोऽनुशासनात्॥1/21॥
कविं पुराणमाश्रित्य प्रसृतत्वात् पुराणता।
महत्त्वं स्वमहिम्नैव तस्येत्यन्यैर्निरुच्यते॥1/22॥
महापुरुषसंबन्धि महाभ्युदयशासनम्।
महापुराणमाम्नातमत एतन्महर्षिभिः॥1/23॥

बात इतनी ही नहीं, यह ग्रन्थ ऋषि प्रणीत होने के कारण आर्ष, सत्यार्थ का निरूपक होने के कारण सूक्त तथा धर्म का प्ररूपक होने के कारण धर्मशास्त्र, 'यहाँ ऐसा हुआ' ऐसी अनेक कथाओं के इसमें उपनिबद्ध होने के कारण यह 'इतिहास', 'इतिवृत्त' व 'ऐतिह्य' भी कहलाता है। वस्तुतः इतिहास 'यहाँ ऐसा हुआ' का चिठ्ठा भर नहीं होता क्योंकि जो ऐसा होता है और चला जाता है, वह इतिहास का अंग नहीं बनता या बन पाता, इसका कारण यह कि वह सहसा हुआ होता है। इतिहास का अंग बनता है "ऐसा होता आया है" इसलिए इतिहास में "ऐसे हुए" की निरन्तरता होती है, इसीलिए पुराण की भाषा एक हुई कहानी को नहीं कहती, वह कहती है/उपनिबद्ध करती है कहानियों की श्रृंखला को, आदिपुराण की भाषा भी ऐसे ही जीव के आत्मिक गुणों के विकास को संजोने वाली कहानियों की लम्बी सरणि है, एक छूटती है तो दूसरी सम्मुख है, इसीलिए इसकी भाषा छोड़ती भी है छुड़ाती भी है और जोड़ती भी है। यह छोड़ती है वह सूत्र जिससे आप आत्मसम्मुख हो सकें, छुड़ाती है संसार के बंधन को और जोड़ती है प्रत्येक आत्मा को उसकी निष्कलंक अवस्था के मार्ग से।

इसीलिए आचार्य इसकी भाषा को, इसकी कथा को परिभाषित करते हुए कहते हैं कि मोक्ष पुरुषार्थ के उपयोगी होने से धर्म-अर्थ तथा काम का कथन करना ही कथा का होना है। जिस भाषा में धर्म का विशेष निरूपण होता है, उसे बुद्धिमान् सत्कथा कहते हैं। धर्म के फलस्वरूप जिन अभ्युदयों की प्राप्ति होती है उनमें अर्थ और काम भी मुख्य हैं, अतः धर्म का फल दिखाने के लिए अर्थ और काम का वर्णन करने वाली भाषा भी कथा की कोटि में आती है, पर वही अर्थ और काम को व्यक्त करने वाला भाषिक वर्णन यदि धर्मकथा से विमुख होता है तो विकथा की कोटि में आ जाता है। इसीलिए उनकी और मान्यता है कि जीवों को स्वर्गादि अभ्युदय तथा मोक्षादि की जिससे प्राप्ति होती है, वास्तव में वही धर्म है और उससे सम्बन्ध रखने वाली जो कथा है वही सद्धर्मकथा है और वही सम्यक् भाषा। यथा -

पुरुषार्थोपयोगित्वात्त्रिवर्गकथनं कथा।
तत्रापि सत्कथां धर्म्यामामनन्ति मनीषिणः।।1/118।।
तत्फलाभ्युदयाङ्गत्वादर्थकामकथा कथा।
अन्यथा विकथैवासावपुण्यास्त्रवकारणम्।।1/119।।
यतोऽभ्युदयनिःश्रेयसार्थसंसिद्धिरंजसा।
सद्धर्मस्तन्निबद्धा या सा सद्धर्मकथा स्मृता।।1/120।।

वे आगे और कहते हैं कि वक्ता को भाषा का प्रयोग करते समय वे ही वचन बोलने चाहिए जो हितकारी हों, प्रिय हों, धर्मोन्मुख हो और हों यशस्कर भी। प्रसंग आने पर भी अधर्मसम्मत और अपयशकारक वचनों का प्रयोग नहीं करना चाहिए। भाषिक प्रयोग में कितने सजग हैं आचार्य। यथा -

हितं ब्रूयान्मितं ब्रूयाद् ब्रूयाद् धर्म्यं यशस्करम्।
प्रसङ्गादपि न ब्रूयादधर्म्यमयशस्करम्।।1/133।।

धर्म के महत्त्व को बताते हुए आचार्य कहते हैं कि धर्म से इच्छानुसार सम्पत्ति मिलती है और उससे ही इच्छानुसार सुख की प्राप्ति होती है और उमसे मनुष्य प्रसन्न रहते हैं, इसलिए यह परम्परा केवल धर्म से ही संचालित है। राजसम्पदायें भोग-उपभोग, उत्तम कुल में जन्म, सुन्दरता

पाण्डित्य, दीर्घ आयु और आरोग्य यह सब धर्म का ही फल है। जिस प्रकार कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति नहीं होती, दीपक के बिना प्रकाश नहीं, बीज के बिना अंकुर नहीं, मेघ के बिना बादल नहीं, छत्र के बिना छाया नहीं, ठीक वैसे ही बिना धर्म के सम्पत्तियाँ भी नहीं होतीं। यथा-

धर्मादिष्टार्थसंपत्तिस्ततः कामसुखोदयः।
स च संप्रीतये पुंसां धर्मात् सैषा परम्परा॥5/15॥
राज्यं च संपदो भोगाः कुले जन्म सुरूपता।
पाण्डित्यमायुरारोग्यं धर्मस्यैतत् फलं विदुः॥5/16॥
न कारणाद् विना कार्यनिष्पत्तिरिह जातुचित्।
प्रदीपेन बिना दीप्तिर्दृष्टपूर्वा किमु क्वचित्॥5/17॥
नाङ्कुरः स्याद् बिना बीजाद् बिना वृष्टिर्न वारिदात्।
छत्राद् बिनापि नच्छाया बिना धर्मान्न संपदः॥5/16॥

और भी -

दयामूलो भवेद् धर्मो दया प्राण्यनुकम्पनम्।
दयायाः परिरक्षार्थं गुणाः शेषाः प्रकीर्तिताः॥5/21॥
धर्मस्य तस्य लिङ्गानि दमः क्षान्तिरहिंस्रता।
तपो दानं च शीलं च योगो वैराग्यमेव च॥5/22॥
अहिंसा सत्यवादित्वमचौर्यं त्यक्तकामता॥
निष्परिग्रहता चेति प्रोक्तो धर्मः सनातनः॥5/23॥

वस्तुतः चैतन्य शरीर स्वरूप नहीं है और न शरीर चैतन्य रूप ही है। इन दोनों का परस्पर विरुद्ध स्वभाव है। चैतन्य चित् स्वरूप और ज्ञान दर्शन रूप है। शरीर अचित् स्वरूप और जड़ है। शरीर और चैतन्य दोनों मिलकर एक नहीं हो सकते, क्योंकि दोनों में परस्पर विरोधी गुणों का योग है। चैतन्य का प्रतिभास तलवार के समान अंतरंग रूप होता है और शरीर का म्यान के समान बहिरंग रूप। प्रतिभाष भेद से दोनों भिन्न-भिन्न हैं एक नहीं ।

कायात्मकं न चैतन्यं न कायश्चेतनात्मकः।
मिथो विरुद्धधर्मत्वात् तयोश्चिदचिदात्मनोः॥5/51॥

कायचैतन्ययोर्नैक्यं विरोधिगुणयोगतः।
तयोरन्तर्बहीरूपनिर्भासाच्चासिकोशवत्॥5/52॥

शरीर और आत्मा का संबन्ध ऐसा है, जैसे घर और दीपक का; आधर और आधेय रूप होने से घर और दीपक पृथक्-पृथक् है, उसी प्रकार आत्मा और शरीर भी। यथा -

गृहीप्रदीपयोर्यद्वत् सम्बन्धो युतसिद्धयोः।
आधाराधेयरूपत्वात् तद्वद्देहोपयोगयोः॥5/55॥

ऐसा नहीं कि आदिपुराण की भाषा ने केवल धर्म, दर्शन और वैराग्य को अपने में समेटा है बल्कि श्रृंगार का उत्कृष्ट वर्णन भी हमें इसमें देखने को मिलता है। यथा -

लतेवासौ मृदू बाहू दधौ विटपसच्छवी।
नखांशुमंजरी चास्या धत्ते स्म कुसुमश्रियम्॥6/70॥
आनीलचूचुकौ तस्याः कुचकुम्भौ विरेजतुः।
पूर्णौ कामरसस्येव नीलरत्नाभिमुद्रितौ॥6/71॥
स्तनांशुकं शुकच्छायं तस्याः स्तनतटाश्रितम्।
बभासे रुद्धपङ्केजकुट्मलं शैवलं यथा॥6/72॥
हारस्तस्याः स्तनोपान्ते नीहाररुचिनिर्मलः।
श्रियमाधत्त फेनस्थ कञ्जकुट्मलसंस्पृशः॥6/73॥
ग्रीवास्या राजिभिर्भेजे कम्बुबन्धुरविभ्रमम्।
स्रस्तावंसौ च हंसीव पक्षती सा दधे शुची॥6/74॥
मुखमस्या दधे चन्द्रपद्मयोः श्रियमक्रमात्।
नेत्रानन्दि स्मितज्योत्स्नं स्फुरद्दन्ताशुकेशरम्॥6/75॥
स्वकलावृद्धिहानिभ्यां चिरं चान्द्रायणं तपः।
कृत्वा नूनं शशी प्रापत् तद्वक्त्रस्योपमानताम्॥6/76॥
कर्णौ सहोत्पलौ तस्या नेत्राभ्यां लङ्घतौ भृशम्।
स्वायत्यारोधिनं को वा सहेतोपान्तवर्त्तिनम्॥6/77॥

सूक्तों की भाषा में जिनसेनाचार्य ने बड़े दुरूह से दुरूह विषयों के सूक्ष्म से सूक्ष्म अंशों के रूप में अनन्तभाव को बड़े सहज ही व्यक्त कर दिया है, लगता है मानों गागर में सागर भर दिया हो। यथा-

विशुद्धपरिणामेन भक्तिः किं न फलिष्यति॥6/110॥

और

दहत्यधिकमन्यस्मिन् माननीयविमानता॥6/138॥

संस्काराः प्राक्तनां नूनं प्रेरयन्त्यङ्गिनो हिते॥9/97॥

प्रायः श्रेयोऽर्थिनो बुधाः॥11/5॥

विद्या यशस्करी पुंसां विद्या श्रेयस्करी मता।
सम्यगाराधिता विद्यादेवता कामदायिनी॥16/99॥

न तत्सुखं परद्रव्यसंबन्धादुपजायते।
नित्यमव्ययमक्षय्यमात्मोत्थं हि परं शिवम्॥21/209॥

इस प्रकार आदिपुराण की सम्पूर्ण भाषा के सन्दर्भ में कहा जा सकता है कि जहाँ भाषा का उद्देश्य केवल कुल परम्परा आदि के तथ्यों को कहना है, उसकी सरणि को बताना है, वहाँ आदिपुराण इतिहास है; जहाँ शाश्वत सत्यों को उद्घाटना करनी है वहाँ सूक्तभाषा है और जहाँ धर्म-दर्शन के सिद्धान्तों को रखना है वहाँ कविता कामिनी की तरह व्यंग्य प्रधान भाषा न रखकर साक्षात् विषयोन्मुखी अभिधाधर्मी धार्मशास्त्रीय भापा गढ़ी है रचनाकार ने। जिसे दूसरे रूप में कहा जा सकता है कि आदिपुराण की भाषा विषयानुगामिनी या यूँ कहें कि परिस्थित्यानुगामिनी है। उसे जहाँ आवश्यकता है वहाँ वह श्लिष्टपदावली से संयुक्त है, जहाँ विरल शब्दों की अपेक्षा है वहाँ वह स्फुट पदरूप है, जहाँ आलंकारिकता की अपेक्षा है वहाँ अलंकारमयी और रसमयी भी। कुल मिलाकर प्रयोजनवती भाषा है आदिपुराण की, इसलिए उसे सामान्य भाषा के मापकों के आधार पर नहीं तौला जाना चाहिए। सामान्य भाषागत विशेषताओं के सन्दर्भ में आदिपुराण पर दृष्टि डालें तो सन्नन्त प्रक्रिया, नामधातु प्रक्रिया का प्रचुर प्रयोग इनकी भाषा में मिलता है, पर है वह सार्थ ही। यथा-धर्मारामतरूयन्ते (2/15); सार्थवाहायते (2/19) आदि अनेक प्रयोग।

निदेशक-हिन्दी व्याकरण इकाई
महात्मा गांधी अन्तर्राष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय
बी-1/132, सेक्टर-जी, अलीगंज, लखनऊ

सर्वघाति और देशघाति कर्म प्रकृतियाँ-एक चिन्तन

- डॉ. श्रेयांस कुमार जैन

जैनागम में कर्म सिद्धान्त का विस्तार पूर्वक प्रतिपादन है। आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने गोम्मटसागर कर्मकाण्ड नामक स्वतन्त्र ग्रन्थ के माध्यम से कर्म का स्वरूप, कर्म की मूल एवं उत्तर प्रकृतियां, कर्म की विविध अवस्थाएं, कर्म फल, जीव और कर्म के सम्बन्ध आदि विषयों का विस्तार के साथ वर्णन किया है। इसी के आधार पर कर्म के वैशिष्ट्य के साथ जीव के स्वभाव को प्रगट न होने देने वाली कर्म की शक्ति पर विचार किया है। इसी के आधार पर कर्म के वैशिष्ट्य के साथ जीव के स्वभाव को प्रगट न होने देने वाली कर्म की शक्ति पर विचार किया जा रहा है।

जीव के साथ बन्धने वाले विशेष जाति के पुद्गल स्कन्ध कर्म है। ये सूक्ष्म जड़रूप होते हैं। जीव के प्रदेशों में प्रवेश पाते हैं। यह अनादि परम्परा है। अर्थात् जीव और कर्म का खान से निकले स्वर्ण पाषाण की भाँति अनादि सम्बन्ध है अथवा जैसे बीज और अंकुर की सन्तान परम्परा अनादि है उसी प्रकार जीव और कर्म की परम्परा अनादि है[1], किन्तु अनादि के साथ साथ सान्त और अनन्त भी है, जिस प्रकार बीज को अग्नि में जला दिया जाय तो उस बीज से अंकुरोत्पति असंभव है उसी प्रकार भव्य जीव साधना के माध्यम से कर्मो को आत्मा से पृथक् कर देता है तो वह पुन: कर्मबद्धता को प्राप्त नहीं होता। अभव्य जीव की अपेक्षा कर्म का सम्बन्ध अनादि अनन्त है, क्योंकि वह कर्म को अपने से कभी भी पृथक् नहीं कर सकता है[2]।

संसार अवस्था में तो प्रतिक्षण सभी जीव कर्मों तथा नो कर्मों को ग्रहण करते हैं जैसा कि कहा है -''जीव औदारिक आदि शरीर नामकर्म के उदय से योग सहित होकर प्रतिसमय कर्म-नोकर्म वर्गणा को सर्वांग से

ग्रहण करता है यथा तपाया हुआ लोहे का गोला सर्वांग से जल को ग्रहण करता है।

कर्मत्व की अपेक्षा समस्त कर्मों को एक कहा जा सकता है, किन्तु द्रव्यकर्म और भावकर्म की अपेक्षा से उसके दो भेद हो जाते हैं, जो जिस पुद्गल पिण्ड को ग्रहण करता है, वह द्रव्यकर्म है और उसकी फलदायिनी शक्ति का नाम भावकर्म है[3]। जीव के भावों का निमित्त पाकर 'कर्म' नामक सूक्ष्म जड़ द्रव्य जीव के प्रदेशों में एक क्षेत्रावगाही होकर स्थित हो जाता है। नाना प्रकार के फल को देता है, उसी का निरूपण किया जा रहा है। आगम में अनुभागबन्ध को 24 अनुयोग द्वारों का आलम्बन लेकर ओघ और आदेश प्रक्रिया अनुसार विस्तार से निबद्ध किया गया है[4]। प्रथमत: संज्ञा अनुयोग द्वार में संज्ञा के दो भेद बतलाये गये हैं-(1) घातिसंज्ञा (2) स्थानसंज्ञा।

जो आत्मा के ज्ञान, दर्शन, सम्यक्त्व, चारित्र, सुख, वीर्य दान, लाभ, भोग और उपभोग आदि अनुजीवी गुणों का घात करते हैं, उन्हें घातिकर्म कहते हैं। ये ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय नामक चार कर्म हैं तथा जो कर्म उक्त ज्ञान दर्शन आदि गुणों का घात करने में समर्थ नहीं हैं, उन्हें अघातिकर्म कहते हैं। इनके नाम वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र हैं[5]।

घातिया और अघातिया कर्मों पर विशेष विचार करने से पूर्व मूल कर्मप्रकृतियों के क्रम और उनकी संगति पर विचार कर लेना भी उचित है।

णाणस्स दंसणस्स य आवरणं वेयणीय मोहणियं।
आउगणामं गोदंत्तरायमिदि अट्ठ पयडीओ॥ गो.कर्म.गा. 8

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय ये कर्म की मूल प्रकृतियां हैं।

मूल कर्म प्रकृतियां घातिकर्म और अघातिकर्म के रूप में विभक्त हैं किन्तु वेदनीय नामक अघातिकर्म को घातिकर्म के साथ रखना और अन्तराय नामक घातिकर्म को अघातिकर्म के साथ रखना साभिप्राय है। इसी पर विचार किया जा रहा है : वेदनीय कर्म की गणना मोहनीय कर्म से पूर्व घातियाकर्मो के साथ की गई किन्तु जीवविपाकी नाम और वेदनीय कर्मों को घातिया नहीं माना जा सकता है, क्योंकि उनका कार्य अनात्मभूत

सुभग दुर्भग आदि जीव पर्यायों को उत्पन्न करना है, इनमें जीव के गुणों का विनाश करने की शक्ति नहीं होती है[6]। वेदनीय कर्म रति और अरति मोहनीय कर्म के साथ ही जीव के गुणों को घातता है। इस कारण वेदनीय को मोहनीय से पहिले घातियाकर्मों के साथ रखा गया है। हां, वह स्वयं तो अघातिया ही है, किन्तु मोहनीय कर्म के संयोग से घातियावत् कार्य करता है[7]।

अन्तराय कर्म के सम्बन्ध में भी चिन्तन की आवश्यकता है-कि यह घातियाकर्म अनुभाग के अन्तर्गत है, फिर इसे अघातियाकर्मो के अन्त में क्यों रखा गया है? इसके सम्बन्ध में आचार्य श्री वीरसेन स्वामी ने यह समाधान दिया है कि नाम गोत्र और वेदनीय इन तीन कर्म के निमित्त से ही इसका व्यापार है। यही कारण है कि अघातिया कर्मो के अन्त में अन्तरायकर्म को कहा गया है। अन्तरायकर्म का नाश हो जाने पर अघातियाकर्म भुने हुए बीज के समान नि:शक्त हो जाते हैं[8]।

इस प्रकार मूल कर्म प्रकृतियों की गणना एवं कंचन के औचित्य को समझकर एवं घातिकर्म तथा अघातिकर्म की व्यवस्था जानकर बन्ध की अपेक्षा से कर्म के भेदों पर विचार किया जा रहा है। बन्धापेक्षा से कर्म प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश रूप चार प्रकार का है। इनमें से प्रकृति और प्रदेश योग-मन, वचन, काय की प्रवृत्ति से होते हैं तथा स्थिति और अनुभाग क्रोधादि कषायों के द्वारा होते हैं[9]।

बन्ध प्रक्रिया में अनुभाग का विशेष स्थान है। विविध कर्मो की फलदान शक्ति अनुभव या अनुभाग है। तत्त्वार्थसूत्रकार "विपाकोऽनुभव:" अनुभागकर्म के फल को कहते हैं। अनुभाग बन्ध कषायों की तीव्रता, मन्दता और द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भाव के अनुसार अनेक प्रकार का होता है। जीव के भावों के अनुसार ही फलदान शक्ति में तरतमता होती है। जैसे उबलते हुए तेल की एक बूंद शरीर को जला डालती है परन्तु कम गर्म मन भर तेल भी शरीर को नहीं जलाता है, उसी प्रकार अधिक अनुभाग युक्त थोड़े से कर्म जीव के गुणों का घात करने में समर्थ होते हैं, परन्तु अल्प अनुभाग युक्त अधिक कर्म भी जीव के गुणों का घात करने में समर्थ नहीं होते हैं।

कर्मबन्ध में अनुभाग की प्रधानता होती है। कर्म प्रदेशों के अधिक होने पर यह आवश्यक नहीं कि कर्म के अनुभाग में भी वृद्धि हो क्योंकि अनुभाग बन्ध कषाय से होता है[10]।

मूल और उत्तर कर्म प्रकृतियों का अनुभाग की अपेक्षा ही वस्तुतः घाति[11] और अघातिरूप से विभाजन है।

घातिकर्म-सर्वघाति और देशघाति दो भेद रूप हैं[12]।

पूर्ण रूप से गुणों को घात करने वाला अनुभाग या कर्म प्रकृतियां सर्वघाति हैं। सर्वघातिकर्म प्रकृतियां आत्मशक्ति के एक अंश को भी प्रकट नहीं होने देती हैं। आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती इनकी संख्या बतलाते हुए लिखते हैं -

केवल णाणावरणं दंसणछक्कं कसायवारसयं।
मिच्छं च सव्वघादी सम्मामिच्छं अबंधम्हि॥ गो.क.गा. 32

केवलज्ञानावरण, दर्शनावरण की छह, कषाय बारह, एवं मिथ्यात्व ये 20 प्रकृति बन्ध की अपेक्षा सर्वघाति है। यहाँ इतना विशेष है कि सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति किचिञ्त् सर्वघाति तो है किन्तु बन्ध योग्य नहीं है, उदय और सत्व में जात्यन्तर रूप से सर्वघाति है। अतः उदय और सत्व की अपेक्षा इक्कीस प्रकृतियां सर्वघाति हैं।

एक देश रूप से गुणों का घात करने वाले हीन शक्ति युक्त अनुभाग (कर्मप्रकृतियों) को देशघाति कहा जाता है। देशघाति कर्मप्रकृतियां आत्मा के आंशिक रूप को प्रगट होने देती हैं अर्थात् आत्मा की आंशिक प्रगटता में बाधक नहीं होती हैं। ये प्रकृतियां संख्या में छब्बीस बतायी गयी हैं अर्थात् मति-श्रुत-अवधि, मन पर्ययज्ञानावरण की चार, दर्शनावरण की चक्षु, अचक्षु, अवधि तीन, सम्यक्त्व प्रकृति दर्शनमोह सम्बन्धी एक सञ्ज्वलन कषाय रूप क्रोध, मान, माय, लोभ, हास्य रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुंवेद, नपुंसकवेद ये चारित्रमोहनीय की तेरह और अन्तराय की दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य ये पांच। इस प्रकार ये सभी 26 प्रकृतियां देशघाती हैं[13]।

उक्त सर्वघाति और देशघाति सभी प्रकृतियां अप्रशस्त रूप ही होती हैं। अर्थात् से सभी पाप प्रकृतियां हैं। इनके स्थान चार प्रकार के बतलाये गये हैं-एक स्थानीय, द्वि स्थानीय, त्रि स्थानीय और चतुः स्थानीय[14]। जिसमें लता के समान लचीला अति अल्प फलदान शक्ति युक्त अनुभाग पाया जाता है, वह एक स्थानीय अनुभाग कहलाता है। जिसमें दारु (काण्ठ) के समान कुछ सघन और कठिन फलदान शक्तियुक्त अनुभाग

पाया जाता है, वह द्विस्थानीय अनुभाग कहलाता है। जिसमें हड्डी के समान सघन होकर अतिकठिन फलदान शक्ति युक्त अनुभाग पाया जाता है, वह त्रिस्थानीय अनुभाग कहलाता है। जिसमें पाषाण के समान कठिनतम सघन फलदान शक्तियुक्त अनुभाग पाया जाता है, वह चतुःस्थानीय अनुभाग कहलाता है[15]। आचार्य श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने कर्म प्रकृतियों की तरतमावस्था को लता, दारु अस्थि और शैल के उदाहरण द्वारा ही स्पष्ट किया है[16]। अर्थात् ज्ञान को आच्छादित करने वाली प्रकृति मोहनीय और विघ्न की कारणभूतअन्तराय प्रकृति की शक्ति लता, दारु अस्थि और शैल के समान है, जिस प्रकार लता आदि में क्रमशः अधिक-अधिक कठोरता पाई जाती है, उसी प्रकार इन कर्म स्पर्द्धक-कर्मवर्गणा समूहों में अपने फल देने की शक्ति रूप अनुभाग क्रमशः अधिक अधिक पाया जाता है। इन लता, दारु, अस्थि और शैल में से लता भाग के सम्पूर्ण और दारु के बहुभाग स्पर्द्धक देशघाति हैं, क्योंकि ये स्पर्द्धक आत्मा के सम्पूर्ण गुणों का घात नहीं करते हैं। दारु के शेष स्पर्द्धक और अस्थि व शैल के सम्पूर्ण स्पर्द्धक सर्वघाति कहलाते हैं क्योंकि ये आत्मा के किसी भी गुण या गुणांश को उत्पन्न नहीं होने देते हैं। एक ही कर्म प्रकृति में देशघाति और सर्वघाति दोनों प्रकार के शक्त्यंश भी पाये जाते हैं जैसे जहाँ अवधिज्ञान का अंश भी प्रकट न हो, वहाँ अवविज्ञान के सर्वघाति स्पर्द्धकों का उदय जानना चाहिए जहाँ अवधिज्ञान और अवधि ज्ञानावरण भी पाया जाता है, वहाँ अवधिज्ञानावरण के देशघाति शक्त्यंशों का उदय जानना। दोनों प्रकार के स्पर्धक केवल देशघाति कर्म प्रकृतियों में ही होते हैं। जो प्रकृतियां सर्वघातिनी हैं, उनके सभी स्पर्द्धक देशघाति होते हैं अर्थात् जो स्पर्द्धक त्रिस्थानिक और चतुः स्थानिक रसवाले होते हैं, वे देशघाति भी होते हैं और सर्वघाति भी होते हैं किन्तु एक स्थानिक रसवाले स्पर्द्धक देशघाति ही होते हैं।

आचार्य श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने मूल कर्म प्रकृतियों में से मिथ्यात्व प्रकृति का वैशिष्ट्य बताते हुए कहा है-लता भाग से लेकर दारु के अनन्तवें भाग बिना शेष बहुभाग के अनन्त खण्ड करें, उनमें से एक खण्ड प्रमाण स्पर्द्धक भिनन ही जाति की सर्वघाति मिश्र प्रकृतिरूप हैं तथा शेष दारु के बहुभाग और अस्थि तथा शैलरूप स्पर्द्धक सर्वघाति मिथ्यात्वप्रकृति रूप जानना[17] आर्यिका 105 श्री आदिमती जी ने एक उदाहरण के माध्यम से इस विषय को स्पष्ट किया है : "माना कि दर्शनमोहनीयकर्म की

अनुभाग शक्ति के स्पर्धक 120 है और अनन्त की संख्या 4 मान लो, लता भाग की शक्ति के स्पर्द्धक 8, दारुभाग के स्पर्धक 16, अस्थिभाग के स्पर्धक 32 तथा शैल भाग के स्पर्धक 64 हैं अर्थात् 8+16+32+64=120 में दर्शनमोहनीयकर्म की अनुभाग शक्ति के स्पर्धक हैं। इनमें से लताभाग के 8 दारु भाग का अनन्तवां भाग 16÷4=4 इस प्रकार 8+4=12 भाग सम्यक्त्व प्रकृति को मिलेंगे। मिश्र प्रकृति को दारुभाग के 16-4=12 भाग जो शेष उसका अनन्तवां भाग अर्थात् 12÷4=3 भाग मिथ्यात्वप्रकृति को दारु भाग में से 9 भाग बचे तथा अस्थिभाग की अनुभाग शक्ति के स्पध 'क 32 व शैल भाग के स्पर्धक 64 मिलाकर (9+32+64=105) स्पर्धक मिलेंगे।

यह जानाना आवश्यक है कि कौन-कौन सी देशघाति और सर्वघाति कर्म प्रकृतियां शक्ति की अपेक्षा किस किस रूप से परिणत होती हैं? मति, श्रुत, अवधि, मन:पर्यय ज्ञानावरण, चक्षु, अचक्षु अवधि दर्शनावरण अन्तराय, 4 संज्वलन और एक पुरुषवेद ये 16 प्रकृतियां शैल, अस्थि, दारु और लता इन चार भावरूप से परिणत होती हैं। शैल भाग के अभाव में शेष तीन रूप से परिणत होती हैं। शैल, अस्थि एवं दारु के अभाव में शेष दो रूप से परिणत होती हैं। शैल अस्थि एवं दारु के अभाव में मात्र लता रूप से ही परिणत होती हैं। उक्त 16 व सम्यक्त्व और मिश्र को छोड़कर शेष घातिया कर्म की प्रकृतियां तीन भाव रूप होती हैं[18]। केवलज्ञानावरण केवलदर्शनावरण 5 निद्रा और अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान क्रोध, मान माया, लोभ रूप 12 कषाय के सर्वघाति स्पर्द्धक ही हैं देशघाति नहीं। अत: इनके स्पर्द्धक शैल, अस्थि और दारु के अनन्त बहुभाग रूप हैं। शैल के अभाव ये शेष दो रूप और शैल अस्थि के अभाव में मात्र दारु के अनन्त बहुभाग रूप से हैं। पुरुष वेद बिना 8 नोकषाय केवल लता रूप परिणत न होकर चार रूप और तीन रूप विकल्प से परिणत होती है।

परिणमन अवस्था को जानने के अनन्तर दोनों प्रकृतियों की सहभावी अवस्था बताया जा रहा है। देशघाति और सर्वघाति जब एक साथ काम करेगी तब क्षयोपशम अवस्था आती है किन्तु क्षयोपशम में देशघाति का उदय और सर्वघाति का अनुदय होना चाहिए। यदि अन्य कर्म भी उस गुण के क्षयोपशम में बाधक हों तो उस कर्म के भी उस गुण को घात करने

वाले सर्वघाति स्पर्द्धकों का अनुदय होना चाहिए और मतिज्ञानावरण के देशघाति स्पर्द्धकों का उदय होना चाहिए।

सर्वघातिकर्म प्रकृतियों के विषय में यह ज्ञातव्य है कि ये स्वमुख से क्षय को प्राप्त नहीं होती हैं। सर्वघाति द्रव्य देशघाति रूप बदलकर ही क्षय को प्राप्त होता है। एक उदाहरण के माध्यम से इस प्रकार से जाना जा सकता है कि नगर निगम की विशाल टंकी जल से भरी हुई है, किन्तु उससे सीधा पानी नहीं लिए जाने के कारण वह खाली नहीं होती है, उस टंकी से पानी पाइप के द्वारा उपभोक्ता के मकान तक पहुंचता है। मकान में लगे हुए जल मीटर से निकलकर रसोई या स्नानगृह में लगी हुई टोंटी से पानी उपभोक्ता व्यय करता है। पानी घर में लगी टोंटी से व्यय होता है और खाली नगर निगम की मुख्य टंकी होती है। इसी प्रकार सर्वघातिकर्म प्रकृतियों का द्रव्य देशघाति रूप परिवर्तित होकर देशघाति रूप से क्षय होता है और सर्वघाति प्रकृति शक्तिहीन होती जाती है। अनन्तर पूर्ण रूप से क्षय को प्राप्त हो जाती हैं।

धवल आदि आगम ग्रन्थों में सर्वघाति और देशघति प्रकृतियों के विषय में शंका समाधान के माध्यम से बहुत अधिक ऊहा-पोह किया गया है। यहाँ एक ही प्रसंग लिया जा रहा है। शंका-केवलज्ञानावरणीय कर्म सर्वघाति या देशघाति हैं। सर्वघाति नहीं हो सकता है। क्योंकि केवलज्ञान का अभाव मान लेने पर जीव के अभाव का प्रसंग आ जायेगा। देशघाति भी नहीं हो सकती है क्योंकि आगम सर्वघाति कहा जाने के कारण सूत्र का विरोध हो जाएगा। समाधान यह है-केवल ज्ञानावरण सर्वघाति प्रकृति ही है क्योंकि वह केवलज्ञान का निःशेष आवरण करती है, फिर भी जीव का अभाव नहीं होता क्योंकि केवलज्ञान के अनावृत होने पर भी चार ज्ञानों का अस्तित्व उपलब्ध होता है।

मिथ्यात्व प्रकृति के सर्वघातिपने को सकारण सिद्ध किया गया है और सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति के भी सर्वघातिपने की सिद्धि की गई। सम्यक्त्व प्रकृति के देशघातिपने को बतलाया है। कसायपाहुड़, षट्खण्डागम आदि आगम ग्रन्थों से विस्तारपूर्वक जानना श्रेयस्कर होगा।

उपर्युक्त प्रतिपादन सर्वघाति और देशघाति कर्म प्रकृतियों के स्वरूप और कार्य पर संक्षिप्त ही प्रकाश डालना है विशेष बोध हेतु करुणानुयोग का विपुल साहित्य उपलब्ध है।

सन्दर्भ

1. पयडी सील सहावो जीवं गाणं अणाइ संबधो।
कणयो बलं मलं वा ताणथित्तं सयं सिद्ध।। गो-कर्म-2

2. देहोदयेण सहिओ जीवो आहरदि कम्म णोकम्मं।
पडिसमयं सव्वंगं तत्ताय सपिंड ओव्व जलं।। गो-कर्म-3

3. कम्मत्तणेण एक्कं दव्वं भावोत्ति होदि कुविहंतु।
पोग्गल पिंडो दव्वं तस्सत्ती भावकम्मं दु।। गो-कर्म-6

4. महाबन्ध

5. आवरण मोहविग्घं घादी जीव गुणघादणत्तादो।
आउगणामं गोदं वेयणियं तह अघादित्ति।। गो-कर्म-गा-8

6. "जीवगुण विणासयत्तत विरहादो "धवल पु. 6/2 पृष्ठ 63

7. "घादिव वेयणीयं मोहस्स वलेण घाददे जीवं" गो.क.गां. 19

8. शेषघातित्रितयविनाशाविनाभाविनो।
भ्रष्टबीजवन्निशक्ति कृताघातिकर्मणी।। धावल पु. 1 पृ. 44

9. पयडि-ट्ठिदि अणुभाग प्पदेस भेदा दु चदुविधो बंधो।
जोगापयडि-पदेसा ठिदि अणुभागा कसायदो होंति।।231।। जिनवाणी

10. धवल पु. 12/4 पृ. 115

11. तत्र ज्ञान दर्शनावरण मोहान्तरायाख्या घातिका। राज.वा.पृ. 584

12. घातिकाश्चापि द्विविधा सर्वघातिका देशघातिकाश्च।। रा.वा.पृ. 584

13. णाणावरण चउक्कं तिदंसणं सम्मगं च संजलणं।
णव णो कसाय विग्घं छव्वीसा देसघादीओ।। गो.क.गा. 40

14. महाबन्ध भाग 2

15. घाति कर्मणामनुभागो लता दार्वस्थि शैलसमानचतु: स्थानम्।। कर्म प्रकृति 545.

16. सत्ती य लदा दारु अट्ठी से लोवमाहु घादीणं।
दारु अणंतिमभागोत्ति देसघादी तदो सव्वं।। गो.कर्म.गा. 180

17. देसोत्ति हवे सम्मं तत्तो दारु अणंतिमे मिस्सं।
सेसा अणंतभागा अत्थिसिला फड्ढया मिच्छे।। गो.कर्म 181

18. गोम्मटसार कर्मकाण्ड 182

निदेशक-दिगम्बर जैन मुनि विद्यानंद शोधपीठ, बड़ौत

आचार्य अजितसेन की दृष्टि में उपमा

- डॉ. संगीता जैन

उपमा का शाब्दिक अर्थ है-सादृश्य, समानता एवं तुल्यता आदि। 'उप सामीप्यात् मानम् इत्युपमा' अर्थात् उप और मा इन दो शब्दों के योग से बना है या माप (तौलना)। इसमें दो पदार्थो को समीप रखकर तुलना की जाती है, एक पदार्थ का दूसरे पदार्थ के साथ सादृश्य स्थापित किया जाता है। उपमा सादृश्यमूलक अलंकार है। इसमें सादृश्य के कारण जो सौन्दर्यानुभूति होती है, उसी की प्रधानता है।

उपमालंकार सभी अर्थालंकारों में प्रमुख है। इसे अलंकारों का मूलभूत स्वीकार किया गया है।[1] संस्कृत के प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद में उपमा के प्रचुर उदाहरण उपलब्ध होते हैं तथा उपनिषद्, रामायण, महाभारतादि ग्रन्थों में भी इसके उदाहरण विद्यमान हैं। इस प्रकार उपमा की प्राचीनता असंदिग्ध है। उपमा का सर्वप्रथम शास्त्रीय विवेचन यास्क कृत निरुक्त में है।[2] इस प्रकार निरुक्त के प्रमाण से यह स्पष्ट है कि यास्क से पूर्व उपमा का विवेचन गार्ग्य आदि आचार्यो द्वारा हो चुका था और वेद-मन्त्रों के अर्थ में उपमा की व्याख्या की जाती थी।

आलंकारिकों ने उपमा को अत्यन्त गौरवशाली पद प्रदान किया है। सभी अर्थालंकारों में उपमा को ही प्रथम स्थान प्राप्त होता है।[3] राजशेखर ने उपमा को अलंकारों का शिरोरत्न कहकर इसकी महिमा का बखान किया है। भरत के नाट्यशास्त्र में उल्लिखित चार अलंकारों में उपमा भी है। प्रसिद्ध आलंकारिक एवं अलंकारसर्वस्व के रचयिता राजानक रुय्यक ने उपमा को अलंकारों का 'बीजभूत' कहकर इसकी प्रशस्ति का गान किया है। रुय्यक के अनुसार इसका प्रधान कारण उपमा का अनेक प्रकार से वैचित्र्यपूर्ण होना ही है।

आचार्य अजितसेन ने सर्वप्रथम अनेक अलंकारों का कारण होने से उपमा का लक्षण कहा है। उन्होंने उपमा की परिभाषा देते हुए कहा है-

वर्ण्यस्य साम्यमन्येन स्वतः सिद्धेन धर्मतः।
भिन्नेन सूर्यभीष्टेन वाच्यं यत्रोपमैकदा॥[4]

स्वतो भिन्नेन स्वतः सिद्धेन विद्वत्संमतेन अप्रकृतेन सह प्रकृतस्य यत्र धर्मतः सादृश्यं सोपमा। स्वतः सिद्धेनेत्यनेनोत्प्रेक्षानिरासः॥ अप्रसिद्धस्याप्युत्प्रेक्षा-यामनुमानत्वघटनात्॥ स्वतो भिन्नेनेत्यनेनानन्वयनिरासः। वस्तुन एकस्यैवानन्वये उपमानोपमेयत्वघटनात्। सूर्यभीष्टेनेत्यनेनहीनोपमादिनिरासः।[5]

अर्थात् स्वतः पृथक् तथा स्वतः सिद्ध आचार्यो के द्वारा अभिमत अप्रकृत का एक समय धर्मतः सादृश्य वर्णन करना, उपमालंकार है। इस लक्षण में 'स्वतः सिद्धेन' यह विशेषण नहीं दिया जाता तो उत्प्रेक्षा में भी उपमा का लक्षण घटित हो जाता, क्योंकि स्वतः अप्रसिद्ध का भी उत्प्रेक्षा में अनुमान उपमानत्व होता है। इसी प्रकार 'स्वतः स्वतोभिन्नेन' यदि लक्षण में समाविष्ट न किया जाता तो अनन्वय में भी उपमा का लक्षण प्रविष्ट हो जाता, क्योंकि एक ही वस्तु को उपमान और उपमेय रूप से अनन्वय में कहा जात है। यदि उपमा के उक्त लक्षण में 'सूर्यभीष्टेन' पद का समावेश नहीं किया जाता तो हीनोपमा में भी उपमा का उक्त लक्षण प्रविष्ट हो जाता। अतः उपमा के लक्षण में 'सूर्यभीष्टेन' आचार्याभिमत दिया गया है।

अजितसेन ने उपमा का यह लक्षण पदसार्थक पूर्वक दिया है। उन्होंने प्रत्येक पद की सार्थकता दिखलाकर अन्य अलंकारों के साथ उसके पृथकत्व की सिद्धी की है। उनके लक्षण का प्रत्येक पद अन्य अलंकारों से पृथकत्व घटित करता है। उक्त लक्षण में 'धर्मतः' पद श्लेषालंकार का व्यवच्छेदक है, क्योंकि श्लेष में केवल शब्दों की समता मानी जाती है, गुण और क्रिया की नहीं। स्पष्ट है कि अजितसेन का उक्त लक्षण अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असम्भव तीनों दोषों से रहित है।

उपमा की परिभाषा सभी आचार्यो ने दी है किन्तु उनके लक्षण में कुछ अन्तर दिखायी पड़ता है। उपमा के लक्षण में सभी आलंकारिकों ने सादृश्य, साम्य एवं साधर्म्य में से किसी एक शब्द का प्रयोग किया है। भरत, दण्डी, जयदेव, जगन्नाथ तथा विश्वेश्वर पंडित ने सादृश्य का सन्निवेश किया है तो वामन, भामह, विद्यानाथ, विश्वनाथ एवं वाग्भट ने

साम्य का तथा उद्भट, मम्मट, रुय्यक, हेमचन्द्र ओर अजितसेन ने साधर्म्य शब्द का प्रयोग कर उपमा के स्वरूप का निरूपण किया। कुछ आचार्यों ने सादृश्यादि के अतिरिक्त उपमा की परिभाषा में गुणलेश या उसके पर्यायवाची शब्द का भी व्यवहार किया है तथा कुछ आचार्य उपमानोपमेय एवं अन्य अलंकारों से विभेद स्थापित रिने वाले शब्दों का भी समावेश करते हैं। उद्भट एवं रुय्यक उपमानोपमेय का प्रयोग करते हैं तो मम्मट, विद्यानाथ, अजितसेन, विश्वनाथ एवं विश्वेश्वर ने अन्य अलंकारों से भेद उपस्थित करने वाले शब्दों का सन्निवेश किया है।

आचार्य अजितसेन ने सर्वप्रथम उपमा के पूर्णा एवं लुप्ता दो भेद किये। इन दोनों भेदों के पुन: श्रौती एवं आर्थी के भेद से दो-दो भेद किये। पुन: वाक्यगा, समासगा तथा तद्धितगा के भेद से पूर्णोपमा के श्रौती एवं आर्थी दोनों भेदों के तीन-तीन भेद किये। इस प्रकार पूर्णोपमा के कुल छ: भेद किये। इसी प्रकार लुप्तोपमा के कुल छ: भेद किये। इसी प्रकार लुप्तोपमा के श्रौती एवं आर्थी दोनों भेदों के वाक्यगा अनुक्तधर्मा, समासगा अनुक्तधर्मा-इन दो भेदों से लुप्तोपमा श्रौती के दो भेद एवं इन दो भेदों के अतिरिक्त तद्धितगा अनुक्तधर्मा सहित लुप्तोपमा आर्थी के तीन भेद किये। लुप्तोपमा के अन्य भेद इस प्रकार हैं-कर्मणमा अनुक्तधर्मा, कर्तृणमा अनुक्तधर्मा, क्विपा अनुक्तधर्मा, कर्मक्यच् अनुक्तधर्मा, अकथित उपमान लुप्तोपमा, समासगा लुप्तोपमा, वाक्यधर्मोपमानिका समासगा, अनुक्तधर्मा इवादि सामान्यवाचक लुप्तोपमा। इसके अतिरिक्त उपमा के अन्य भेद इस प्रकार हैं-मालोपमा, धर्मोपमा, वस्तूपमा, विपर्यासोपमा, अन्योन्योपमा, नियमोपमा, अनियमोपमा, समुच्चयोपमा, अतिशयोपमा, मोहोपमा, संशयोपमा, निश्चयोपमा, श्लेषोपमा, सन्तानोपमा, निन्दोपमा, प्रशंसोपमा, आचिख्यासोपमा, विरोधोपमा, प्रतिषेधोपमा, चाटूपमा, तत्त्वाख्यानोपमा, असाधारणोपमा, अभूतोपमा, असम्भावितोपमा, विक्रियोपमा, प्रतिवस्तूपमा, तुल्ययोगोपमा एवं हेतूपमा।[6]

आचार्य अजितसेन के पूर्णोपमा एवं लुप्तोपमा के भेदों पर मम्मट का प्रभाव है तथा उपमा के अन्य भेदों पर अग्निपुराण एवं दण्डी का प्रभाव है।

उपमा के भेद-प्रभेद निरूपण के पश्चात् आचार्य अजितसेन ने उपमा में प्रयोग करने योग्य सादृश्यवाचक शब्दों का परिगणन किया है-इव, वा, यथा, समान, निभ, तुल्य, संकाश, नीकाश, प्रतिरूपक, प्रतिपक्ष, प्रतिद्वन्द्व, प्रत्यनीक, विरोधी, सदृक्, सदृक्ष, सदृश, सम, संवादि, सजातीय, अनुवादि, प्रतिबिम्ब, प्रतिचछन्द, सरूप, संमित, सलक्षणभ, सपक्ष, प्रख्य, प्रतिनिधि, सवर्ण, तुलित शब्द और कल्प, देशीय, देश्य, वत् इत्यादि प्रत्ययान्त चन्द्रप्रभादि शब्दों में समास का।[7]

इस प्रकार अजितसेन ने उपमा का बहुत विस्तार के साथ विवेचन किया है। यह विवेचन अन्य अलंकार ग्रन्थों से भिन्न न होने पर भी विशिष्ट अवश्य है।

सन्दर्भ

1. अभ्रातेव पुंस एति प्रतीची गर्तारुगिव सनये धनानाम्।
   जायेव पत्य उशती सुवासा उषा हस्तेव निर्णीते अप्सः।। ऋग्वेद 8-2-342
2. इदमिव। इदं यथा। अग्निर्न ये। चतुश्चिद् ददमानात्। ब्राह्मण ब्रतचारिणः। वृक्षस्य नु ते पुरुहुतः वयाः। जार आ. भगम्। मेषो भूतो३भियत्रयः। तद्रूपः। तदवर्णः। तद्वत्। तथेत्युपमा।।13।।तृतीयोऽध्यायः।
3. अलंकारशिरोरत्नं सर्वस्वं काव्यसम्पदाम्।
   उपमा कविवंशस्य मातैवेति मतिर्मम।। -अलंकारशेखर पृ. 34
4. अलंकारचिन्तामणि, 4/18
5. वही, पृ. 120
6. द्रष्टव्य, अलंकारचिन्तामणि, 4128-89
7. वही, पृ. 140

द्वारा-श्री जम्बूप्रसाद जैन, पटेल नगर, मुजफ्फरनगर

प्राचीन भारत पुस्तक में कुछ और भ्रामक कथन

- **राजमल जैन**

उपर्युक्त पुस्तक की सामग्री का अध्ययन करने से यह तथ्य सामने आया है कि लेखक ने अनेक भ्रामक बातें प्राचीन इतिहास में जैन योगदान के संबंध में लिखी हैं या उन्हें ओझल कर दिया है जो कि किशोर विद्यार्थियों को भ्रम में डाल सकती हैं। ऐसी कुछ बातों के संबंध NCERT तथा विद्वानों का ध्यान इस ओर आकर्षित किया जाता है।

1. वैदिक भरत के नाम पर भारतवर्ष नहीं

श्री वासुदेव शरण अग्रवाल, अध्यक्ष, भारत विद्या विभाग, बनारस विश्वविद्यालय ने भरत से भारत की तीन व्युत्पत्तियां बताई थीं। एक तो अग्नि (भरत) से, दूसरी दुष्यन्त के पुत्र भरत से और तीसरी मनु (भरत) से।

विचाराधीन पुस्तक के दूसरे ही पृष्ठ पर श्री शर्मा ने लिखा है-"भारत के लोग एकता के लिए प्रयत्नशील रहे। उन्होंने इस विशाल उपमहाद्वीप को एक अखण्ड देश समझा। सारे देश को भरत नामक एक प्राचीन वेश के नाम पर **भारतवर्ष** (अर्थात् भरतों का देश) नाम दिया और इस देश के निवासियों को **भारतसन्तति** कहा।"

उपर्युक्त लेखक ने अप्रत्यक्ष रूप से यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि वेदों में भरत नाम आया है और उसी के नाम पर यह देश भारत कहलाता है। यह नाम किसे दिया गया, यह उन्होंने स्पष्ट नहीं किया। वेदों में अग्नि को भरत कहा गया है क्योंकि वह अन्न आदि पकाने में सहायक होने के कारण सब का भरण करती है। इस प्रकार अग्नि के नाम भरत को यह श्रेय दिया जाता है कि इस कल्पित भरत के नाम पर यह देश भारत कहलाता है।

अग्नि के संबंध में श्री अग्रवाल ने लिखा था, "ऋग्वेद में ही अग्नि को भारत कहा गया है...अग्नि भरत है क्योंकि वह प्रजाओं को भरता है।

देश में जहां-जहां अग्नि फैलता है प्रजाएं उसकी अनुगामी होकर उस प्रदेश में भर जीती हैं...इस प्रकार समग्र भूमि भरत अग्नि का व्यापक क्षेत्र बन गई और यही भरतक्षेत्र भारत कहलाया।'' इस व्याख्या को पुराणों ने स्वीकार नहीं किया और ऋषभ के पुत्र भरत के नाम पर भारत स्वीकार किया।

दूसरी व्युत्पत्ति मनु भरत के संबंध में उन्होंने लिखा था कि प्राचीन अनुश्रुति के अनुसार ''सब प्रजाओं का भरण करने और उन्हें जन्म देने के कारण मनु को भरत कहा गया। नाम की उस निरुक्ति के अनुसार यह वर्ष भारत कहलाया...ऋग्वेद काल में भरत आर्यों की एक प्रतापी शाखा या जन की संज्ञा थी।'' यदि श्री शर्मा का संकेत इस व्युत्पत्ति की ओर है, तो वह भी पुराणों में स्वीकृत नहीं हुई।

वैदिक आर्यो ने तो अपने देश को **सप्तसिंधु** (सात नदियों का देश) कहा है। उसकी सीमा में काबुल, सिंध, पंजाब और कश्मीर आते थे। इस छोटे-से प्रदेश के बाशिंदों ने अपने प्रदेश का भी नाम बदल कर शेष अज्ञात पूरे भारत को भारतवर्ष नाम दे दिया होगा यह विश्वसनीय नहीं जान पड़ता। समर्थन में पं. कैलाशचंद की पुस्तक से एक उद्धरण प्रस्तुत है-''ऋग्वेद में सप्तसिंधव देश की ही महिमा गाई गई है। यह देश सिंधु नदी से लेकर सरस्वती नदी तक था। (सरस्वती नदी का नाम तो ऋग्वेद में केवल एक बार ही आया है।) इन दोनों नदियों के बीच में पूरा पंजाब और काश्मीर आता है तथा कुभा नदी जिसे आज काबुल कहते हैं, उसकी भी वेद में चर्चा है। अत: अफगानिस्तान का वह भाग जिसमें काबुल नदी बहती है, आर्यो के देश में गर्भित था। यह सप्तसिंधव देश ही आर्यो का आदि देश था। (आ. आ. 33) [आर्यो का आदि देश, संपूर्णानंद] किंतु प्राच्य भाषाविद् डॉ. सु. चटर्जी का कहना है कि प्राचीन रूढ़िवादी हिंदू मत कि आर्य भारत में ही स्वयंभूत हुए थे विचारणीय ही नहीं है (भा. आ.हिं. पृ. 20) [भारतीय आर्यभाषा और हिंदी]''

तीसरी व्युत्पत्ति दुष्यन्त संबंधी है। दुष्यन्त पुत्र भरत के नाम पर भारतवर्ष नहीं कहलाया क्योंकि उसका तो वंश ही नहीं चला। उसके तीन पुत्रों को उसकी रानियों ने मार डाला था। इसलिए कि वे उसके अनुरूप नहीं थे (भागवत पुराण) और ऋषियों ने दुष्यन्त के वंश का अंत होने की स्थिति आ जाने पर उसे एक लड़का लाकर दिया था जो भरद्वाज

कहलाया। **कालिदास** ने भी अभिज्ञानशाकुंतल में दुष्यन्त के पुत्र के नाम पर भारत नहीं लिखा।

श्री अग्रवाल ने "भारत की मौलिक एकता' (पृ. 21-26-27) में अग्नि और अन्य व्युत्पत्ति संबंधी भूल कर बैठे थे किंतु बाद में अपनी भूल को उन्होंने सुधार लिया।

अंततोगत्वा सम्यक् विचार के बाद श्री अग्रवाल ने यह मत व्यक्त किया-"ऋषभनाथ के चरित का उल्लेख श्रीमद्भागवत में भी विस्तार से आता है और यह सोचने पर बाध्य होना पड़ता है कि इसका कारण क्या रहा होगा। भागवत में ही इस बात का भी उल्लेख है कि महायोगी भरत **ऋषभ** के शत पुत्रों में ज्येष्ठ थे और उन्हीं से दह देश भारतवर्ष कहलाया-

येषां खलु महायोगी भरतो ज्येष्ठः श्रेष्ठगुण आसीत्।
येनेदं वर्ष भारतमिति व्यपदिशन्ति।। भागवत 5/4/9।"

(श्री अग्रवाल लिखित प्राक्कथन, जैन साहित्य का इतिहास-पूर्वपीठिका, लेखक पं. कैलाशचन्द)

ऋषभ-पुत्र भरत के नाम पर भारत के लिए वैदिक पुराण यथा 1 मार्कण्डेय 2 कूर्म 3 अग्नि 4 वायु 5 गरुड 6 ब्रह्मांड 7 वाराह 8 लिंग 9 विष्णु 10 स्कंद आदि और भी पुराण देखे जा सकते हैं। इनमें से कोई भी पुराण वैदिक भरत-वंश से भारतवर्ष नाम की व्युत्पत्ति नहीं बताता है।

'पुराण-विमर्श' नामक अपनी पुस्तक में पुराण संबंधी समस्याओं का महत्वपूर्ण समाधान प्रस्तुत करने वाले प्रसिद्ध विद्वान् स्व. बलदेव उपाध्याय का मत उद्धृत करना उचित होगा। उनका कथन है-"भारतवर्ष इस देश का नाम क्यों पड़ा इस विषय में पुराणों के कथन प्रायः एक समान हैं। केवल **मत्स्यपुराण** ने इस नाम की निरुक्ति के विषय में एक नया राग अलापा है। भरत से ही भरत बना है। परन्तु भरत कौन था? इस विषय में मत्स्य (पुराण) ने मनुष्यों के आदिम जनक मनु को ही प्रजाओं के भरत और रक्षण के कारण भरत की संज्ञा दी है -

भरणात् प्रजानाच्चैव मनुर्भरत उच्यते।
निरुक्तवचनेश्चैव वर्ष तद् भरतं स्मृतम्।। मत्स्य 114।5-6।

"प्रतीत होता है कि यह प्राचीन निरुक्ति के ऊपर किसी अवांतर युग की निरुक्ति का आरोप है। प्राचीन निरुक्ति के अनुसार स्वायंभुव के पुत्र थे

प्रियव्रत जिनके पुत्र थे नाभि। नाभि के पुत्र थे ऋषभ जिनके एकशत पुत्रों में से ज्येष्ठ पुत्र भरत ने पिता का राज्य प्राप्त किया और इन्हीं राजा भरत के नाम पर यह प्रदेश 'अजनाभ' से परिवर्तित होकर भारतवर्ष कहलाने लगा। **जो लोग दुष्यन्त के नाम पर यह नामकरण मानते हैं, वे परंपरा के विरोधी होने से अप्रमाण हैं।**" पृष्ठ 333-334। अंत में उन्होंने अपने कथन के समर्थन में वायुपुराण, भागवतपुराण के उद्धरण दिए हैं।

स्व. उपाध्यायजी प्रस्तुत लेखक के बनारस हिंदू विश्वविद्यालय में संस्कृत गुरु थे। सरस, स्पष्ट शैली के धनी उपाध्यायजी 99 वर्ष की आयु में दिवंगत हुए। कुछ ही वर्षों पूर्व वे काशी के एक जैन विद्यालय में पधारे थे। सभा में उन्होंने इतना ही कहा कि यह देश ऋषभदेव के पुत्र भरत के नाम पर भारतवर्ष कहलाता है और अपने निवास स्थान लौट गए। प्रस्तुत लेखक इस लेख के माध्यम से उन्हें श्रद्धांजलि अर्पित करता है।

श्री आप्टे का विशालकाय संस्कृत-अंग्रेजी कोश भी भरत नाम की प्रविष्टि में यह उल्लेख नहीं करता है कि वेद-काल के भरत नाम पर यह देश भारत कहलाता है। यह कोश प्राचीन या पौराणिक संदर्भ भी देता है।

उपर्युक्त चौथी व्युत्पत्ति - ऋषभ-पुत्र भरत के नाम पर भारत ही भारतीय परंपरा में **सर्वाधिक** मान्य हुई है।

2. नग्न मूर्तियां नहीं, कायोत्सर्ग तीर्थंकर

ताम्र-पाषाण युग की चर्चा करते हुए श्री शर्मा ने लिखा है, "कई कच्ची मिट्टी की नग्न **पुतलियां (!)** भी पूजी जाती थीं।" (पृ. 48) उन्होंने यह स्पष्ट नहीं किया कि इनके पूजने वाले कौन थे? वे शायद यह जानते होंगे कि कुषाण काल की जो जैन मूर्तियां मथुरा में मिली हैं, उनमें 6 इंच की एक मूर्ति भी है। जैन व्यापारी जब विदेश व्यापार के लिए निकलते थे, तब वे इस प्रकार की लघु मूर्तियां अपने साथ पूजन के लिए ले जाया करते थे। आगे चलकर ऐसी प्रतिमाएं हीरे, स्फटिक आदि की बनने लगीं। वे कुछ मंदिरों में आज भी उपलब्ध और सुरक्षित हैं। अत: उन्हें 'पुतलियां' और 'पूजी जाने वाली' दोनों एक साथ कहना अनुचित है।

3. पशुपतिनाथ सील, अहिंसासूचक है

सिंधु सभ्यता की एक सील (पृ. 66) के संबंध में श्री शर्मा ने लिखा है कि उसे देखकर 'पशुपति महादेव' की छबि ध्यान में आ गई"। यदि

वे ध्यान से देखते, तो ऐसा नहीं लिखते। इस सील में तीर्थकर योग अवस्था में ध्यानमग्न है। उनके एक ओर हाथी और बाघ हैं। दूसरी ओर गैंडा है। पाठक समझ सकते हैं कि ये परस्पर बैरी या विरोधी जीव हैं किन्तु अपने बैर को भूलकर वे शांत भाव से बैठे हैं। योगी के आसन के नीचे दो हिरण बिना किसी भय के स्थित हैं। यह तीर्थकर की उपदेश सभा में जिसे समवसरण कहते है, संभव होता है। कुछ जैन मंदिरों में शेर और गाय को एक ही पात्र से पानी पीते हुए अंकित देखा जा सकता है। ऐसी एक घटना एक अंग्रेज शिकारी के साथ चटगांव में हुई थी। जब उसके हाथी ने शेर के आने पर उसे नीचे पटक दिया, तब शिकारी भागकर एक मुनि के पास जा बैठा। शेर आया किन्तु अपने शिकार के लिए आए शत्रु को बिना हानि पहुंचाए लौट गया।

वैसे पशुपति में 'पशु' शब्द का अर्थ ही गलत लगाया जाता है। उसका अर्थ देह या आत्मा है। जिसने इन्हें अपने वश में कर लिया, वही पशुपतिनाथ कहा जा सकता है। संस्कृत शब्दों का अर्थ प्रसंगानुसार करना ही उचित होता है।

इस प्रकार का एक और उदाहरण पशु संबंधी यहां दिया जाता है। ''*ऋषभो वा पशुनामाधिपतिः* (तां. वा. 14-2-5) तथा ''*ऋषभो वा पशुनां* प्रजापतिः (शत. ब्रा. 5,12-5-17) संख्यात्मक संदर्भ प्रस्तुत लेखक ने कैलाशचंदजी की पुस्तक (पृ. 109) से लिए हैं। यदि यहां पशु का अर्थ animal से लिया जाए, और ऋषभ से बैल (जैसा कि श्री शर्मा करते हैं, तो क्रमशः 'बैल पशुओं का राजा है' (शेर का क्या होगा?) और 'बैल पशुओं का प्रजापति है' यह बात गोता खा जाने की बन गई। यदि पशु का अर्थ मनुष्य या देहधारी किया जाए और ऋषभ से ऋषभदेव किया जाए, तो मतलब निकलेगा ऋषभदेव मानवों के राजा थे। यह जैन मान्यता है। दूसरे का आशय भी इसी प्रकार ऋषभदेव देहधारियों के प्रजापति थे यह होगा। जैन मान्यता है कि जब कल्पवृक्षों से मानवों की आवश्यकताएं पूरी होना कठिन हो गया, तब उस समय के मनुष्य ऋषभ के पास जीविका के उपाय पूछने गए तथा उनसे अपना अधिपति या राजा बनने की प्रार्थना की जो ऋषभ ने स्वीकार कर ली और उन्हें असि, मसि, कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प कार्यों से जीविका करने का उपदेश दिया। लोगों ने उनसे अपना शासक बनने की प्रार्थना की थी, इसलिए वे प्रजापति कहलाए। यहां यही संकेत जान पड़ता है और अर्थ भी ठीक बैठ जाता है।

यदि श्री शर्मा भागवत के पंचम स्कंध के पांचवें अध्याय के 19वें श्लोक के गोरखपुर संस्करण के हिन्दी अनुवाद को ही देख लेते, तो उन्हें यह जानकारी मिलती "मेरे इस अवतार शरीर का रहस्य साधारण जनों के लिए बुद्धिगम्य नहीं है। शुद्ध सत्व ही मेरा हृदय है और उसी में धर्म की स्थिति है। मैंने अधर्म को अपने से बहुत दूर पीछे ही ओर ढकेल दिया है। इसी से सत्पुरुष मुझे **'ऋषभ'** कहते हैं।" ये शब्द भागवतकार ने पुत्रों को उपदेश देते समय ऋषभ से कहलवाये हैं।

वैदिक कोष में भी उन्हें ऋषभ के अर्थ 'विज्ञानवान (परमयोगी), उत्कृष्ट गुणकर्म स्वभावस्य राज्ञ: तथा अनंतबल: (परमात्मा)' आदि अर्थ विद्वान लेखक को मिल जाते।

हलायुध कोष में ऋषभ को **आदिजिन: अवतारविशेष:** कहा गया है।

4. जनपद राज्य-शैशुनाक वंश

ईसा से छटी शताब्दी पूर्व में सोलह महाजनपद थे। उनकी जानकारी के संबंध में श्री शर्मा ने यह नहीं बताया कि उनके संबंध में जैन ग्रथों से सबसे अधिक सूचना प्राप्त हुई है। किन्तु बुद्ध काल में नगरों के संबंध में उनकी सूचना है कि "पालि और संस्कृत ग्रंथों में उल्लिखित अनेक नगरों को खोद (किसने?) निकाला गया है, जैसे कौशाम्बी, श्रावस्ती, अयोध्या, कपिलवस्तु, वाराणसी, वैशाली, राजगीर, पाटलिपुत्र और चम्पा।" कपिलवस्तु को छोड़कर अन्य सभी स्थान जैन ग्रंथों में अधिक चर्चित एवं वंदनीय माने गए हैं।

बिंबिसार और अजातशत्रु बुद्ध के सामने नतमस्तक हुए थे यह श्री शर्मा का कथन है। किंतु बिंबिसार महावीर का परम श्रोता था। महावीर की माता त्रिशला वैशाली गणतंत्र के अध्यक्ष चेटक की पुत्री थीं। त्रिशला की बहिन चेलना का विवाह बिंबिसार से हुआ था। बिंबिसार ने महावीर से जो प्रश्न किए, उनसे जैन पुराण भरे पड़े हैं। किंतु श्री शर्मा ने यह लिख दिया कि उस समय का राजा "बुद्ध जैसे धार्मिक महापुरुषों के आगे ही नतमस्तक होता था...बिंबिसार और अजातशत्रु इसके अच्छे उदाहरण हैं।" किंतु बिंबिसार तो बुद्ध द्वारा अपने धर्म का प्रचार करने से पहले ही महावीर का अनुयायी हो चुका था। (डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन, भारतीय इतिहास-एक दृष्टि, पृ. 63)

जहां तक अजातशत्रु का प्रश्न है, वह तो बुद्ध से यह पूछने गया था कि किस प्रकार वह वृज्जि, विदेह और वैशाली गणतंत्रों पर विजय पा सकता है। गौतम बुद्ध ने इन गणतंत्रों की सात विशेषताएं अपने शिष्य आनंद को लक्ष्य कर बताईं। उनमें यह भी थी कि जब तक ये मिलकर काम करते रहेंगे, तब तक वे वृद्धि को प्राप्त होंगे। अजातशत्रु को मंत्र मिल गया और उसने इन गणतंत्रों को अपने राज्य में मिला लिया। यह विजेता भी जैन था। किंतु बौद्ध परंपरा से बाद में जोड़ दिया गया बताया जाता है। उसने कोई बौद्ध स्मारक बनाया हो ऐसा नहीं लगता।

5. ''बुद्धकाल में राज्य और वर्ण-समाज''

यह तो संभवत: सभी जानते हैं कि ईसा पूर्व छटी शताब्दी महावीर और गौतम बुद्ध का युग था और दोनों ने ही वर्ण-व्यवस्था का विरोध किया था किन्तु श्री शर्मा ने अध्याय 13 में यह मत व्यक्त किया है कि इस युग में ''वर्ण व्यवस्था की गई और हर एक वर्ण का कर्तव्य (पेशा) स्पष्ट रीति से निर्धारित कर दिया गया।'' पृ. 126। इस कथन से बढ़ कर तथ्य-विरोध और क्या हो सकता है? एक इतिहासकार के अनुसार तो उस समय बुद्ध के बहुत ही कम अनुयायी थे। वास्तव में, वह महावीर का युग था। वे बुद्ध से ज्येष्ठ थे और बुद्ध से पहले ही अपने श्रमण धर्म का प्रचार प्रारंभ कर चुके थे। अच्छा होता कि इस अध्याय का नाम महावीर युग की स्थिति होता। यदि बुद्ध के प्रति आग्रह ही था, तो महावीर-बुद्ध युग शीर्षक हो सकता था किन्तु लेखक का उद्देश्य तो वर्ण व्यवस्था की श्रेष्ठता बताना संभवत: था।

6. वैशाली गणतंत्र

श्री शर्मा ने वैशाली गणतंत्र के प्रशासन तंत्र की चर्चा की है। किन्तु एक बार भी 'वैशाली गणतंत्र' समस्त पद का प्रयोग नहीं किया है। शायद उन्होंने यह विद्यार्थियों पर छोड़ दिया है कि वे अनुमान कर लें कि वैशाली नाम का कोई गणतंत्र भी था। श्री काशीप्रसाद जायसवाल ने उसे "Recorded Republics" में गणित किया है। उसका विस्तृत वर्णन बौद्ध साहित्य में उपलब्ध है। बुद्ध ने अंतिम वैशाली दर्शन के समय हाथी की भांति मुड़ते हुए अपने शिष्य आनंद से कहा था कि वह उनके संघ का संगठन वैशाली जैसा करे। श्री दिनकर ने वैशाली को ''संसदों की जननी'' कहा है। यह गणतंत्र विश्व का सबसे प्राचीन गणतंत्र माना जाता है जिसका लिखित विवरण उपलब्ध है।

वैशाली के लिच्छवियों की न्याय प्रणाली की श्री शर्मा ने एक प्रकार से खिल्ली उड़ाई है। वे लिखते हैं ''लिच्छवियों के गणराज्यों में एक के ऊपर एक सात न्यायपीठ होते थे जो एक ही मामले की सुनवाई बारी-बारी से सात बार करते थे। लेकिन यह **अत्यधिक उत्तम होने के कारण अविश्वसनीय** है।'' इसके विपरीत श्री जायसवाल का मत है, "Liberty of the citizen was most jealously guarded A citizen could not be held guilty unless he was considered so by the Senapati, the Upraja and the Raja seperately and without dissent " (Hindu Polity, p 46) यह अतिरिक्त सावधानी उक्त सप्त व्यवस्था के अतिरिक्त थी। उसका सबसे उच्च निर्णायक गणतंत्र का अध्यक्ष होता था। आजकल भी तो प्रेसीडेंट को क्षमादान का अधिकार सुप्रीम कोर्ट के फैसले के बाद भी है और उस पर अपनी टिप्पणी मंत्री ही भेजता है।

7. चंद्रगुप्त मौर्य दासी-पुत्र नहीं

श्री शर्मा ने अध्याय 14 को मौर्य युग नाम दिया है किंतु अन्य अध्यायों की भांति एक भी सहायक पुस्तक का नाम नहीं दिया है। अध्याय 23 में उन्होंने इतिहासकार श्री रामशंकर त्रिपाठी की पुस्तक का नाम दिया है। श्री त्रिपाठी की History of Ancient India भी उन्होंने देखी होगी। उसमें श्री त्रिपाठी ने इस बात का खण्डन किया है कि मुरा से मौर्य शब्द बना है। वास्तव में, नेपाल की तराई में पिप्पली गणतंत्र के क्षत्रिय मोरिय वंश में चंद्रगुप्त का जन्म हुआ था। इसलिए वे मौर्य कहलाए। ब्राह्मण परंपरा ने उन्हें निम्न उत्पत्ति का बतलाने के लिए यह कहानी गढ़ ली है ऐसा जान पड़ता है। इसी प्रकार इस परंपरा में जैन नंद राजाओं को भी शूद्र कहा गया है। कुछ इतिहासकार उसी को सच मान कर असत्य का साथ देते हैं। सम्राट् खारवेल के शिलालेख में स्पष्ट उल्लेख है कि नंद राजा कलिंगजिन की प्रतिमा उठा ले गया था, उसे वह वापस लाया है। स्पष्ट है कि नंद राजा जैन थे। श्री शर्मा ने तो खारवेल के शिलालेख के उल्लेख से ही परहेज किया है ऐसा जान पड़ता है।

8. जैन सम्राट् खारवेल के शिलालेख की अनदेखी

खारवेल का लगभग 2200 वर्ष प्राचीन शिलालेख भारत के पुरातात्विक इतिहास में एक अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान रखता है। वह आज भी विद्यमान है। श्री शर्मा ने उसका उल्लेख ही नहीं किया है। केवल पृ. 209 पर

खारवेल का नाम लेकर हाथ धो लिए हैं। किंतु अगले ही पृष्ठ पर वसिष्ठ, नल, मान, माठर जैसे छोटे-छोटे राज्यों का उड़ीसा में होना पहिचान कर बताया है और यह लिखा है, "हर राज्य ने ब्राह्मणों को बुलाया था। अधिकांश राजा वैदिक यज्ञ करते थे।" यह है एक इतिहासकार का दृष्टिकोण। **दीर्घजीवी** मौर्य शासन के राजा जैन थे ऐसा लिखना वे न जाने किस कारण से भूल गए। अशोक को भी भांडारकर आदि विद्वानों ने जैन माना है। मौर्य वंश के सभी राजा जैन थे। ऐसा कथन इतिहास के साथ न्यायपूर्ण होता।

9. दक्षिण भारत

श्री शर्मा ने दक्षिण भारत के सातवाहन और सुदूर दक्षिण के तीन राज्यों कर्नाटक, तमिलनाडु (प्राचीन नाम तमिलगम) और केरल में ब्राह्मण राजाओं का ही प्राधान्य, वैदिक यज्ञों का प्रचार आदि पर ही अधिक जोर दिया है। मौर्य शासन की समाप्ति (मौर्य राजा की हत्या उसके ब्राह्मण सेनापति ने की थी) पर उनकी टिप्पणी है..."मौर्य साम्राज्य के खंडहर पर खड़े हुए कुछ नए राज्यों के शासक ब्राह्मण हुए। मध्य प्रदेश में और उससे पूर्व मौर्य साम्राज्य के अवशेषों पर शासन करने वाले शुंग और कण्व ब्राह्मण थे। इसी प्रकार दकन और आंध्र में चिरस्थायी राज्य स्थापित करने वाले सात वाहन भी अपने आपको ब्राह्मण मानते थे। इन ब्राह्मण राजाओं ने वैदिक यज्ञ किए जिनकी अशोक ने उपेक्षा की थी।"

इतिहास के ज्ञाता जानते हैं कि शुंग और कण्व वंश अल्पजीवी थे किंतु शर्माजी ने **दीर्घजीवी** मौर्ययुग के प्रथम सम्राट् चन्द्रगुप्त के बारे में इतना भी नहीं लिखा कि वह जैनधर्म का अनुयायी था। इसका प्रमाण श्रीरंगपट्टन का शिलालेख है जो कि 600 ई. का है और इस पुस्तक की समय-सीमा में आता है।

आंध्र के सातवाहन वंश के एक राजा हाल ने महाराष्ट्री प्राकृत में गाथा सप्तशती लिखी है, उस पर जैन प्रभाव है। इस शासन में "प्राकृत भाषा का ही प्रचार था" (डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन)। प्राचीन जैन साहित्य में भी सातवाहन राजाओं के उल्लेख पाए जाते हैं। शायद श्री शर्मा का ध्यान इन तथ्यों की ओर नहीं गया। उन्होंने यह अवश्य लिखा है कि "उत्तर के कट्टर ब्राह्मण लोग आंध्रों को वर्णसंकर मान कर हीन समझते थे।" (पृ. 164)

कर्नाटक के कदम्ब और गंग वंश जैनधर्म के अनुयायी थे। उनके संबंध में श्री शर्मा का मत है-''पश्चिमी गंग राजाओं ने अधिकतर भूमिदान जैनों को दिया। कदम्ब राजाओं ने भी जैनों को दान दिया पर वे ब्राह्मणों की ओर अधिक झुके हुए थे।''

कर्नाटक के इतिहास की सबसे प्रमुख घटना हेमागंद देश (कोलार गोल्ड फील्ड से पहिचान की जाती है) के राजा जीवंधर द्वारा स्वयं महावीर से जैन मुनि दीक्षा लेना है। कर्नाटक स्टेट गजेटियर में उल्लेख है, "Jainism in Karnataka is believed to go back to the days of Bhagawan Mahavir, a prince from Karnatak is described as having been initiated by Mahavir himself."

दूसरी प्रमुख घटना चंद्रगुप्त मौर्य का श्रवणबेलगोल की चंद्रगिरि पहाड़ी पर तपस्या एवं निर्वाण है।

श्री शर्मा ने इतिहास प्रसिद्ध इन घटनाओं का उल्लेख नहीं किया है जब कि इस ब्राह्मण अनुश्रुति का जिक्र किया है, ''कहा जाता है कि मयूरशर्मन् ने (**कदम्ब** वंश का संस्थापक) अठारह अश्वमेध यज्ञ किए और ब्राह्मणों को **असंख्य** (?) गांव दान में दिए।'' प्रसिद्ध पुरातत्वविद श्री रामचंद्रन का मत है कि बनवासि के कदम्ब शासक यद्यपि हिंदू थे तथापि उनकी बहुत-सी प्रजा जैन होने के कारण वे भी यथाक्रम जैनधर्म के अनुकूल थे।

गंग वंश के संबंध में श्री शर्मा ने ऊपर कही गई दान की बात के अलावा और कोई तथ्य नहीं लिखा। इस वंश की स्थापना में सर्वाधिक योगदान जैनाचार्य सिंहनंदि का था। अनेक गंग राजाओं ने जैन मंदिरों आदि का निर्माण करवाया था। श्री रामचंद्रन ने लिखा है, ''जैनधर्म का स्वर्णयुग साधारणतया दक्षिण भारत में और विशेषकर कर्नाटक में गंग वंश के शासकों के समय में था जिन्होंने जैनधर्म को राष्ट्रधर्म के रूप में स्वीकार किया था।''

तमिलनाडु (तमिलगम) : इस प्रदेश के चार राजवंश प्रख्यात हैं-पल्लव, पांड्य, चोल और चेर।

पल्लव वंश आंध्र और तमिलनाडु के सीमावर्ती प्रदेश पर शासन करता था। उसकी राजधानी कांजीवरम् (कांची) थी। इसके संबंध में श्री शर्मा लिखते हैं कि पल्लच किसी कबीले के थे और उन्हें ''पूरा-पूरा

सभ्य होने में कुछ समय लगा क्योंकि पल्लव शब्द का अर्थ तमिल भाषा में डाकू होता है।" प्रसिद्ध जैनचार्य समन्तभद्र अपने को कांची का निवासी बताते थे। इस वंश का राजा दूसरी सदी में स्थापित माना जाता है। इस वंश के कुछ राजा जैन थे। छटी सदी में इस वंश के महेन्द्रवर्मन प्रथम (600-630) ने अनेक जैन मंदिरों तथा गुफाओं का निर्माण करवाया था। प्रसिद्ध सितन्नवासल जैन गुफा का निर्माण भी उसी ने करवाया था किन्तु वह शैव बन गया और उसने जैनधर्म को बहुत अधिक हानि पहुंचाई।

चोल वंश को सम्मिलित करते हुए भी श्री शर्मा ने लिखा है कि "तमिल देश में ईसा की आरंभिक सदियों में जो राज्य स्थापित हुए उनका विकास ब्राह्मण संस्कृति के प्रभाव से हुआ...राजा वैदिक यज्ञ करते थे। वेदानुयायी ब्राह्मण लोग शास्त्रार्थ करते थे।" यहां यह सूचना ही पर्याप्त जान पड़ती है कि चोल राजा कीलिकवर्मन का पुत्र शांतिवर्मन (120-185 A.D) जैन मुनि हो गया था और वह जैन परम्परा में समंतभद्र के नाम से आदरणीय और पूज्य है। स्वामी समंतभद्र ने भारत के अनेक स्थानों पर शास्त्रार्थ में विजय पाई थी। वे अपने आपको वादी, वाग्मी आदि कहते थे। चौथी सदी में जब चोल राजाओं का प्रभाव बढ़ा, तब भी वे जैनधर्म के प्रति सहिष्णु रहे।

पांड्य वंश का इतिहास अत्यंत प्राचीन है। श्री शर्मा ने यह मत व्यक्त किया है कि "पांड्य राजाओं को रोमन साम्राज्य के साथ व्यापार में लाभ होता था और उन्होंने रोमन सम्राट ऑगस्टस के दरबार में राजदूत भेजे। ब्राह्मणों का अच्छा स्थान था।" पृ. 172 किन्तु डॉ. ज्योतिप्रसाद का कथन है, "ई. पूर्व 25 में तत्कालीन पांड्य नरेश ने एक जैन श्रमणाचार्य को सुदूर रोम के सम्राट् ऑगस्टस के दरबार में अपना राजदूत बनाकर भेजा था। भड़ौच के बंदरगाह से जलपोत द्वारा यह यात्रा प्रारंभ हुई थी। उक्त मुनि ने अपना अंत निकट जान कर रोम नगर में **सल्लेखना** द्वारा देह त्याग दी थी और वहां उनकी समाधि बनी थी।" पृ. 246

चेर राजवंश का नाम अशोक के शिलालेख में भी है। यह वंश आरंभ से ही जैन धर्म का अनुयायी प्रतीत होता है। श्री शर्मा ने यह लिखा है कि "चेरों ने चोल नरेश कारिकल के पिता का वध कर दिया किन्तु चेर नरेश को अपनी जान गंवानी पड़ी...कहा जाता है कि चेर राजा ने पीठ

में घाव लगने के कारण लज्जावश आत्महत्या कर ली।'' यह राजा उदियन चेर लातन था। इस शासक के संबंध में उसके शत्रु राजा के कवि ने उसके बारे में लिखा था, "Is not he (cher king) nobler than three (Chol Karikal) who ashamed of the wound on his back, *starves without food to gain glorious death?*" अपना अंत समय निकट जान कर अन्न-जल का त्याग करना जैन परम्परा में सल्लेखना धारण करना कहलाता है। कवि ने इसी सल्लेखना की प्रशंसा की है। उदियन ने उसे धारण किया था न कि आत्महत्या की थी। तमिल में सल्लेखना को **वडक्किरुत्तल** कहते हैं। दूसरी सदी में हुए युवराजपाद इलेगो इडिगल (शलप्पदिकारम नामक महाकाव्य में जैन श्राविका कण्णगी और उसके पति कोवलन की अमर प्रेम गाथ के महाकवि) भी जैन आचार्य थे।

इस वंश के चेर काप्पियन के लिए निर्मित शैल शय्या आज भी पुगलूर में (तमिलनाडु) है।

कलभ्र शासक - ईसा की तीसरी से पांचवीं सदी का केरल सहित तमिलनाडु का इतिहास अंधकारपूर्ण (historical night) माना जाता है अर्थात् उस काल का कोई इतिहास नहीं मिलता। इतना लिखा मिलता है कि कलभ्र शासक 'कलि अरसन' यानी कलि काल में सभ्यता के शत्रु थे। श्री शर्मा ने पृ. 225 पर लिखा है, ''कालाभ्रों को दुष्ट राजा कहा गया है। उन्होंने अनेकानेक राजाओं को उखाड़ फेंका और तमिलनाडु पर अपना कब्जा जमा लिया। उन्होंने बहुत-सारे गांवों में ब्राह्मणों को मिले **ब्रह्मदेयं** अधिकारों को खत्म कर दिया। लगता है कि कालाभ्र बौद्ध धर्म के अनुयायी थे।'' वास्तव में, कलभ्र जैन थे। कुछ लोग उन्हें कर्नाटक से आए बताते हैं। रामास्वामी अयंगार का मत है, "It looks as thought the Jains had themselves invited the Kalabhras to establish Jainism more firmly in the country. The period of the Kalabhras and that which succeeds it must, therefore, be considered as the period when the Jains had reachered their zenith. It was during this period that the famous *Naladiyar* (collection of didagctical poems by Jain asetics) was composed by the Jains There are two references in Naladiyar to Muttaraiyar (lords of pearls) indicating that the Kalabhras were Jains and patrons of Tamil literature," p 56, Studies in South Indian Jainism

बी-1/324, जनकपुरी, नई दिल्ली-110058

एक जनोपयोगीकृति -

श्री सम्मेद शिखरजी चालीसा

रचनाकार - सुभाष जैन (शकुन प्रकाशन)

प्राप्ति स्थान - श्री दिगम्बर जैन शाश्वत तीर्थराज सम्मेद शिखर ट्रस्ट
वीर सेवा मंदिर, २१, दरियागंज, नई दिल्ली-११०००२

आधुनिक साज सज्जा युक्त उक्त कृति तीर्थराज सम्मेद शिखर के माहात्म्य को जन जन तक पहुँचाने की दृष्टि से महत्वपूर्ण रचना है। वस्तुत तीर्थक्षेत्र की वन्दना भावो की निर्मलता मे निमित्त कारण है। यही कारण है कि हमारे परम्परित आचार्यों ने भी तीर्थक्षेत्र की भक्ति वन्दना को पर्याप्त महत्त्व दिया है। कविवर द्यानतराय, वृन्दावन आदि भक्तिरसिक कवियो ने जो पूजन विधान रचे है, वे सभी भावो को निर्मल बनाने के लिए स्वान्त सुखाय ही रचे है। यह बात अलग है कि उनकी रचनाओ के माध्यम से भक्तजन आज भी अपनी मानसिक वेदना का शमन करने का प्रयत्न करते है।

प्रस्तुत कृति के रचनाकार श्री सुभाष जी ने भी स्वान्त सुखाय ही चालीसा रचना की होगी, परन्तु वह रचना सर्वजनोपयोगी बन गई है। सम्मेद शिखर की लम्बी वन्दना करते हुए इनके उपयोग से भावो मे निर्मलता का सचार होगा और विषय कषायो से कुछ समय के लिए ही सही, मुक्ति मिल सकेगी। श्री दिगम्बर जैन शाश्वत तीर्थराज सम्मेद शिखर ट्रस्ट ने इसे प्रचारित कर सामयिक कदम उठाया है। अत वह साधुवादाई है। प्रस्तुत कृति स्पृहणीय और मनन चिन्तन के लिए उपयोगी है। सामाजिक सस्थाओ मे अनेक दायित्वो का निर्वाह करते हुए रचनाकार श्री सुभाष जैन बधाई के पात्र है जिन्होने सर्वजनोपयोगी रचना का सृजन किया। शिखरजी ट्रस्ट को पत्र लिखकर पुस्तके नि शुल्क प्राप्त की जा सकती है।

- डॉ सुरेश चन्द्र जैन

54/2

अनेकान्त

वीर सेवा मंदिर
21, दरियागंज, नई दिल्ली-110002

वीर सेवा मंदिर का त्रैमासिक

अनेकान्त

प्रवर्त्तक : आ. जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

इस अंक में -

कहाँ/क्या?

1. गुरु समान दाता नहिं कोई — 1
   - कविवर द्यानतराय
2. जैनधर्म की प्राचीनता — 2
   - डॉ. जयकुमार जैन
3. आर्षमार्ग — 6
   - पं. जवाहरलाल जैन
4. आदिपुराण में प्रतिपादित ध्यान के भेद-प्रभेद — 10
   -डॉ. श्रेयास कुमार जैन
5. जैन श्रमणाचार और ध्यान — 25
   - डॉ. अशोक कुमार जैन
6. अपरिग्रह से द्वन्द्व विसर्जन : समतावादी समाज-रचना — 31
   - डॉ. सुषमा अरोरा
7. संयम : एक प्रायोगिक साधना — 42
   - श्री विनोद कुमार जैन
87. पं. पन्नालाल जी साहित्याचार्य के कतिपय प्रेरक सस्मरण — 47
   - ब्र. विवेक जैन 'विचार'
9. आर्यिकाए और नवधा भक्ति — 50
   - जस्टिस एम.एल. जैन
10. भारतवर्ष और भरत — 62
   - कैलाश वाजपेयी

वर्ष-54, किरण-2
अप्रैल-जून 2001

सम्पादक :
डॉ. जयकुमार जैन
261/3, पटेल नगर
मुजफ्फरनगर (उ.प्र.)
फोन : (0131) 603730

परामर्शदाता :
पं. पद्मचन्द्र शास्त्री

सस्था की
आजीवन सदस्यता
1100/
वार्षिक शुल्क
15/-
इस अक का मूल्य
5/-
सदस्यो व मंदिरो के
लिए नि:शुल्क

प्रकाशक .
भारतभूषण जैन, एडवोकेट

मुद्रक ·
मास्टर प्रिन्टर्स-110032

विशेष सूचना : विद्वान् लेखक अपने विचारों के लिए स्वतन्त्र है। यह आवश्यक नही कि सम्पादक उनके विचारों से सहमत हो। इसमें प्राय: विज्ञापन एवं समाचार नही लिए जाते।

वीर सेवा मंदिर

21, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, दूरभाष : 3250522

सस्था को दी गई सहायता राशि पर धारा 80 जी के अतर्गत आयकर मे छूट

(रजि आर 10591/62)

गुरु समान दाता नहिं कोई

गुरु समान दाता नहिं कोई।
भानु प्रकाश न नाशत जाको,
सो अंधियारा डारै खोई।।

मेघ समान सबनपै बरसै,
कछु इच्छा जाके नहिं होई।
नरक पशुगति आगमांहितैं,
सुरग मुकत सुख थापै सोई।।

तीनलोक मंदिर में जानौ,
दीपकसम परकाशक लोई।
दीपतलै अंधियारा भर्यो है,
अन्तर बहिर विमल है जोई।।

तारण तरण जिहाज सुगुरु हैं,
सब कुटुम्ब डोवै जगतोई।
'द्यानत' निशिदिन निरमल मन में,
राखो गुरुपद पंकज दोई।।

- कविवर द्यानतराय

जैन धर्म की प्राचीनता

- डॉ. जय कुमार जैन

विश्व के धर्मों में जैन धर्म का एक विशिष्ट स्थान है। इसकी परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। यूरोप में जैन ग्रन्थों के उपलब्ध न होने के कारण यूरोपीय संस्कृतज्ञ विद्वान् विल्सन, वेबर आदि जैन धर्म को भगवान् महावीर से प्रारम्भ मानते थे। पाश्चात्य परम्परा के अन्धानुगामी कुछ भारतीय पण्डित भी ऐसा मानने की भूल कर बैठे, किन्तु धीरे-धीरे प्राच्य-पाश्चात्य विद्वानों ने अपनी भूल का सुधार किया और अब वे यह स्वीकार करने लगे हैं कि महावीर से पहले भी जैन तीर्थंकर और हो चुके थे, जिनके नाम, जन्मवृत्तान्त आदि जैन साहित्य में पूर्णतया सुरक्षित हैं। इन तीर्थंकरों में ऋषभदेव या वृषभदेव प्रथम हैं, इसीलिए उन्हें आदिनाथ भी कहा जाता है।

भारतीय संस्कृति में अनादि काल से निवृत्तिमार्गी श्रमण परम्परा एवं प्रवृत्तिमार्गी ब्राह्मण परम्परा एक साथ विद्यमान रही हैं। समय-समय पर दोनों में परस्पर आदान-प्रदान भी होता रहा है। इसी कारण कुछ भ्रान्तियां हुई, कुछ उलझाव भी हुआ। यहां पर जैनेतर धर्मों में उल्लिखित तथ्यों के आधार पर उन उलझनों को सुलझाने का प्रयास किया गया है और उन्हीं निष्कर्षो तक पहुंचाया गया है, जो जैन परम्परा में मान्य है।

ऋग्वेद उपलब्ध विश्व वाङ्मय में प्राचीन ग्रन्थ माना जाता है, अतः ऐतिहासिक जानकारी के लिए उसकी महत्ता को नकारा नहीं जा सकता है। ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों में ऋषभ शब्द का उल्लेख हुआ है। यद्यपि वेद के भाष्यकारों ने इसका अर्थ तीर्थंकर ऋषभदेवपरक नहीं किया है, तथापि प्राच्य-पाश्चात्य इतिहासज्ञ उन उल्लेखों में ऋषभदेव की स्तुति मानते हैं। इस सन्दर्भ में कुछ मन्त्र द्रष्टव्य हैं-

'ऋषभं मा समानानां सपत्नानां विषासहिम्।
हन्तारं शत्रूणां कृधि विराज गोपतिं गवाम्।। ऋग्वेद 10.166.1

'अनर्वाणं ऋषभं मन्द्र जिध्वं वृहस्पतिवर्धया नव्यमर्कैः'
ऋग्वेद 10.190.1

'एव बभ्रो वृषभ चेकितान यथा देव न हृणीषे न हंसी।'
ऋग्वेद 2.23.15

ब्राह्मण ग्रन्थों में ऋषभ को पशुपति कहा गया है। (ऋषभो वा पशूनामधिपतिः-ताण्ड्य ब्राह्मण, ऋषभो वा पशूनां प्रजापतिः-शतपथ ब्राह्मणं) यहां ज्ञातव्य है कि इन्हीं ब्राह्मण ग्रन्थों में पशु का अर्थ श्री, यश, शान्ति, धन और आत्मा किया गया है। इनकी संगति ऋषभदेव के साथ समुचित घटित हो जाती है। इन्हीं आधारों पर डॉ. एस. राधाकृष्णन् जैसे मनीषियों ने यह स्वीकार किया है कि वेदों में ऋषभदेव आदि जैन तीर्थकरों के नाम आये हैं।

ऋग्वेद में वातरशना मुनियों का वर्णन आया है। वातरशना का अर्थ वही है जो दिगम्बर का। क्योंकि वायु है मेखला जिनकी या दिशायें हैं वस्त्र जिनके-ये दोनों ही अर्थ नग्नता रूप एक ही भाव को इंगित करते हैं। वातरशना मुनियों को मलधारी कहा गया है।

-**'मुनयो वातरशना पिशङ्गाः वसते मलाः।** ऋग्वेद 10.135.5

जैन मुनि के अस्नानव्रती होने से संभवतः ऐसा कहा गया है। वेदों में शिश्नदेव शब्द का उल्लेख भी कदाचित् जैन मुनि के लिए ही हुआ है। ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों में व्रात्यों का उल्लेख आया है। कर्मकाण्डी ब्राह्मण इनसे द्वेष करते थे। मनुस्मृति में लिच्छवियों को व्रात्य कहा गया है। ज्ञातव्य है कि महावीर की माता लिच्छवी गणतन्त्र के प्रधान जैन राजा चेटक की पुत्री थी। व्रात्य का अर्थ है व्रत में स्थित। ये निवृत्ति मार्गी जैन परम्परा के पूर्व पुरुष कहे जा सकते हैं। उपनिषदों में क्षत्रियों की चिन्तनधारा है। यहां पर आत्मतत्त्व का विस्तार के साथ विचार हुआ है। उपनिषदों की विचारधारा वैदिकधारा से कटी हुई सी तथा निवृत्तिमार्गी निर्ग्रन्थ जैन धारा से अत्यन्त प्रभावित प्रतीत होती है।

महाभारत में एक श्लोक प्राप्त होने का उल्लेख मिलता है, जिसमें कहा गया है कि हे अर्जुन! अब तुम रथ पर आरोहण करो और गाण्डीव को धारण कर लो। समझो कि तुम पृथिवी को जीत चुके हो। क्योंकि सामने निर्ग्रन्थ गुरु विद्यमान हैं।

'आरोह रथं पार्थ गाण्डीवं चापि धारय।
निर्जितां मेदिनीं मन्ये निर्ग्रन्थो गुरुरग्रतः॥

इससे स्पष्ट है कि महाभारत काल में जैन मुनि का अनन्त सम्मान था और उनका दर्शन शुभसूचक माना जाता था।

वेद ब्राह्मण, महाभारत के उल्लेखों के अतिरिक्त वैदिक पुराणों में ऋषभदेव का विस्तृत वर्णन मिलता है। यह वर्णन जैन परम्परा में उपलब्ध वर्णन से अधिकांश समान है। श्रीमद्भागवत में तो उन्हें ईश्वर का आठवां अवतार कहकर प्रतिष्ठा दी गयी है। वहां यह भी कहा गया है कि ऋषभ के सौ पुत्रों में भरत ज्येष्ठ थे और उन्हीं के नाम से यह देश भारतवर्ष कहलाया।

येषां खलु महायोगी भरतो ज्येष्ठः श्रेष्ठगुण आसीत्,
येनेदं वर्ष भारतमिति व्ययदिशन्ति। -पंचमस्कन्ध
तेषां वै भरतो ज्येष्ठो नारायणपरायणः।
विख्यातवर्षमेतद् यन्नाम्ना भारतमद्भुतम्॥ -एकादश स्कन्ध

भागवत के अतिरिक्त मार्कण्डेय पुराण, अग्निपुराण, वायुपुराण, कूर्मपुराण, गरुणपुराण, लिंगपुराण, वराहपुराण, विष्णुपुराण, स्कन्दपुराण एवं ब्रह्माण्डपुराण में भी **ऋषभदेव** का वर्णन आया है। जो जैनधर्म की प्राचीनता के साथ-साथ उसकी महत्ता की अपरिहार्यता का भी सूचक है।

स्कन्दपुराण के प्रथमखण्ड में वर्णन आया है कि अपने पूर्वजन्म में वामन ने तप किया है। उस तपस्या के प्रभाव से शिव ने वामन को दर्शन दिये। वे शिव श्यामवर्ण दिगम्बर जैन पद्मासन से स्थित थे। वामन ने उनका नाम नेमिनाथ रखा। यह नेमिनाथ इस कलियुग में सर्वपापनाशक हैं। उनके दर्शन से कोटि यज्ञों का फल मिलता है। महाभारत के कुछ संस्करणों में एक श्लोक मिलता है -

रेवताद्रो जिनो नेमिर्युगादिर्विमलाचले।
ऋषीणामाश्रमदेव मुक्तिमार्गस्य कारणम्॥

रैवत (गिरनार) पर्वत पर जिन का उल्लेख और स्कन्दपुराण का उक्त वर्णन जैनधर्म के 22वें तीर्थकर श्रीकृष्ण के चचेरे भाई नेमिनाथ के साथ अद्भुत साम्य रखता है, किन्तु अन्य वैदिक पुराणों में नेमिनाथ का स्पष्ट उल्लेख न होना विचारणीय है। जैन परम्परा में नेमिनाथ विषयक साहित्य में श्रीकृष्ण का सर्वत्र उल्लेख मिलता है। यहां तक कि नेमिनाथ की मथुरा से प्राप्त मूर्तियों में कृष्ण और बलराम का अंकन दोनों तरफ पाया गया है। तेईसवें तीर्थकर पार्श्वनाथ की ऐतिहासिकता अब असंदिग्ध है। वे चातुर्याम धर्म के उपदेशक के रूप में विख्यात रहे हैं। बौद्ध ग्रन्थ धम्मपद के ब्राह्मण वग्ग में जिस धर्म का उल्लेख हुआ है, वह तीर्थकर पार्श्वनाथ द्वारा प्रतिपादित चातुर्याम धर्म से अभिन्न है। गौतम बुद्ध का चाचा वप्प पार्श्वनाथ की परम्परा का अनुयायी था। बौद्ध साहित्य में महावीर का तो निगण्ठनात पुत्र के नाम से बहुधा वर्णन है ही, ऋषभदेव का भी उल्लेख हुआ है -

'आभं पवरं वीरं महेसिं विजितविनं' -धम्मपद, गाथा 423

आर्यमंजुश्री मूलकल्प नामक ग्रन्थ में आदिकालीन राजाओं के वर्णन के प्रसंग में नाभिपुत्र ऋषभ और ऋषभपुत्र भरत का वर्णन किया गया है। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की खुदाई से प्राप्त सिक्कों एवं मूर्तियों से स्पष्ट हो जाता है कि सुदूर प्रागैतिहासिक काल में जैनधर्म बहुत व्यापक धर्म था तथा जिनों की राष्ट्रीय स्तर पर पूजा होती थी। प्रसिद्ध पुरातनवविद् श्री चन्दा एवं राधा कुमुद मुखर्जी तो मोहनजोदड़ो से प्राप्त योगी की मूर्ति को ऋषभदेव की मूर्ति मानते हैं।

उक्त जैनेतर प्रमाणों से स्पष्ट हो जाता है कि जैन परम्परा के साथ ही जैनेतर धारायें भी जैनधर्म की प्राचीनता को एवं उसकी महत्ता को स्वीकार करती रही है।

●●

आर्ष-मार्ग

लेखक-जवाहरलाल सिद्धान्त शास्त्री, भीण्डर (राज.)
अनुमोदक-डॉ. पन्नालाल जी साहित्याचार्य, सागर-जबलपुर
पं. नाथूलाल जी शास्त्री प्रतिष्ठाचार्य इन्दौर
डॉ. चेतन प्रकाश पाटनी जोधपुर
पं. सागरमल जी विदिशा
डॉ. जय कुमार जी जैन मुजफ्फरनगर

A. 'ऋषि प्रणीत शास्त्र' को आर्ष कहते हैं। अतः ऋषियों (आचार्यो-साधु परमेष्ठियों) की वाणी को मुख्यता से प्रामाणिक मानने वाला मार्ग आर्ष-मार्ग कहलाता है।[1]

B जिनेन्द्र देव वीतराग, सर्वज्ञ व हितोपदेशी होते हैं।

C. आत्मा तथा परमात्मा की शरण संसार नाश के अनन्य उपाय हैं।

D. अनादि से जितने द्रव्य हैं उतने ही आज भी हैं। न घटा न बढ़ा। अतः यह स्पष्ट है कि कोई किसी का कर्त्ता-हर्त्ता नहीं है।

E. सब कुछ भाग्य और पुरुषार्थ के योग से ही होता है।[2]

F. वर्तमान काल के मुनिराज भी पूज्य हैं।[3]

G. पंचम काल के अन्त तक भावलिंगी मुनि होंगे।[4]

H प्रत्येक कार्य दो कारणों से होता है-अंतरंग कारण तथा बहिरंग कारण।[5]

I. शुद्धोपयोग सातवें गुणस्थान से प्रारम्भ होता है, इसके पूर्व नहीं।[6]

J. व्यवहारनय झूठ नहीं होता।[7]

K. अनेकान्त रूप समय के ज्ञाता पुरुष ऐसा विभाग नहीं करते कि 'यह नय सच्चा है और यह नय झूठा है'।[8]

L. पुण्य और पाप कथंचित् समान हैं और कथंचित् असमान।[9]

M. आत्मा शुद्धाशुद्ध का पिण्ड है, अत: वह कथंचित् शुद्ध है, कथंचित् अशुद्ध।

N. जो एक जिनवचन को भी नहीं मानता, वह मिथ्यादृष्टि है।[10]

O. चौथे गुणस्थान में गुणश्रेणी निर्जरा नहीं होती (कभी-कभी हो सकती है)।[11]

P. जिसका काल नहीं आया है उसका मरण नहीं हो सकता, ऐसा एकान्त नहीं है।[12] अत: अकालमरण सत्य है।

Q. अत्यन्त निष्काम पुण्य परम्परा से मोक्ष का कारण है।[13]

R पहले व्यवहार होता है, फिर निश्चय।[14] इत्यादि ....

टिप्पण -

1 इसका यह अभिप्राय है कि पंडितों के ग्रन्थों की प्रामाणिकता आचार्य प्रणीत ग्रन्थों के आधार से होती है।

2. जैसा केवलज्ञान में झलका है वही होता है यह सत्य है। तथैव यह भी सत्य है कि जैसा भाग्य व पुरुषार्थ का योग होगा, फल उसी के अनुसार होगा। अतः पुरुषार्थ में प्रवृत्ति करनी चाहिए।

3 आत्मानुशासन गाथा 33, प.प्र 2/37, मो पा. 77, सा ध 2/64, प.पं. 1/68 आदि।

4. त्रि सा 857 से 859 तथा ति.प 4/1520-1533

5. न्याय दीपिका 2/4/27, भ.आ. (विजयो.) 1070, क.पा 1/1/13। पृ 265, प.मु. 6/63, स्व.स्तो 33, 56, 60, स सि 5/30/300 तथा श्लोक वा. भाग 6 पृ. 197-198 एवं ज.ध. 15/191।

6. प्र सा. गाथा 9 टीका ता वृ , वही गाथा 181 ता.वृ., वृ.द्र.स 34, अ अ क. पृ. 374 (प जगमोहनलाल जी), जैन संदेश दि 6 5.58 पृ. 4, जैन गजट दि. 23.11.67 पृ. 8 तथा 15 2.73 पृ. 7 तथा 4 1.68 पृ 7, मुख्तार ग्रन्थ पृ. 833 प्र.सा. गाथा 230 ता वृ प प्र. 2/11। आदि सत्रह प्रमाण देखो :-वीतराग वाणी अप्रैल-मई 98 पृ 9-12।

7 ज.ध 1/7 ण च ववहारणओ चप्पलओ।

8. ते उण ण दिट्ठसमओ विहयइ सच्चे व अलीए वा। नया संस्करण ज.ध. 1/233।

9 मो पा.गा 25 तथा इष्टोपदेश तथा तत्त्वार्थसार (अमृतचन्द्र)।

10. भ.आ गाथा 38-39।

11 मो मा प्र (सस्ती ग्रन्थमाला प्रकाशन दिल्ली) अधि. 7 पृष्ठ 341, 308 तथा 364, धवला 8/83, रतनचन्द पत्रावली 18 1 80, मुख्तार ग्रन्थ पृ. 842, 1110 आदि, जयधवल 12/285, जैन सं. 11 12 58 पृ 5, जैन गजट 8.1.70 पृ. 7, फूलचन्द सि.शा पत्र 20.1.80 ई, धवल 6/236, बा.अणु. 67 का अ. 104, लब्धिसार (राजचन्द्र) पृ 74, क.पा. सूत्रा पृष्ठ 628-629 सर्वार्थसिद्धि पृ. 352 (ज्ञानपीठ) /// पेरा आदि। (इन सब प्रमाणो से यह भी सिद्ध होता है कि चतुर्थ गुणस्थान मे अविपाक निर्जरा नहीं होती। गुणश्रेणी निर्जरा अविपाक निर्जरा ही है।)

12 न ह्यप्राप्तकालस्य मरणाभाव., खड्गप्रहारादिभि.मरणस्य दर्शनात्। (रा वा 2/53 भाग 5 पृष्ठ 261-62 विद्यानन्दि स्वामी)

13 अत्यन्त निष्काम पुण्य अर्थात् निदान रहित पुण्य यानि भावी भोगों की इच्छा रहित पुण्यकर्म। करणानुयोग के अनुसार ऐसा पुण्य अनन्त जीवो मे से एक जीव ही संचित कर पाता है। ऐसा पुण्य सम्यग्दृष्टि ही संचित कर पाता है।

(i) निर्निदान-पुण्यं पारम्पर्येण मोक्ष-कारणं . ... .।

अर्थ-निदान रहित पुण्य परम्परा से मोक्ष का कारण है। (भावपाहुड 81 टीका)

(ii) एतत्पूजादिलक्षणं पुण्यं...... साक्षाद् भोगकारणं..... तृतीयादिभवे मोक्षकारणं निर्ग्रन्थलिगेन।

अर्थ-मोक्षार्थी द्वारा किया गया पूजा आदि पुण्य साक्षात् तो स्वर्गादि के भोग का कारण है। तीसरे आदि भव मे निर्ग्रन्थलिग द्वारा मोक्ष का कारण है। (भा.पा. 82 टीका)

(iii) परम्परया निर्वाणकारणस्य तीर्थंकरप्रकृत्यादि-पुण्यपदार्थस्यापि कर्त्ता भवति।

अर्थ- परम्परानिर्वाण के कारणभूत तीर्थंकर आदि पुण्य कर्म को सम्यग्दृष्टि बांधता है। स सा पृ 186।

(iv) व्रतदानादिकं सम्यक्त्वसहितं पुनः परम्परया मुक्तिकारणं। (स.सा 153 पीठिका)।

अर्थ-सम्यक्त्व सहित व्रतदानादिक परम्परा से मुक्ति का कारण है।

(v) तम्हा सम्मादिट्ठीपुण्णं मोक्खस्स कारणं हवई।
इय णाउण गिहत्थो पुण्णं चायरउ जत्तेण।।

(भावसंग्रह गा. 404 तथा 424)

अर्थ-सम्यग्दृष्टि का पुण्य मोक्ष का कारण है यह जानकर गृहस्थ को यत्नपूर्वक पुण्य का उपार्जन करते रहना चाहिए।

(vi) निदान-रहित . उत्तमसंहननादिविशिष्टपुण्यरूपकर्मापि सिद्धगते. सहकारी कारणं भवति। (पंचास्ति. गाथा 85 की टीका तथा अ.स.पृ. 257)

अर्थ-तीर्थंकर प्रकृति, उत्तम सहनन आदि विशिष्ट पुण्यकर्म भी सिद्ध गति के लिए सहकारी कारण है। (*see also* प पु. 32/183, मूलाराधना 745, उ अ 155)

(vii) शुभोपयोगः गृहिणां तु . . .. क्रमत परमनिर्वाणसौख्यकारणत्वाच्च मुख्यः। (प्र सा 45 अमृतचन्द्रीय टीका)

अर्थ-शुभोपयोग गृहस्थ के क्रमश· परम निर्वाण सौख्य का कारण होता है।

(viii) शुभाशुभौ मोक्षबन्धमार्गौ। स.सा. 145 आ ख्या. टीका तथा जयधवल 1 पृष्ठ-6।

सार यह है कि निष्काम पुण्य (दान पूजादिक) तत्काल तो बन्ध का कारण होता है, परन्तु परिपाक (उदय) के काल में अत्यन्त निष्काम प्रशस्त परिणाम, उत्तम साधन, सत्संग आदि सिलसिलों को वह पुण्य प्रदान करता है। ये सभी कथंचित् रत्नत्रय के हेतु होते हैं। तथा रत्नत्रय से मोक्ष होता है। यही "परम्परा" शब्द का रहस्य है।

14. कुन्दकुन्द प्राभृत सग्रह प्रस्तावना पृ. 98 तथा मुख्तार ग्रन्थ पृ. 1344 से 1352।

(i) उदाहरण-प्रथम देशना लब्धि (व्यवहार) पश्चात् उपशम सम्यक्त्व (निश्चय) होता है।

(ii) पहले सुवर्ण पाषाण (व्यवहार) की प्राप्ति के बाद ही सुवर्ण (निश्चय) प्राप्त किया जा सकता है।

(iii) वस्त्र त्याग के बाद ही सयम (भावलिंग) सम्भव है। निश्चय की प्राप्ति के पूर्व भी व्यवहार को शक्ति की अपेक्षा व्यवहार (साधन) पना है ही। इतना अवश्य है कि व्यवहार-अवलम्बन के काल में लक्ष्य निश्चय का ही होना चाहिए।

●●

आदिपुराण में प्रतिपादित ध्यान के भेद-प्रभेद

- डॉ. श्रेयांस कुमार जैन

जैन संस्कृति के समग्र स्वरूप का प्रतिपादक आदिपुराण जैन साहित्य में ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य में महत्वपूर्ण पुराण ग्रन्थ है। इसमें आचार्यवर्य श्री जिनसेन स्वामी ने युगप्रवर्तक देवाधिदेव प्रथम तीर्थकर ऋषभदेव और प्रथम चक्रवर्ती भरत के जीवन चरित को विस्तार पूर्वक वर्णित किया है साथ में इन दोनों शलाका पुरुषों से सम्बन्धित अन्य महापुरुषों और सामान्य जनों के जीवन वृत्तान्त को अन्त:कथाओं सहित चित्रित किया है। वर्ण्य शलाका पुरुषों के काल की सामाजिक और सांस्कृतिक विरासत को दर्शाने वाला यह महापुराण ग्रन्थ महाभारत और रामायण के समान विविध तत्त्वों और तथ्यों रूपी रत्नों को धारण करने वाला महार्णव है क्योंकि इसमें उक्त ऐतिहासिक ग्रन्थों के समान इतिहास पुरुषों के जीवन वृत्त का प्रतिपादन किया गया है और आगम तथा अध्यात्म विषयक विषयों का गुम्फन भी सहजता से किया गया है इसलिए महाभारत और रामायण के समान ही संस्कृत वाङ्मय में इसका गौरवपूर्ण स्थान है।

प्रथमानुयोग सम्बन्धी इस ग्रन्थराज में करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग के प्रतिपाद्य विषयों का निरूपण ग्रन्थ की गरिमा की श्रीवृद्धि करने वाला है। आगम और अध्यात्म सम्बन्धी विभिन्न विषयों का वर्णन तो इस पुराण ग्रन्थ के गौरव को लोक शिखर पर पहुंचाने वाला है। मोक्षमार्गियों के लिए अध्यात्म विषय ही अत्यधिक उपयोगी और उपादेयभूत होते हैं। इन्हीं कल्याणकारी अध्यात्म विषयों के अन्तर्गत ध्यान का प्ररूपण आत्मोत्त्थान के लिए परम सहकारी है अत: आदिपुराण में वर्णित ध्यान के भेद-प्रभेद को समझने का सम्यक् उपक्रम किया जा रहा है।

"ध्यै चिन्तायाम्" धातु से ध्यान शब्द निष्पन्न हुआ है। शब्दोत्पत्ति की दृष्टि से ध्यान का अर्थ चिन्तन है किन्तु प्रवृत्ति लब्ध अर्थ उससे भिन्न है। इस दृष्टि से ध्यान का अर्थ है चित्त को किसी एक लक्ष्य पर स्थिर करना। आदिपुराण में तन्मय होकर किसी एक ही वस्तु में जो चित्त का निरोध कर लिया जाता है उसे ध्यान कहा है, वह ध्यान वज्रवृषभनाराचसंहनन वालों के अधिक से अधिक अन्तर्मुहूर्त तक ही रहता है।[2] ध्यान के अनेक पर्यायवाची हैं यथा योग, समाधि, धीरोध अर्थात् बुद्धि की चंचलता को रोकना, स्वान्त:निग्रह अर्थात् मन को वश में करना और अन्त: संलीनता अर्थात् आत्मा के स्वरूप में लीन होना।[3] ध्यान विषयक मूल ग्रन्थों की अपेक्षा भिन्न कर्तृ करण और भाव साधन की विवक्षा से ध्यान शब्द की निरुक्तियां प्रस्तुत की हैं, जो इस प्रकार हैं-आत्मा जिस परिणाम से पदार्थ का चिन्तवन करता है, उस परिणाम को ध्यान कहते हैं, यह करण साधन की अपेक्षा ध्यान शब्द की निरुक्ति है। आत्मा का जो परिणाम पदार्थो का चिन्तवन करता है, उस परिणाम को ध्यान कहते हैं। यह कर्तृवाच्य की अपेक्षा ध्यान शब्द की निरुक्ति है क्योंकि जो परिणाम पहले आत्मारूप कर्त्ता के परतंत्र होने से करण कहलाता था, वही अब स्वतंत्र होने से कर्त्ता कहा जाता है और भाव वाच्य की अपेक्षा करने पर चिन्तवन करना ही ध्यान की निरुक्ति है।[4] यहां आचार्य जिनसेन ने शक्ति के भेद से ज्ञान स्वरूप आत्मा के एक ही विषय में तीन भेद दर्शा दिए हैं। करण कर्तृ भाव वाच्य निरुक्तियों से अनुप्रेक्षा या चिन्ता रूप अर्थ की निष्पत्ति होती है क्योंकि चिन्तवन में चित्त की चंचलता को अवकाश है अतएव जो चित्त का परिणाम स्थिर होता है, वह ध्यान है।[5] चित्त के साथ शरीर और वाणी की भी निष्प्रकम्प स्थिति ध्यान कहलाती है। जैनाचार्यो की दृष्टि से मन, वचन और काय तीनों की स्थिरता का सम्बन्ध ध्यान से बतलाया है किन्तु पंतजलि ने ध्यान का सम्बन्ध केवल मन से ही माना है।[1] विसुद्धिमग्ग[7] के अनुसार ध्यान मानसिक ही है। जब तक शरीर और वाणी मन सहित एक रूपता को प्राप्त नहीं होते तब तक ध्यान की पूर्णता असंभव है इसीलिए आचार्य कहते हैं कि जहां पर मन एकाग्र होकर अपने लक्ष्य के संलग्न होता है,

शरीर और वाणी भी उसी लक्ष्य की ओर लगते हैं वहां पर मानसिक, वाचिक और कायिक ये तीनों ध्यान एक साथ हो जाते हैं।[8] अर्थात् तीनों की एकता हो जाती है, स्थिरता हो जाती है।

आचार्य जिनसेन ने ध्यान को ज्ञान की पर्याय कहा है उनका कहना है-

यद्यपि ज्ञानपर्यायो ध्यानाख्यो ध्येयगोचरः।
तथाप्येकाग्रसंदष्टो धत्ते बोधादि वान्यताम्॥ 21/15 आ.पु.

अर्थात् यद्यपि ध्यान ज्ञान की ही पर्याय है और ध्यान करने योग्य पदार्थो को ही विषय करने वाला है तथापि एक जगह एकत्रित रूप से देखा जाने के कारण ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्यरूप व्यवहार को भी धारण कर लेता है।

सिद्धि की प्राप्ति हेतु विचारों का एकाग्र होना आवश्यक है यही कारण है कि भगवद्गीता[9], मनुस्मृति[10], रघुवंश[11] और अभिज्ञानशाकुन्तलम्[12] आदि में ज्ञान से ध्यान को विशिष्ट कहा गया[13] है क्योंकि "स्वस्थे चित्ते बुद्धयः प्रस्फुरन्ति" अर्थात् ध्यान से मन स्थिर और शान्त हो जाता है, उसमें बुद्धि की स्फुरणा होती है।

वैदिक परम्परा में ज्ञान से ध्यान को विशिष्ट कहा है, किन्तु आदिपुराणकार तो ध्यान को ज्ञान की ही पर्याय स्वीकार करते हैं। साथ में उन्होंने ज्ञान की शुद्धि से ध्यान की शुद्धि भी कही है।[14] मन की चंचलता पर विजय बिना ध्यान के नहीं होती है।[15] यह सत्य है कि किसी भी एक विषय पर चित्त की एकाग्रता अन्तर्मुहूर्त से अधिक नहीं हो सकती।[16] चित्त की एकाग्रता के फलस्वरूप चेतना के विराट् आलोक में चित्त विलीन हो जाता है अर्थात् ध्येय विषय में चित्त को स्थिर करना ही ध्यान है।[17]

शुभ और अशुभ चिन्तवन के आश्रय से वह ध्यान प्रशस्त-अप्रशस्त के भेद से दो प्रकार का स्मरण किया गया है। जो ध्यान शुभ परिणामों

से होता है, वह प्रशस्त है और जो ध्यान अशुभ परिणामों से होता है, वह अप्रशस्त है। इस प्रकार मुख्य रूप से ध्यान के दो भेद हुए-अप्रशस्त ध्यान और प्रशस्त ध्यान। इन दोनों के भी दो-दो भेद होते हैं अप्रशस्त ध्यान के आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान ये दो भेद हैं और प्रशस्त ध्यान के धर्म्य एवं शुक्ल।[18] इनमें अप्रशस्त सम्बन्धी आर्त्त और रौद्र ध्यान संसारवृद्धि के कारण होते हैं। प्रशस्त सम्बन्धी धर्म्य और शुक्ल ध्यान मोक्ष के कारण है।

वैदिक परम्परा में अप्रशस्त ध्यान को क्लिष्ट और प्रशस्त ध्यान को अक्लिष्ट कहा गया है।[19] बौद्धाचार्य ने अप्रशस्त ध्यान को अकुशल और प्रशस्त ध्यान को कुशल शब्द से व्यवहृत किया है। आचार्य शुभचन्द्र ने अशुभ, शुभ और शुद्ध इन तीन भेदों का कथन किया है जो आर्त्त, रौद्र, धर्म्य और शुक्ल इन चार ध्यानों में समाविष्ट हो जाते हैं।[20]

अशुभ और शुभ दोनों प्रकार के ध्यानों के चार अधिकार होते हैं-1. ध्याता 2. ध्येय 3. ध्यान 4. ध्यान का फल। इन अधिकारों की विशेषताओं के कारण ही अशुभ या शुभ संज्ञा दी जाती है। जब ध्याता पंचेन्द्रिय के विषय भोगों को भोगने वाला होगा। प्रकृति से क्रूर और बाह्य विषयों में आसक्ति रखने वाला होगा तब उसका ध्येय संसार को बढ़ाने वाला कोई पदार्थ विशेष ही होगा, उस पदार्थ विशेष की प्राप्ति या वियोग विषयक चिन्तन में जो उसकी एकाग्रता होगी, उसका परिणाम अशुभ अर्थात् नरक, निगोद और तिर्यन्च गतियों में पहुंचाने वाला होगा और जब ध्याता कषाय और इन्द्रियों की प्रवृत्ति को रोकने के लिए, मन को नियंत्रित करने के लिए, मोक्षमार्ग से च्युत न होने के लिए शुभ पदार्थो के चिन्तन का अवलम्बन लेता है तब उसका परिणाम शुभ होता है, जिससे संवर निर्जरा होती है और स्वर्ग-मोक्ष का मार्ग प्रशस्त हो जाता है।

आदिपुराणकार प्रथमत: अप्रशस्त ध्यानों का वर्णन करते हैं, क्योंकि इन खोटे ध्यानों को छोड़े बिना सुख नहीं मिल सकता। अत: दु:ख जन्य ध्यानों को जानना अत्यावश्यक है। वे आर्त्त और रौद्र रूप हैं।

आर्त्तध्यान-ऋते: भावम् आर्त्तम् अर्थात् दु:ख का भाव आर्त्तभाव है। आर्त्त शब्द ''ऋत'' या अर्ति से बना है। ऋत का अर्थ दु:ख और अर्ति

का अर्थ पीड़ा होता है अतः पीड़ा या दुःख संवेदनमय ध्यान को आर्त्तध्यान कहते हैं।[21] आर्त्तभावों से संक्लेशमय भावों (परिणामों) की परम्परा सतत रही है कर्तव्याकर्तव्य का विवेक न रहकर इस ध्यान वाला प्राणी कभी शान्ति और विश्राम को प्राप्त नहीं करता है आदिपुराण में आर्त्तध्यान के अन्तर्भेदों पर विचार किया गया है। वहां कहा गया है कि ऋत अर्थात् दुःख में हो वह पहला आर्त्तध्यान है जिसे चार भागों में विभक्त कर विशेष रूप से जाना जा सकता है इष्टवस्तु के न मिलने से, अनिष्ट वस्तु के मिलने से, निदान से, और पीड़ा आदि के निमित्त से।[22] किसी इष्टवस्तु के वियोग होने पर उनके संयोग के लिए बार-बार चिन्तवन करना सो प्रथम इष्टवियोगज नाम का आर्त्तध्यान है। किसी अनिष्ट वस्तु के संयोग होने पर उसके वियोग के लिए निरन्तर चिन्तवन करना सो द्वितीय अनिष्ट संयोग नाम का आर्त्तध्यान है। आगामी काल सम्बन्धी भोगों की आकांक्षा में चित्त को तल्लीन करना तृतीय निदान नाम का आर्त्तध्यान है। इसकी विशेषता यह है कि यह ध्यान दूसरे की भोगोपभोग की सामग्री देखने से संक्लिष्ट चित्त वाले प्राणी के होता है। वेदना से पीड़ित प्राणी के द्वारा वेदना नष्ट करने के लिए चिन्तन करना या चित्त में लीन होना चतुर्थ वेदना जन्म नामक जन्म नामक आर्त्तध्यान है।[23] इनमें निदान नामक ध्यान को छोड़कर शेष तीन ध्यान मिथ्यादृष्टि, सासादन, मिश्र, असंयतसम्यग्दृष्टि, देशविरत और प्रमत्तसंयत गुणस्थानों तक जीवों के होते हैं। निदान पंचम देश विरत गुणस्थान वाले तक ही करते हैं। अशुभलेश्याओं के सद्भाव में ही यह ध्यान होता है, किन्तु पंचम और षष्ठ गुणस्थानों में जो आर्त्तध्यान संभव है वे शुभलेश्याओं के अवलम्बन से होते हैं। इसमें क्षायोपशमिकभाव की अवस्था रहती है। चारों गतियों में होता है। अन्तर्मुहूर्त इसका काल है[24] और अन्तर्मुहूर्त के बाद आलम्बन अवश्य बदल जाता है।

रौद्रध्यान-रुद्र-क्रूर परिणाम को कहते हैं आदिपुराण के शब्दों में-

प्राणिनां रोदनात् रुद्रः क्रूरसत्वेषु निर्घृणः।
पुमांस्तत्र भवं रौद्रं विद्धि ध्यानं चतुर्विधम्।। पर्व 21 श्लो 42

– जो पुरुष प्राणियों को रुलाता है, वह रुद्र क्रूर अथवा सब जीवों में निर्दय कहलाता है, ऐसे व्यक्ति में जो ध्यान होता है, वह रौद्र ध्यान है यह भी चार प्रकार का है। इसमें बांधने, जलाने, विदारण एवं मारण ही चिन्ता में चित्त की स्थिरता होती है।[25] हिंसा आदिक क्रियाओं में रौद्रध्यानी आनन्द मानता है। इसमें भौंह टेढ़ी मुख विकृत, पसीना, शरीर कम्पन और नेत्रों में रक्तता होना पाया जाता है। इसमें पाप प्रवृत्ति बढ़ती है अतः नरक गति का कारण है। देशव्रती भी इसके आश्रित हो जाते हैं।[26] यह अत्यन्त अशुभ है। कृष्ण, नील, कापोत लेश्याओं वालों में मुख्यतः से होता है। इसके चार भेद हैं-

1. **हिंसानन्द**-त्रस या स्थावर जीवों का संक्लिष्ट परिणामों के वशीभूत होकर स्वयं घात करना या अन्य से कराना अथवा अन्य को करते देख प्रसन्न होना अथवा अन्य को प्राणी के वध, बन्धन, ताड़न मारण का नियोग मिला देना प्रथम रौद्रध्यान है यही आदिपुराण में वर्णित है।[27] जीवों पर दया न करने वाला हिंसक व्यक्ति इस हिंसानन्द रौद्रध्यान के वश अपने आपका घात करता है, पीछे अन्य जीवों का घात करे या न करे।[28]

आचार्य जिनसेन ने तन्दुलमत्स्य को भावहिंसा से सातवें नरक जाने वाला कहा। अरविन्द विद्याधर को रुधिर से स्नान करने से रौद्रध्यान के फलस्वरूप नरक जाना पड़ा अतः इससे सदैव बचना चाहिए।

2. **मृषानन्द**-असत्य बोलकर लोगों को धोखा देने के लिए चिन्तन करना उसी में लीन होना मृषानन्द नाम का दूसरा रौद्रध्यान है। कठोर बोलना, आदि इसके बाह्य चिन्ह हैं।[29]

3. **स्तेयानन्द**-दूसरे के द्रव्य हरण करने अर्थात् चोरी करने में अपने चित्त को स्थिर कर आनन्द मानना तृतीय रौद्रध्यान है।

4. **परिग्रहानन्द**-क्रूर चित्त होकर आरम्भ परिग्रह रूप सामग्री का संग्रह करना अथवा अन्य के द्वारा परिग्रह के संचय को देखकर प्रसन्न होना चतुर्थ रौद्रध्यान है। गणधर देव ने इन रौद्रध्यानों का फल नरकगति के दुःख प्राप्त होना बताया।[30]

आर्त्त और रौद्र दोनों ध्यान अनादि काल की वासना के कारण उत्पन्न होने वाले हैं। अतः स्वयं उत्पन्न हो जाते हैं। मोक्षमार्गी को इनसे बचकर प्रशस्त ध्यान का आश्रय ग्रहण करना चाहिए।

प्रशस्त ध्यान

परम साध्यभूत मोक्षप्राप्ति के लिए आचार्यो ने सद्ध्यान की प्रक्रिया का माध्यम स्वीकार किया है। मोक्षमार्ग ही जीव के लिए यथार्थसत्य है। सत्य का अन्वेषण सद्ध्यान ही से होता है। वस्तुतः आत्मतत्व ही परमसत्य की कोटि में आता है जो महामानव उस परम तत्व की खोज करना चाहते हैं, उन्हें नियम से सद्ध्यान का आश्रय लेना होगा। इसीलिए आदि पुराण में भी कहा है-"अध्यात्म के रूप को जानने वाला मुनि शून्य-गृह, श्मशान, जीर्णवन, नदीतट, पर्वत शिखर, गुहा, वृक्ष की कोटर अथवा अन्य मन्दिर आदि पवित्र और मनोहर प्रदेश में जहां शीत उष्ण की बाधा न हो, तेज वायु न चल रही हो, वर्षा न हो, सूक्ष्म जीवों का उपद्रव न हो, वहां पर्यक आसन बांधकर पृथ्वीतल पर विराजमान हो शरीर को सरल और निश्चल कर जिनमुद्रा में स्थिर कर, मन की स्वच्छन्दता को रोककर अपने अभ्यास के अनुसार मन को हृदय में, मस्तक पर अथवा अन्य किसी स्थान पर रखकर परीषह सहन करते हुए निराकुल भाव से जीवादि तत्वों के सम्यक्स्वरूप का चिन्तन में लीन होना श्रेयस्कर है।[31]

आदिपुराणकार का कहना है कि जो किसी एक ही वस्तु में परिणामों की स्थिर और प्रशंसनीय एकाग्रता होती है, उसे ही ध्यान कहते हैं, ऐसा ध्यान ही मुक्ति का कारण होता है वह धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान के भेद से दो प्रकार का होता है।[33] धर्म्य और शुक्ल को ही मुख्य रूप से ध्यान मानने का कारण आचार्य श्री वीरसेन स्वामी का "झाणं दुविहं धम्मज्झाणं सुकलज्झाणमिदि"[34] कथन है। इन मोक्ष के साधन स्वरूप दोनों ध्यानों को मुख्य रूप से जानता है। अतः उन्हीं को कहा जा रहा है।

धर्म्यध्यान

"उत्तमक्षमादि धर्मादनपेतं धर्म्यम्" अर्थात् जो उत्तम क्षमा आदि धर्म से अनपेत-सहित हो, वह धर्म्य ध्यान है। उत्पाद व्यय और ध्रौव्य इन तीनों

सहित जो वस्तु का यथार्थ स्वरूप है, वही धर्म कहलाता है, जो ध्यान धर्म से सहित होता है, वह धर्म्य ध्यान कहलाता है।[35] इन ध्यान के माध्यम से तत्वों का अन्वेषण किया जाता है। चित्त की वृत्तियाँ शांत होती हैं, जिन्हें चित्त की वृत्तियां कहा जाता है। वस्तुत: वे आत्मा की ही वृत्तियां हैं। रागी द्वेषी आत्मा ही मन के द्वारा राग द्वेष रूप व्यापारों में प्रवृत्त होता है। राग द्वेष पर नियंत्रण के बिना चित्त की चंचलता पर नियंत्रण नहीं हो सकता। चित्त की चंचलता निर्यंत्रित हुए बिना आत्मा का साक्षात्कार नहीं किया जा सकता है। चित्त की चंचलता को निर्यंत्रित करने वाला साधन ही आत्मदर्शन करता है जैसा कि पूज्यपाद कहते हैं-

रागद्वेषादिकल्लोलैरलोलं यन्मनोजलम्।
स पश्यत्यात्मनस्तत्त्वं तत्रत्वं नेतरो जनः।।[36]

जिसका मन रूपी जल रागद्वेष आदि लहरों से चंचल नहीं होता वह आत्मा के यथार्थ स्वरूप को देखता है। अन्य जन उस आत्मतत्त्व का दर्शन नहीं कर सकते।

आत्मदर्शन का मुख्य साधन धर्म्य और शुक्ल ध्यान ही हैं। इनका ध्याता उत्तम संहननधारी होता है। जैसा कि आदिपुराण में कहा है-जो वज्रवृषभनाराच संहनन नामक अतिशय बलवान् शरीर का धारक है, जो तपश्चरण करने में अत्यन्त शूरवीर है, जिसने अनेक शास्त्रों का अच्छी तरह से अभ्यास किया है, जिसने आर्त्तरौद्र नामक खोटे ध्यानों को दूर हटा दिया है, जो अशुभ लेश्याओं से बचता रहता है, जो लेश्याओं की विशुद्धता का अवलम्बन का प्रमाद रहित अवस्था का चिन्तवन करता है, अतिशय बुद्धिमान् है, योगी है, जो बुद्धिबल से सहित है। शास्त्रों के अर्थ का अवलम्बन लेने वाला है, जो धीर-वीर है और जिसने समस्त परीषहों को सह लिया है ऐसा उत्तम मुनि ध्याता है।[37]

आदिपुराण के अनुसार अप्रमत्त मुनि को धर्म्यध्यान का स्वामी बताया गया है जिसका समर्थन आचार्य देवसेन के तत्त्वसार, आचार्य रामसेन के तत्त्वानुशासन, आचार्य नागसेन के तत्वानुशासन एवं आचार्य शुभचन्द्र के

ज्ञानार्णव से भी होता है। इन आचार्यों ने धर्म्यध्यान के अधिकारी मुख्य और उपचार के भेद से *अप्रमत्तगुणस्थानवर्ती* और *प्रमत्तगुणस्थानवर्ती* मुनियों को माना है।[38] आचार्य जिनसेन का कहना है कि अल्प श्रुतज्ञानी अतिशय बुद्धिमान् और श्रेणी के पहिले पहिले धर्म्यध्यान धारण करने वाला उत्कृष्ट मुनि ही उत्तम ध्याता (स्वामी) है।[39] साथ में यह भी कहा है कि सम्यग्दृष्टि, देशव्रती प्रमत्त संयत मुनि को भी धर्म्य ध्यान होता है।

आचार्य पूज्यपाद, अकलंकभट्ट, विद्यानंदी आदि आचार्यो ने चौथे गुणस्थान से अप्रमत्तगुणस्थान तक के प्राणियों को धर्म्य ध्यान का स्वामी कहा है। इन आचार्यो का अविरत सम्यग्दृष्टि और देशविरत को उपचार से धर्म्यध्यान का स्वामी कहना है क्योंकि भक्ति गृहस्थ का धर्म्यध्यान है। उन्हें मोक्ष का साधन भूत धर्म्यध्यान न होकर धर्म भावना रूप (आज्ञाविचय अपायविचय) धर्म्यध्यान होता है। इन्हीं की अपेक्षा अविरत सम्यग्दृष्टि और देशव्रती को धर्म्यध्यान कहा गया है। गृहस्थावस्था में ध्यान की सिद्धि कदापि नहीं हो सकती हैं क्योंकि गृहस्थावस्था की आपदारूपी महान् कीचड़ में जिनकी बुद्धि फंसी हुई है तथा जो प्रचुरता से बढ़े हुए रागरूपी ज्वर के यंत्र से पीड़ित है और जो परिग्रह रूपी सर्प के विष की ज्वाला से मूर्च्छित हुए हैं वे गृहस्थजन विवेकरूपी मार्ग से चलते हुए स्खलित हो जाते हैं जैसा कि शुभचन्द्र आचार्य कहते हैं।

खपुष्पमथवाशृंगं खरस्यापि प्रतीयते।
न पुनर्देशकालेऽपि ध्यानसिद्धिर्गृहाश्रमे।।[40]

आकाश के पुष्प और गधे के सींग नहीं होते। कदाचित् किसी देश व काल में इनके होने की प्रतीति हो सकती है परन्तु गृहस्थाश्रम में ध्यान की सिद्धि होनी तो किसी देश व काल में संभव नहीं है।

इस प्रकार सिद्धि रूप धर्म्यध्यान के अधिकारी तो अप्रमत्त मुनि हैं किन्तु भावना रूप धर्म ध्यान गृहस्थ-अविरत सम्यग्दृष्टि, देशव्रती और प्रमत्तसंयत मुनि को होता है।

धर्म्यध्यान के ध्येय विषयों पर विचार करते हुए कहा गया है कि द्रव्यध्येय और भावध्येय दोनों वस्तुत: आत्म तत्व की उपादेयता का ही ग्रहण कराते हैं। द्रव्यध्येय में अरहन्त या परमेष्ठी ग्रहण होते हैं। भाव ध्येय में स्वरूप रूप मात्र का ग्रहण किया गया है। यथार्थ भूत ध्येय के ग्रहण से ही ध्यान की सिद्धि होती है। आचार्य रामसेन ने कहा है कि जब ध्याता ध्यान के बल से अपने शरीर को शून्य करके ध्येय स्वरूप में प्रविष्ट होने से स्वयं उस रूप हो जाता है, तब वही उस प्रकार के ध्यान की कल्पना से रहित होता हुआ परमात्मा स्वरूप हो जाता है।[41]

धर्म्यध्यान कषाय सहित जीवों के ही होता है इस बात की पुष्टि करते हुए आचार्य वीरसेन स्वामी धवला पुस्तक 13 में कहते हैं कि असंयत सम्यग्दृष्टि, संयतासंयत, प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत क्षपक और उपशमक अपूर्वकरण संयत क्षपक और उपशामक, अनिवृत्तिसंयत क्षपक और उपशामक एवं सूक्ष्मसाम्पराय संयत क्षपक और उपशामक जीवों के धर्म्यध्यान की प्रवृत्ति होती है ऐसा जिनेन्द्र देव का उपदेश है इससे जाना जाता है कि धर्म्यध्यान कषाय सहित जीवों के ही होता है।

कषाय सहित प्राणी के होने के कारण यह एक वस्तु (आत्मा) में स्तोक काल तक ही रहता है। स्तोक काल के विषय में वीरसेन स्वामी हेतु देते हैं कि कषाय सहित परिणाम का गर्भगृह के भीतर स्थित दीपक के समान चिरकाल तक अवस्थान नहीं पाया जाता है।[42] आचार्य वीरसेन स्वामी शुभोपयोग, शुद्धोपयोग दोनों मं ही धर्म्यध्यान स्वीकार करते हैं।

धर्म्यध्यान के फल पर विचार करते हुए कहा गया है कि-अक्षपक जीवों को देव पर्याय सम्बन्धी विपुल सुख मिलना और कर्मो की गुणश्रेणी निर्जरा होना फल है तथा क्षपक जीवों के तो असंख्यातगुण श्रेणी रूप से कर्म प्रदेशों की निर्जरा होना और शुभ कर्मो का उत्कृष्ट अनुभाग का होना धर्म्यध्यान का फल है।[43] अट्ठाईस प्रकार की मोहनीय की सर्वोपशमना और मोहनीय का विनाश भी फल है।[44]

आदिपुराण में धर्म्यध्यान के आज्ञाविचय, अपायविचय, संस्थानविचय और विपाकविपय चार भेद स्वीकार किये गये हैं।[45]

आज्ञाविचय-अत्यन्त सूक्ष्म अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थों को विषय करने वाला जो आगम है, उसे ही आज्ञा कहते हैं क्योंकि प्रत्यक्ष और अनुमान के विषय से रहित केवल श्रद्धान करने योग्य पदार्थ में एक आगम की ही गति होती है।[46] वह चार अनुयोगों में विभक्त है। द्रव्यश्रुत और भावश्रुत आगम सर्वत्र प्रणीत है अत: उसमें वर्णित सप्त तत्व पदार्थ षड्द्रव्य पंचास्तिकाय का चिन्तन करते हुए स्थिर होना आज्ञाविचय धर्म्यध्यान है।

अपायविचय-तीन (मानसिक, वाचिक, कायिक अथवा जन्म जरा, मृत्यु) प्रकार के संताप से भरे हुए संसार रूपी समुद्र में जो प्राणी पड़े हुए हैं उनके अपाय का चिन्तन करना दु:खों से निकालने का विचार करना अपाय विचय धर्म्यध्यान है।[47]

विपाकविचय-शुभ और अशुभ भेदों में विभक्त हुए कर्मो के उदय से संसाररूपी आवर्त्त की विचित्रता का चिन्तवन करने वाले मुनि के जो ध्यान होता है उसे आगम के ज्ञाता तृतीय धर्म्यध्यान कहते हैं।

संस्थानविचय-लोक के आकार का बार-बार चिन्तवन करना तथा लोक के अन्तर्गत रहने वाले जीव अजीव आदि तत्त्वों का विचार करना चतुर्थ धर्म्यध्यान कहलाता है।

आदिपुराण तथा अन्य ध्यान विषयक शास्त्रों में धर्म्यध्यान के उक्त चार भेदों का ही कथन है किन्तु चारित्रसार में विशेष कथन करते हुए अपायविचय, उपायविचय, जीवविचय, अजीवविचय, विपाकविचय, विरागविचय, भवविचय, संस्थानविचय, आज्ञाविचय, हेतुविचय इन दश भेदों का कथन किया गया है। ध्यान विषयक ग्रन्थों[48] में संस्थान विचय के पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ, रूपातीत भेद निरूपित किये गये हैं।[49] आचार्य अमितगति ने पदस्थ, पिण्डस्थ, रूपस्थ और रूपातीत क्रम

स्वीकार किया है जिसकी समानता बृहद्द्रव्य संग्रह की टीका में उद्धृत ध्यान भेदों में भी है।[50] इन ध्यानों के वर्णनीय विषयों के सम्बन्ध में कहा गया है-

पिण्डस्थे स्वात्मचिन्तनं, पदस्थे मंत्रवाक्यस्थम्।
रूपस्थे सर्वचिद्रूपं रूपातीतं निरंजनम्॥

पिण्डस्थ ध्यान में स्वात्मचिन्तन, पदस्थ में मंत्र वाक्यों का चिन्तवन, रूपस्थ में सर्वचिद्रूप अरहन्त स्वरूप का ध्यान और रूपातीत ध्यान में निरंजन निर्विकार सिद्धात्मा के स्वरूप का ध्यान करते हुए एकाग्रता को प्राप्त किया जाता है।[51] ज्ञानार्णव[52], उपासकाध्ययन[53], ज्ञानसार आदि के अनुसार पिण्डस्थ ध्यान के अन्दर पार्थिवी धारणा, आग्नेयी धारणा, वायवी धारणा, वारूणी धारणा और तत्त्वरूपवती धारणा का वर्णन है। इनका ध्यान करने से स्वात्मरत संयमी पुरुष अनादिकालीन कर्मबन्धन को छिन्न करके मुक्ति प्राप्त कर सकता है। संस्थान विचय सम्बन्धी ध्यान के इन भेदों का तत्त्वार्थसूत्र, मूलाचार, भगवती आराधना, ध्यानशतक और आदिपुराण में उल्लेख भी नहीं किया गया है।

शुक्लध्यान

कषायों के उपशम या क्षय होने का नाम शुचिगुण है। आत्मा के इस शुचिगुण के सम्बन्ध से जो ध्यान होता है, उसे शुक्लध्यान कहते हैं। वह शुक्ल और परम शुक्ल के भेद से दो प्रकार का है, उसमें प्रथम शुक्ल ध्यान छद्मस्थों में होता है अर्थात् श्रेणी आरोहण करने वाले उपशामक और क्षपक के साथ उपशांत मोह नामक गुणस्थानवर्ती साधक और क्षीण मोही जिन को होता है। द्वितीय परम शुक्ल ध्यान केवली भगवन्तों के पाया जाता है।[54] प्रथम शुक्ल ध्यान के भी पृथक्त्ववितर्क वीचार और एकत्ववितर्क वीचार दो भेद हैं। परम शुक्ल ध्यान के सूक्ष्म क्रियाप्रतिपाती और समुच्छिन्न क्रियानिवर्ति ये दो भेद होते हैं। यहां इतनी विशेषता है कि आदिपुराणकार श्रेणी से शुक्ल ध्यान स्वीकार करते हैं किन्तु धवलाकार

आचार्य वीरसेन उपशांत कषाय नामक ग्यारहवें गुणस्थान से चौदहवें गुण स्थान तक के साधकों में शुक्ल ध्यान मानते हैं।

पृथक्त्ववितर्कवीचार

पृथक्त्व का अर्थ भेद है, वितर्क का अर्थ द्वादशांग श्रुत है वीचार का तात्पर्य अर्थ, व्यंजन और योग की संक्रान्ति है। एक अर्थ से दूसरे अर्थ की प्राप्ति होना अर्थ संक्रान्ति है। एक व्यंजन से दूसरे व्यंजन में प्राप्त होकर स्थिर होना व्यंजन संक्रान्ति और एक योग से दूसरे योग में गमन होना योग संक्रान्ति है। इस प्रकार जिस ध्यान में वितर्क-श्रुत के पदों का पृथक्-पृथक् रूप से वीचार-संक्रमण होता रहे उसे पृथक्त्व वितर्कवीचार नामक प्रथम शुक्ल ध्यान कहा जाता है।[55]

उपशान्त कषाय वाला साधक या श्रेणी आरोहण करने वाला साधक शुक्ल लेश्या से युक्त रहता हुआ अन्तर्मुहूर्त काल तक छह द्रव्य नौ पदार्थ विषयक चिन्तन करता है और उसी में स्थिर हो जाता है। अर्थ से अर्थान्तर का संक्रमण होने पर भी इस ध्यान का विनाश नहीं होता क्योंकि इससे चिन्तान्तर में गमन नहीं होता। यह दोनों श्रेणियों में होता है।

एकत्ववितर्कवीचार ध्यान

यहां एक का भाव एकत्व है[56]। वितर्क द्वादशांग को कहते हैं और अवीचार का अर्थ असंक्रान्ति है। अभेदरूप से वितर्क सम्बन्धी अर्थ व्यंजन और योगों का अवीचार (असंक्रान्ति) जिस ध्यान में होता है वह एकत्व वितर्क अवीचार नामक द्वितीय शुक्ल ध्यान है। आदिपुराण में कहा है-जिस ध्यान में वितर्क के एकरूप होने के कारण वीचार नहीं होता अर्थात् जिसमें अर्थ, व्यंजन और योगों का संक्रमण नहीं होता उसे एकत्ववितर्कवीचार कहते हैं।[57]

इस ध्यान का ध्याता शुक्ललेश्या वाला, मोह को नष्ट करने वाला, तीन योगों में से किसी एक योग का धारण करने वाला परमतपस्वी अमित तेजधारी महामुनि होता है। जो बारहवें गुणस्थान में पहुंचा हुआ होता है।

सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती

यहां क्रिया का अर्थ योग है और वह योग जिसके पतनशील हो वह प्रतिपाती कहलाता है। उसका प्रतिपक्ष अप्रतिपाती है, जिसमें क्रिया अर्थात् योग सूक्ष्म होता है, वह सूक्ष्म क्रिया कहा जाता है और सूक्ष्मक्रिया होकर जो अप्रतिपाती होता है वह सूक्ष्मक्रिया अप्रतिपाती ध्यान कहलाता है। इसके स्वामी केवली हैं। वे केवलज्ञानी समुद्घात की विधि प्रकट करते हैं।[58] समुद्घात के माध्यम से अघातिया कर्मों की स्थिति के असंख्यात भागों को नष्ट कर देते हैं और अशुभ कर्मों के अनुभाग के भी अनन्त भाग नष्ट करते हैं। अन्तर्मुहूर्त में योगरूपी आस्रव का निरोध करते हुए काय योग के आश्रय से वचनयोग और मनोयोग को सूक्ष्म कहते हैं फिर काय योग को भी सूक्ष्म कर उसके आश्रय से होने वाले सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाती ध्यान के स्वामी केवली होते हैं।

समुच्छिन्न क्रियानिवर्ति-जिसमें क्रिया-योग सम्यक् प्रकार से उच्छिन्न हो चुका है, वह समुच्छिन्न क्रिया हैं। समुच्छिन्न क्रिय होकर जो कर्म बन्ध से पूर्ण निवृत्त नहीं हुए हैं अर्थात् मुक्त नहीं हुए हैं वही समुच्छिन्न क्रिया निवर्ति ध्यान करने वाले हैं, उनका ध्यान ही व्युपरत क्रिया निवर्ति या समुच्छिन्न क्रिया निवर्ति कहलाता है जैसा कि आदिपुराणकार भी कहते हैं जिसके समस्त योगों का पूर्ण निरोध हो गया है ऐसे योगिराज प्रत्येक प्रकार आस्रव से रहित होकर समुच्छिन्न क्रिया निवर्ति नाम के चतुर्थ शुक्ल ध्यान को प्राप्त होते हैं।[59]

यह ध्यान भी अन्तर्मुहूर्त तक धारण किया जाता है। इसके स्वामी अयोग केवली चौदहवें गुणस्थान के उपान्त्य समय में बहत्तर और अन्तिम समय में तेरह कर्म प्रकृतियों को विनष्ट कर मुक्ति प्राप्त करते हैं। परमसिद्धात्मा बनकर अक्षय अनन्त अमूर्तिक हो सिद्धालय में विराजमान होते हैं।

उक्त प्रकार के ध्यान के भेद-प्रभेदों का वर्णन किया। ध्यान सभी तपों का सार है। ध्यान का सर्वातिशायी महत्व इसलिए है क्योंकि इसके द्वारा ही कर्मों की निर्जरा होकर मुक्ति प्राप्त होती है।

1. आवश्क निर्युक्ति गाथा 1463 2. आदिपुराण पर्व 2 श्लोक 8
3. पर्व 21 श्लोक 12 4 पर्व 21 श्लोक 13-14
5. पर्व 21 श्लोक 9 6. तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् पा भो. 3/2
7. विसुद्धिमग्गो पृ. 141-151 8 आवश्क निर्युक्ति 1476-77
9 भगवद्गीता 12-22 10 मनुस्मृति 1-12, 6-72
11 रघुवंश 1-73 12. अभिज्ञानशाकुन्तलम् 7 13. ज्ञानात् ध्यानंविशिष्यते
14 तस्मादाशयशुद्धचर्यमिष्ठा तत्वार्थभावना।
ज्ञानशुद्धिस्तस्तस्यां ध्यानशुद्धिरूढाहृता।। आदिपुराण पर्व 21 श्लोक 26
15. ध्यानशतक 8 16 तत्वार्थसूत्र 6-28 योगप्रदीप 15-33
17 ध्यानंतुविषये तस्मिन्नेक प्रत्यय सतति-अभिज्ञान चिन्तामणि कोष 1/84
18 आदिपुराण पर्व 21 श्लोक 27, 28, 29
19 तैत्तिरीयोपनिषद 20 विसुद्धिमग्ग 21. ज्ञानार्णव 3/28-31
22. "ऋतमर्दनमर्ति वा तत्र भवमार्त्तम्" तत्वार्थराजवर्तिक 9/28/1
23-25. आदिपुराण पर्व 21, श्लोक 31-36, 38
26. ज्ञानसार गाथा 12 27. तत्वार्थसूत्र 1/35
28-32 आदिपुराण पर्व 21, श्लोक 45, 50, 51, 57-64
33 प्रशस्तप्रणिधानयत् स्थिर मेकत्रवस्तुनि, तद्ध्यानमुक्तं मुक्त्यंगं धर्म्य
शुक्लमितिद्विघां आ पु प 21 श्लोक 132
34. धवला पुस्तक 13 पृष्ठ 60 35 आदिपुराण पर्व 21 श्लोक 133
36 समाधितंत्र 35 37 आदिपुराण पर्व 21 श्लोक 85-87
38. ज्ञानार्णव गाथा 25 पृ 267 39 आदिपुराण पर्व 21 श्लोक 102 व 156
40 ज्ञानार्णव 41. तत्वानुशासन 135-36 42. धवलपुस्तक 13 पृ. 74
43 ज्ञानार्णव पृ 268 गा 28 44 धवल पुस्तक 13 पृ. 13 गा. 56-57
45-47 आदिपुराण पर्व 21, श्लोक 134, 135, 141
48 योगसार गाथा 97 49. ज्ञानार्णव 34/1 (1877)
50 बृहद्द्रव्यसंग्रह गा. 48 की संस्कृत टीका
51 ज्ञानसार 52 ज्ञानार्णव 53. उपासकाध्ययन
54-55. आदिपुराण पर्व 21, श्लोक 167, 168
56. धवल पु. 13 पृ. 79
57-59 आदिपुराण पर्व 21, श्लोक 179, 189, 196

रीडर-दिगम्बर जैन कालिज, बड़ौत
निदेशक-दिगम्बर जैन मुनि विद्यानंद शोधपीठ, बड़ौत

जैन श्रमणाचार और ध्यान-विमर्श

- डॉ. अशोक कुमार जैन

भारतवर्ष धर्म प्रधान देश है। यहां पर वैदिक परम्परा एवं श्रमण-परम्परा का प्रवाह अविच्छन्न रूप से गतिमान है। दोनों ही परम्पराओं में विशाल वाङ्मय उपलब्ध है। श्रमण संस्कृति की चिन्तनधारा मूलत: आध्यात्मिक है। अध्यात्म में धरातल पर जीवन का चरम विकास श्रमण संस्कृति का अन्तिम लक्ष्य है। जीवन का लक्ष्य सच्चे सुख की प्राप्ति है। यह सुख आत्म-स्वातंत्र्य में ही संभव है। कर्मबन्धनमुक्त संसारी जीव इसकी पहचान नहीं कर पाता वह इन्द्रियजन्य सुखों को वास्तविक सुख मान लेता है। श्रमण-संस्कृति व्यक्ति को इस भेद-विज्ञान का दर्शन कराकर उसे निश्रेयस् के मार्ग पर चलने के लिए प्रवृत्त करती है।

जैन श्रमण समता की साक्षात् प्रतिमूर्ति है। जैन आचार का लक्षण समत्व प्राप्ति है और वह राग-द्वेष की निवृत्ति से ही संभव है। सूत्रकृतांग की शीलाङ्ककृत टीका[1] में लिखा है 'श्राम्यति तपसा खिद्यत इति कृत्वा श्रमणो वाच्य:। अर्थात् जो आत्मा की साधना के लिए श्रम करता है या तप-साधना से शरीर को खेद-खिन्न करता है वह श्रमण है। श्रमण शब्द स्वयं में महान् तपस्वी साधु का द्योतक है। वे बहिरंग और अन्तरंग तपों में निरत रहकर आत्मसाक्षात्कार की दिशा में अग्रसर होते हैं। अन्तरंग तपों में ध्यान का शास्त्रों में अत्यन्त महत्व प्रतिपादित किया गया है।

'ध्यै चिन्तायाम्' धातु से ध्यान शब्द निष्पन्न है तथा जिसका अर्थ होता है चिन्तन। एक विषय में चिन्तन का स्थिर करना ध्यान है[2]। तत्वार्थसूत्र में लिखा है कि 'उत्तम संहनन वाले का एक विषय में चित्तवृत्ति का रोकना ध्यान है जो अन्तर्मुहूर्त तक होता है।[3] अपराजितसूरि ने एक पदार्थ में ज्ञान सन्तति के निरोध को ध्यान कहा है।[4] भगवती आराधना में ध्यान की सामग्री के विषय में कहा है कि बाह्य द्रव्य को

देखने की ओर से आँखों को किंचित् हटाकर अर्थात् नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि को स्थिर करके एक विषयक परोक्ष ज्ञान में चैतन्य को रोककर शुद्ध चिद्रूप अपनी आत्मा में स्मृति का अनुसंधान करें। यह ध्यान संसार से छूटने के लिए किया जाता है।[5] आचार्य जिनसेन ने तन्मय होकर किसी एक ही वस्तु में जो चित्त का निरोध कर लिया जाता है उसे ध्यान कहा है। वह ध्यान वज्रवृषभनाराच संहनन वालों के अधिक से अधिक अन्तर्मुहूर्त तक ही रहता है।[6] जो चित्त का परिणाम स्थिर होता है उसे ध्यान कहते हैं और जो चंचल रहता है उसे अनुप्रेक्षा, चिन्ता, भावना अथवा चित्त कहते हैं।[7] योग, ध्यान, समाधि, धीरोध अर्थात् बुद्धि की चंचलता रोकना, स्वान्त निग्रह अर्थात् मन को वश में करना और अन्त:संलीनता अर्थात् आत्मा के स्वरूप में लीन होना आदि सब ध्यान के ही पर्यायवाचक शब्द है।[8]

ध्यान के भेद-ध्यान के दो प्रकार हैं-1. शुभ ध्यान 2. अशुभ ध्यान। भोगी की शक्ति का उपयोग अशुभ ध्यान में होता है। योगी की शक्ति का उपयोग शुभ ध्यान में होता है। अत: ध्यान को प्राथमिक भूमिका से उठाकर अन्तिम शिखा तक ले जाने के चार आयाम हैं-

चत्तारि झाणा पण्णता तं जहा
अट्टे झाणे रोद्दे झाणे धम्मे झाणे सुक्के झाणे।[9]

तत्वार्थ सूत्र में भी लिखा है 'आर्तरौद्रधर्म्य शुक्लानि[10]' अर्थात् ध्यान के चार प्रकार कहे हैं-आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान।

1. **आर्त्तध्यान**-आर्त शब्द 'ऋत' अथवा 'अर्ति' इनमें से किसी एक से बना है। इनमें से ऋत का अर्थ दु:ख है और अर्तिकी, अर्दनं अर्ति, ऐसी निरुक्ति होकर उसका अर्थ पीड़ा पहुंचाना है। इसमें जो होता है वह आर्त्तध्यान है। इसके चार भेद हैं। 1. अनिष्ट संयोग 2. इष्ट वियोग 3. परीषह (वेदना) 4. निदान। कषाय सहित होने से यह अप्रशस्त माना जाता है।[12]

2. **रौद्रध्यान**-यह भी कषाय सहित होता है अत: यह भी अप्रशस्त ध्यान के अन्तर्गत है। इसमें क्रूरता का प्राधान्य होता है। हिंसक एवं क्रूर भावों

से युक्त स्व और पर के घात का निरन्तर चिन्तन करना रौद्रध्यान है। रौद्रध्यान के चोरी, असत्य, हिंसा का रक्षण तथा छह प्रकार के आरम्भ को लेकर चार भेद कहे हैं।[13]

आर्त्त और रौद्रध्यान अप्रशस्त है। सुगति में विघ्न डालने वाले और महान् भय के कारण होने से महाभय रूप रौद्र और आर्त्त ध्यान को त्याग कर बुद्धि सम्पन्न क्षपक धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान को ध्याता है।[14]

3. **धर्म्यध्यान**-धर्म से युक्त ध्यान धर्मध्यान है। यहां धर्म शब्द वस्तुस्वभाव का वाचक है अत: धर्म अर्थात् वस्तु स्वभाव को धर्म कहते हैं। तत्त्वार्थ सूत्र में लिखा है 'आज्ञापायविपाक संस्थान विचयाय धर्म्यम्' अर्थात् आज्ञा, अपाय विपाक और संस्थान इनकी विचारणा के निमित्त मन को एकाग्र करना धर्म्यध्यान है।[15] शिवार्य के अनुसार आर्जव, लघुता, मार्दव, उपयश और जिनागम में स्वाभाविक रुचि, ये धर्म्यध्यान के लक्षण हैं।[17] स्थानांगसूत्र में धर्म्यध्यान के चार लक्षण बताये हैं-1. आज्ञारुचि अर्थात् प्रवचन में श्रद्धा होना 2. निसर्गरुचि-सत्य में सहज श्रद्धा होना 3. सूत्ररुचि-सूत्र पठन से सत्य में श्रद्धा उत्पन्न होना 4. अवगाढ़ रुचि-विस्तृत पद्धति से सत्य में श्रद्धा होना।[18]

ध्यान की एकाग्रता के लिए आलम्बनों का होना आवश्यक हो जाता है। शिवार्य ने इस सम्बन्ध में लिखा है-ध्यान करने के इच्छुक क्षपक के लिए यह लोक आलम्बनों से भरा हुआ है। वह मन को जिस ओर लगाता है वही आलम्बन बन जाता है।[19] धर्म्यध्यान के मुख्य चार आलम्बन माने गये हैं- 1. वाचना 2. पृच्छना 3. परिवर्तना 4. अनुप्रेक्षा। शिवार्य ने सभी अनित्यादि बारह अनुप्रेक्षाओं को धर्म्यध्यान के अनुकूल आलम्बन माना है।[20]

भेद-धर्मध्यान के चार भेद हैं-आज्ञा विचय, अपाय विचय, विपाक विचय तथा संस्थान विचय-ये चारों धर्म्यध्यान के ध्येय भी है। इनका विवरण इस प्रकार है-

1. **आज्ञा विचय**-पांच अस्तिकाय (जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश) षड् जीव निकाय (पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, वनस्पति और त्रस), काल द्रव्य तथा अन्य कर्मबन्ध, मोक्ष आदि को जो सर्वज्ञ की आज्ञा से ही गम्य है, आज्ञाविचय नामक धर्म्यध्यान के

द्वारा विचार करता है। परम दयालु और राग-द्वेष से रहित सर्वज्ञदेव ने जिस रूप में इन्हें कहा है वे उसी रूप में हैं। इस प्रकार के चिन्तन को आज्ञा विचय धर्मध्यान कहते हैं।[21]

2. **अपाय विचय**-तीर्थंकर पद को देने वाले दर्शन विशुद्धि आदि द्वारा कथित उपदेश के अनुसार करता है अथवा जीवों के शुभ और अशुभ कर्म विषयक अपायों का विचार करता है। इसका अभिप्राय है कि जीव शुभ और अशुभ कर्मो से कैसे छूटे इस प्रकार का सतत चिन्तन अपाय विचय है।[22]

3. **विपाक विचय**-कर्मो के फल, उदय, उदीरणा, संक्रम, बन्ध तथा मोक्ष आदि का चिन्तन करना विपाक विचय धर्म्यध्यान है।[23]

4. **संस्थान विचय**-पर्याय अर्थात् भेद सहित तथा वेत्रासन, झल्लरी और मृदंग के समान आकार सहित ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और मध्यलोक का चिन्तन करना संस्थान विचय धर्म्यध्यान है।

4. **शुक्लध्यान**-जिसमें शुचि गुण का सम्बन्ध हो उसे शुक्ल कहते हैं।[25] जिसमें अतिविशुद्ध गुण होते हैं, कर्मों का उपशम तथा क्षय होता है और शुक्ल लेश्या होती है वह शुक्लध्यान है।[26] जब क्षपक धर्म्यध्यान को पूर्ण कर लेता है तब वह अति विशुद्ध लेश्या के साथ शुक्लध्यान को ध्याता है क्योंकि परिणामों की पंक्ति उत्तरोत्तर निर्मलता को लिये हुए हैं। अत: वह क्रम से ही होती है जिसने प्रथम सीढ़ी पर पैर नहीं रखा वह दूसरी सीढ़ी पर नहीं चढ़ सकता। अत: धर्म्यध्यान में परिपूर्ण हुआ अप्रमत्त संयमी ही शुक्लध्यान करने में समर्थ होता है।[27]

भेद-शुक्लध्यान के चार भेद हैं-1. पृथक्त्ववितर्क 2. एकत्ववितर्क 3. सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति 4. व्युपरतक्रियानिवर्ति।28

1. **पृथक्त्ववितर्क वीचार**-प्रथम शुक्लध्यान का नाम पृथक्त्व वितर्क है क्योंकि इसमें योग परिवर्तन के साथ ध्येय का भी परिवर्तन होता रहता है इसलिए इसको पृथक्त्व कहते हैं। श्रुतज्ञान को वितर्क कहते हैं। चौदह पूर्वों का ज्ञाता साधु ही इस शुक्लध्यान को ध्याता है इसलिए इस प्रथम शुक्लध्यान को सवितर्क कहते

हैं अथवा श्रुत का कारण होने से वितर्क शब्द का अर्थ श्रुत है। नाना अर्थो के वाचक जो शब्द हैं उनमें संक्रम अर्थात् परावर्तन को और योगों के परिवर्तन को वीचार कहते हैं। इस वीचार होने से शुक्लध्यान को आगम में सवीचार कहा है।

इस तरह पृथक्त्व अर्थात् भेदरूप से वितर्क अर्थात् श्रुत का वीचार (संक्रान्ति) जिस ध्यान में होता है वह पृथक्त्ववितर्क वीचार नामक प्रथम शुक्लध्यान है। यह ध्यान उपशान्तमोह कषाय नामक ग्यारहवें गुणस्थानवर्ती जीवों को होता है।[29]

2. **एकत्ववितर्क अवीचार**-यह दूसरा शुक्ल-ध्यान का भेद है इसका नाम एकत्ववितर्क है क्योंकि इसमें एक ही योग का अवलम्बन लेकर एक ही द्रव्य का ध्यान किया जाता है अत: एक द्रव्य का अवलम्बन लेने से इसे एकत्व कहते हैं प्रथम शुक्लध्यान की तरह दूसरा भी सवितर्क है। यह ध्यान क्षीणमोह नामक बारहवें गुणस्थानवर्ती जीवों को होता है।[30]

3. **सूक्ष्मक्रिया प्रतिपाति**-सूक्ष्मकाययोग में स्थित केवली उस सूक्ष्म भी काययोग को रोकने के लिए तीसरा शुक्लध्यान ध्याता है। यह ध्यान वितर्क और वीचार से रहित अवितर्क और अवीचार है। इसमें प्राण, अपान, श्वासोच्छ्वास का प्रचार, समस्त काय-योग, मनोयोग, वचन योग रूप हलन-चलन क्रिया का व्यापार नष्ट हो जाता है इसलिए वह अक्रिय है। इस ध्यान से सब कर्मो का आस्रव रुक जाता है अत: इसे निरुद्ध योग कहा है। इसके अनन्तर कोई ध्यान नहीं होता इससे इसे अपश्चिम कहा है तथा यह परम शुक्लध्यान है।[31]

4. **व्युपरतक्रिया निवर्ति**-काय-योग का निरोध करके अयोगकेवली औदारिक, तैजस और कार्मण शरीरों का नाश करता हुआ अन्तिम शुक्लध्यान को ध्याता है। एक अन्तर्मुहूर्त काल तक अतिनिर्मल उस ध्यान को करके शेष चार अघाति कर्मों का विनाश कर मोक्ष को प्राप्त होता है। अयोग केवली के उपान्त्यसमय में बासठ और अन्तिम समय में तेरह प्रकृतियां नष्ट हो जाती हैं।

उसके पश्चात् वह शुद्धात्मा ऊर्ध्वगमन स्वभाव के कारण एक ही समय में लोक के अन्त पर्यन्त जाकर सिद्धालय में विराजमान हो जाता है।[32]

जैन श्रमणाचार में ज्ञान और ध्यान ये दोनों कार्य श्रमण के विशेष रूप से वर्णित किये गये हैं। आन्तरिक तपों में ध्यान साधना पर विशेष बल दिया गया है। अत: कर्म क्षय में ध्यान की महत्वपूर्ण भूमिका है।

सन्दर्भ

1. सूत्रताङ्ग, शीलांककृत टीका 1/16
2. एकाग्रचिन्तानिरोधोध्यानमिति-मूलाचारवृत्ति 5/197
3. उत्तम संहननस्यैकाग्रचिन्ता निरोधो ध्यानमान्तर्मुहूर्तात्। तत्वार्थसूत्र 9/27
4. एकस्मिन् प्रमेये निरुद्धज्ञानसततिर्ध्यानम्-विजयोदया टीका पृ. 249
5. भगवती आराधना गाथा 1701 की विजयोदया टीका पृ 756
6. आदिपुराण 21/8
7. वही 21/9
8. वही 21/12

9 स्थानांग सूत्र-4

10. तत्वार्थसूत्र 9/28
11. सर्वार्थसिद्धि पृष्ठ 351

12-14 भगवती आराधना गाथा 1697, 1692, 1699

15 तत्वार्थसूत्र 9/27

16-17 भगवती आराधना गाथा 1703 की विजयोदया टीका पृ. 757, गाथा 1704

18 ठाणं 4/66 पृ 310

19-24. भगवती आराधना 1870, 1705, 1706, 1707, 1708, 1709

25 सर्वार्थ सिद्धि 9/28 पृ. 874

26. कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा 481

27 भगवती आराधना गाथा 1871

28. तत्वार्थसूत्र 9/39

29-32. भगवती आराधना गाथा 1872-1875, 1878, 1881, 1883

- वरिष्ठ प्राध्यापक, जैन विद्या एवं
तुलनात्मक धर्म दर्शन विभाग
जैन विश्व भारती संस्थान, लाडनूं (राज.)

अपरिग्रह से द्वन्द्वविसर्जन : समतावादी समाज-रचना

- डॉ. सुषमा अरोरा

विज्ञान के उत्तरोत्तर विकास के साथ यह विश्व चाहे जितना छोटा होता जा रहा हो, उसमें एक कोने से दूसरे कोने तक पहुंचने की समय की दूसरी चाहे कितनी संकुचित होती जा रही हो, किन्तु उसकी परिवार जैसी छोटी और राष्ट्र जैसी बड़ी इकाइयों के बीच भी संघर्ष और अशान्ति के बादल घुमड़ रहे हैं। राष्ट्र रूपी इकाइयों के बीच संतुलन बनाये रखने के लिए संयुक्त राष्ट्रसंघ जैसी विशालतम संस्थाएं भी निरन्तर असफल हो रही हैं। नगर, ग्राम और परिवार आदि छोटी इकाइयों के बीच भी संघर्ष और अशान्ति का जो तूफान उठता है, उसे ग्राम, नगर, प्रदेश अथवा राष्ट्र की न्यायपालिकाएं शान्त नहीं कर पातीं, अपितु अशान्ति के झंझावात से वे स्वयं भी अतिशय भाराक्रान्त होकर अपनी असमर्थता को स्वीकार करने लगीं हैं। वर्तमान शताब्दी के समाजशास्त्री इस संघर्ष और अशान्ति के समाधान करने का अथक प्रयास करके भी असफल हो रहे हैं और उनके द्वारा स्थापित समाजवाद के आदर्श को अपनाकर चलने वाली बड़ी-बड़ी इकाईयां निरन्तर बिखर रही हैं। सोवियत रूस का विघटन इसका ज्वलन्त श्प्रमाण है।

भारत के प्राचीन मनीषियों ने उत्कट साधना से प्रसूत विवेक (ऋतम्भरा प्रज्ञा-योगज ज्ञान) के द्वारा सुदूर भविष्य में उठने वाली इन समस्याओं को पहचाना था और मानव समाज को उनसे सुरक्षित बनाये रखने के लिए कुछ उपाय प्रस्तुत किये थे। उनके अनुसार समाज की समस्त समस्याओं का कारण लोभ, मोह आदि मानस विकार होते हैं। इन मनोविकारों का कारण प्रेममय वातावरण में जीने वाला मधुर मानव हिंसक और क्रूर हो उठता है।[1] वह सरल और सहज जीवन जीना छोड़कर दल-प्रपंच को अपना लेता है। सन्तोषपूर्ण तृप्त जीवन के स्थान पर अनन्त लालसाओ, कामनाओं से ग्रस्त होकर भटकने लग जाता है। प्राचीन भारत के प्रायः सभी सम्प्रदायों के मनीषियों ने विद्वेष और अशान्ति के इस मूल को समान

रूप से देखा था और उनका निर्विवाद रूप से परस्पर अभिन्न एक मार्ग सुझाया था, जैन परम्परा ने सर्वप्रथम इसे अणु या महाव्रत के रूप में स्वीकार किया[2], तो बौद्ध परम्परा ने दश मूल शिक्षाओं में इन्हें प्रतिष्ठित किया।[3] वैदिक परम्परा के मनु और पंतजलि आदि ने इन्हें यम के नाम से सार्वभौम महाव्रत माना है।[4] अहिंसा आदि महाव्रतों के प्रतिपक्षी हिंसा, असत्य (छल-छद्म), स्तेय (परस्वापहरण), अब्रह्मचर्य (कामुकता) और परिग्रह अर्थात् लोभ, मोह पूर्वक अनन्त साधन-सामग्री का संग्रह; ये मानव की अनन्त समस्याओं के मूल हैं। प्रस्तुत आलेख में हम परिग्रह के दुष्परिणामों तथा अपरिग्रह के माध्यम से मानव की बहुविध समस्याओं के समाधान के रूप पर विचार करेंगे।

परिग्रह का अर्थ है कम या अधिक, छोटे या बड़े, सचित्त या अचित्त विद्यमान या अविद्यमान बाह्य द्रव्यों अथवा आभ्यन्तर भावों के प्रति आसक्ति एवं ममत्व का अनुभव करते हुए चित्त का लोभ-मोह से मूर्च्छित होना।[5] अपरिग्रह का अर्थ है अमूर्च्छा।[5] अपरिग्रह व्रत (अणुव्रत और महाव्रत) के पालन में इन सबके प्रति आसक्ति; ममत्व (मूर्च्छा) का परित्याग करना अभीष्ट होता है। ममत्व की परतें जितनी सघन होती हैं, निर्मलता पर उतना ही सघन आवरण रहता है। साधक के पास जो वस्त्र, पात्र, कम्बल, पाद प्रोंछन आदि, यहां तक कि पीछी और कमण्डलु, जो संन्यास धर्म के अनिवार्य उपकरण हैं, के प्रति भी ममता (आसक्ति) रूपी मूर्च्छा का विसर्जन अभीष्ट है। इन सांसारिक या धार्मिक उपकरणों के प्रति रागवश अपनत्व या स्वामित्व की कल्पना होने से उनकी प्राप्ति में हर्ष और अप्राप्ति में पीड़ा का जन्म होता है तथा हर्ष और पीड़ा के प्रति लगाव या दुराव अनेक प्रकार के संघर्षों को जन्म देता है। परिग्रह के मूल में लोभ और मोह रहा करते हैं। एक बार उत्पन्न हुए लोभ की फिर कोई सीमा नहीं होती कामनाएं निरन्तर वैसे ही बढ़ती चली जाती हैं, जैसे घृत की आहुति से अग्नि।[6] जिसके फलस्वरूप समाज में बड़ी-बड़ी विषमताएं, बैर-विरोध और संघर्ष उत्पन्न होते हैं। चारों ओर अशान्ति का साम्राज्य छा जाता है। सामाजिक नियम अथवा राज-व्यवस्था द्वारा परिग्रह की भावना का उन्मूलन कभी सम्भव नहीं है। इसी कारण परिग्रहमूलक विषमताओं, संघर्षो और अशान्ति का शमन समाज व्यवस्था अथवा राजव्यवस्था द्वारा न कभी हो सका है और न कभी हो सकेगा। इसीलिए

धर्मसंस्था ने मनुष्य की आभ्यन्तर चेतना को जागृत कर परिग्रह-वृत्ति पर नियमन करने का प्रयत्न किया है। आभ्यन्तर चेतना के जागृत होने पर सामान्य मनुष्य भी साधना में प्रवृत्त होता है और उसके उच्च और उच्चतर शिखर पर पहुंचता है। इस तथ्य को केन्द्र में रखकर जैनमनीषियों ने परिग्रह के प्रतिपक्षभूत अपरिग्रह की साधना को अणुव्रत और महाव्रत के रूप में पालनीय माना है।

सामान्य गृहस्थ के कर्तव्यों में परिवार का भरण-पोषण, सामाजिक व्यवस्थाओं के संचालन में योगदान, आश्रयहीन जीव-जन्तुओं, कीट-पतंगों का पालन, साधु-संतों और मुनिजनों के निर्विघ्न साधना-सम्पादन के लिए उनके आहार आदि की व्यवस्था इत्यादि बहुत कुछ सम्मिलित है। वे ही सम्पूर्ण समाज के आश्रय उसी प्रकार होते हैं, जैसे नदियों का आश्रय समुद्र होता है।[7] इसलिए उनके लिए कुछ परिग्रह धर्म-साधन के रूप में अनिवार्य बन जाता है, परन्तु वहीं साधनों के प्रति ममता (आसक्ति) मोह और और लोभ विषमता, संघर्ष और अशान्ति को जन्म देते हैं। अतएव गृहस्थों के पास परिग्रह होते हुए भी वह संयमित हो, संतुलित हो, इसे ध्यान में रखकर जैन मुनियों ने उनके लिए अणुव्रत के रूप में अपरिग्रह को पालनीय माना है। जैसा कि पहले कहा गया है कि परिग्रह के साथ-साथ मोह-ममता बनी ही रहती है और यह मोह-ममता मन का एक सहज धर्म है। इसलिए मनीषियों ने मन के संयम की ओर विशेष ध्यान दिया है। मन को समझाने के लिए उन्होंने तर्क दिये हैं कि सांसारिक भोग की सामग्री साधनभूत परिगृहीत सामग्री अचिर स्थायी है, विनाशशील है, उसका वियोग तो होना ही है। उसके प्रति आसक्ति होने पर वह साधनसामग्री-वियोग पीड़ादायी होगा, तो क्यों न अनासक्त भाव से उसका त्याग किया जाये।[8] मन में इस प्रकार के चिन्तन के अंकुरित होकर विकसित और पुष्ट होने पर मन के अधीन होकर कार्य करने वाली इन्द्रियां विषयों की ओर आकृष्ट नहीं होतीं, क्योंकि इन्द्रिय रूपी सेना के अध्यक्ष मन में विषयों के प्रति आसक्ति समाप्त हो चुकी होती है।[9] जिस प्रकार प्रत्यक्ष युद्ध में वीरतापूर्वक युद्ध करती हुई सेना भी सेनापति के मारे जाने पर स्वामीहीन होकर भयभीत और निराश हो जाती है तथा युद्धभूमि को छोड़कर भाग खड़ी होती है, उसी प्रकार विषय-वासना रूपी युद्धभूमि में मन के अनासक्त हो जाने पर, दूसरे शब्दों में विषयों के प्रति मन के

मर जाने पर इन्द्रियां विषय वासनाओं में नहीं टिकतीं, वे भी वहां से भाग खड़ी होती हैं-

मणणरवइणो मरणे मरंति सेणाइं इंदियमयाइं।
ताणं मरणेण पुणो मरंति णिस्सेसकम्माइं॥[10]

विषयों के प्रति मन में आसक्ति रहने पर इन्द्रियां असंयत होकर विषयोपभोग के लिए भागती हैं।[11] फलतः मनुष्य आपत्तियों से घिर जाता है। अनेक प्रकार के संघर्षों में पड़कर अपनी शान्ति खो बैठता है। अतः साधक परम्परा ने इन्द्रियों के संयम को ही सुखों का मूल माना है। कहा भी गया है-

आपदां कथितः पन्था इन्द्रियाणामसंयमः।
तज्जयः संपदां मार्गो येनेष्टं तेन गम्यताम्॥[12]

जैन परम्परा के इस अपरिग्रह सिद्धान्त की मूलभूमि को श्रीमद्भगवद्गीता में बहुत मनोवैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत किया गया है। वहां कहा गया है कि परिग्रह से प्राप्त होने वाले, दूसरे शब्दों में परिग्रह से अभीष्ट विषयोपभोगों का चिन्तन करने मात्र से उनके प्रति आसक्ति उत्पन्न होती है। विषयों के प्रति आसक्ति कामना को जन्म देती है। यह अनिवार्य नहीं है कि कामना सदा सम्पूर्ण रूप से पूर्ण हों। ऐसी स्थिति में कामी के हृदय में क्रोध भभक उठता है। क्रोध से सम्मोह का जन्म होता है, अर्थात् क्रोध से विवेक विलीन होने लगता है, जिसका परिणाम होता है स्मृतिभ्रंश। स्मृतिभ्रंश का उत्तररूप है बुद्धिनाश और बुद्धिनाश का परिणाम है सर्वनाश।[13] यहां गीताकार का तात्पर्य यह है कि परिग्रह सर्वनाश का कारण है, इसलिए जो सर्वनाश से बचना चाहते हैं, उन्हें अपरिग्रह का पालन अनिवार्य रूप से करना चाहिए।

परिग्रह का अर्थ केवल स्थूल रूप से भोग-साधनों का संग्रह ही नहीं है, अपितु मन और वचन से भी उनके प्रति आसक्ति है। एक सामान्य गृहस्थ जो अणुव्रत के रूप में अपरिग्रह का पालन करता है, वह अपेक्षित साधन-सामग्री का न केवल मन और वचन से, अपितु स्थूल रूप से भी परिग्रह तो करता है, परन्तु उसके प्रति आसक्ति नहीं रखता। इसीलिए वह परिग्रह करते हुए भी क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधन-धान्य दास-दासी घरेलू उपकरण के सम्बन्ध में एक प्रमाण निश्चित करता है कि मैं इस मात्रा से

अधिक (खेत), घर, सुवर्ण-आभूषण, धन-धान्य, दास-दासी तथा अन्य घरेलू उपकरणों को संगृहीत नहीं करूंगा और इस निर्धारित सीमा का वह आजीवन पालन करता है। स्थूल रूप से इनका पालन करता हुआ, यदि वह मन से भी परिग्रह करने को सोचता है तो उसे अतिचार कहा जाता है। अतिचार का स्वरूप इस प्रकार हो सकता है, मान लीजिए एक व्यक्ति ने क्षेत्र और वास्तु के सम्बन्ध में परिमाण निर्धारित किया कि मैं एक खेत से अधिक खेत या एक घर से अधिक घर नहीं रखूंगा। इस निश्चय के अनुसार उसने अन्य खेतों और घरों को त्याग भी दिया; किन्तु कालान्तर में उसके खेत के पास एक और खेत सुलभ हो जाता है एवं उसके घर के पास एक और घर उसके अधिकार में आ जाता है। उस समय उस व्यक्ति के मन में लोभ उत्पन्न हो जाता है और वह निर्धारित प्रमाण का स्थूल रूप से पालन करने के लिए दोनों खेतों के बीच की विभाजक रेखा को मिटाकर दो खेतों को एक बना लेता है। दोनों घरों के मध्य की सीमा-भित्ति को तोड़कर उन्हें एक घर के रूप में परिणत कर देता है। इस स्थिति में वह क्षेत्र, वास्तु प्रमाण का स्थूलतः पालन अवश्य कर रहा है, परन्तु इसे क्षेत्र-वास्तु प्रमाण का अतिचार ही कहा जायेगा। इसी प्रकार सुवर्ण-आभरण, धन-धान्य, दास-दासी और घरेलू उपकरण आदि के प्रमाण-निर्वाह के लिए अतिरिक्त नवीन प्राप्त को किसी प्रकार प्रमाण में लाना अथवा किसी अन्य के घर सुरक्षित कर देना धन-धान्य, दास-दासी, कुप्य आदि का अतिचार माना जायेगा। इन सभी अतिचारों में मानसिक परिग्रह का अधिक महत्त्व है।[14]

अपरिग्रह महाव्रत के पालन में महाव्रतों की निम्नलिखित पांच भावनाएं बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। ये भावनाएं हैं-पांचों ज्ञानेन्द्रियों के विषयों में से प्रिय के प्रति राग और अप्रिय के प्रति विद्वेष का पूर्णतया परित्याग। इन भावनाओं को श्रोत्रेन्द्रिय रागोपरति, चक्षुरिन्द्रिय रागोपरति, घ्राणेन्द्रिय रागोपरति, रसनेन्द्रिय रागोपरति और स्पर्शेन्द्रिय रागोपरति नाम से जाना जाता है। इन पांचों भावनाओं में मनोज्ञ के प्रति राग के विसर्जन के साथ-साथ अमनोज्ञ के प्रति द्वेष का विसर्जन भी आवश्यक माना जाता है।[15] यहां प्रश्न हो सकता है कि अपरिग्रह के क्रम में अमनोज्ञ के प्रति द्वेष के विसर्जन को भावना में क्यों सम्मिलित किया गया है? क्योंकि विषय-भोग सामग्री चाहे मनोज्ञ हो या अमनोज्ञ, उसके प्रति द्वेष तो परिग्रह का कारण नहीं बनता।

इस आशंका का समाधान यह है कि राग और द्वेष एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। जिस प्रकार अनुकूलता तटस्थता के प्रतिकूल है और मनोज्ञ वस्तु के प्रति राग की सूचक है, उसी प्रकार अमनोज्ञ के प्रति द्वेष भी तटस्थता के प्रतिकूल है और अनुकूल के प्रति राग-वृत्ति को सूचित करता है क्योंकि अनुकूल के प्रति राग के अभाव में अनुकूलता-प्रतिकूलता का बोध न होने से अमनोज्ञ के प्रति द्वेष होना सम्भव नहीं है। अमनोज्ञ के प्रति द्वेष की उत्पत्ति तभी हो सकती है, जब उसके विपरीत (मनोज्ञ) के प्रति राग हो। इसलिए जिस प्रकार राग परिग्रह का मूल है, उसी प्रकार राग के समानान्तर अमनोज्ञ के प्रति उत्पन्न होने वाला द्वेष भी परिग्रह का कारण है और इसीलिए उक्त पांचों भावनाओं में मनोज्ञ के प्रति राग और अमनोज्ञ के प्रति द्वेष को समान रूप से संगृहीत किया गया है।

जैन परम्परा में मूलतः परिग्रह के अनतरंग और बाह्य ये दो भेद किये गये हैं। इनमें अन्तरंग परिग्रह के 14 भेद हैं-मिथ्यात्व, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद, क्रोध, मान, माया और लोभ। बाह्य परिग्रह के 10 भेद हैं-क्षेत्र, वास्तु, धन, धान्य, द्विपद, चतुष्पद, यान, शयनासन, कुप्य और भाण्ड। इस प्रकार परिग्रह के कुल चौबीस भेद हैं।[16] यह भेद कल्पना अत्यन्त सूक्ष्म और मनोविज्ञान पर आधारित है। इन सब का मन, वचन और काय पूर्वक त्याग से ही अपरिग्रह महाव्रत सिद्ध होता है। उपर्युक्त अन्तरंग और बाह्य परिग्रहों का पूर्णविसर्जन क्रमशः चौदह गुणस्थानों में आरोहण के माध्यम से होता है।

यहां यह प्रश्न हो सकता है कि परिग्रह विषमता, संघर्ष और अशान्ति का कारण किस प्रकार है? इस प्रसंग में यह सुविदित होना चाहिए कि प्रकृति जहां विश्व के विविध प्राणियों को जन्म देती है, वहीं वह उनके आहार आदि के लिए अपेक्षित मात्रा में ही (न कम न अधिक) भोगसाधन भी प्रस्तुत करती है। जब मानव-समाज के कुछ व्यक्ति अनिवार्य अपेक्षा से अधिक साधन सामग्री संकलित कर लेते हैं, तो निश्चय ही दूसरी ओर कुछ लोगों के लिए अनिवार्य साधन-सामग्री का अभाव हो जायेगा। ऐसी स्थिति में असन्तोष और संघर्ष का जन्म होना स्वाभाविक है, जो अशान्ति का मूल कारण बनता है। भूख से तड़पता हुआ व्यक्ति, व्यक्तिविशेष के पास अपार भोजन-सामग्री को देखकर उसके प्रति

ईर्ष्या-द्वेष से युक्त होकर संचित भोजन को प्राप्त करने के लिए संघर्ष करे और हिंसा आदि क्रूर कर्मों को अपनाने लगे, यह अस्वाभाविक नहीं है। दूसरी ओर साधन-सम्पन्न व्यक्ति लोभ-मोह के कारण अपनी सम्पत्ति की रक्षा के प्रयत्न में उन क्षुधापीड़ितों के प्रति भी क्रूर हो जाये, यह भी सहज ही है। यह सब संघर्ष और अशान्ति का ही रूप है, जिसका जन्म परिग्रह के कारण हुआ है। संघर्ष, कलह, हिंसा और अशान्ति की स्थिति उत्पन्न न हो, इसीलिए महावीर स्वामी सहित प्राचीन भारत के सभी प्रबुद्ध विचारकों ने अपरिग्रह को सार्वभौम महाव्रतों में स्वीकार किया है। उन लोगों ने गृहस्थों के लिए भले ही प्रमाण-परिमाण का निर्धारण किया है परन्तु यति जनों के लिए सर्वपरिग्रह के निषेध को अनिवार्य माना है। जिन गृहस्थों को आंशिक रूप से धर्मसाधन के लिए परिग्रह की अनुमति भी दी है, उनके लिए भी यह निर्देश दिया है कि वे मनोज्ञ अथा अमनोज्ञ भौतिक साधनों के प्रति आसक्ति रहित हों। इस अनासक्ति को समय-समय पर परिपुष्ट करते रहने के लिए गृहस्थों के लिए दान रूप कर्तव्य को भी आवश्यक बताया है, जिससे समाज में विषमता का जन्म न हो सके। यदि थोड़ी बहुत विषमता अनुमत परिग्रह के कारण उत्पन्न भी हुई हो, तो दान आदि के कारण उसका विलय हो सके तथा समतावादी समाज की स्थापना हो सके।

यहां एक प्रश्न हो सकता है कि जिस प्रकार एक सामान्य गृहस्थ को आज किसी वस्तु की आवश्यकता होने पर उसके पास संगृहीत धन-सम्पत्ति के विनिमय से ही अपेक्षित वस्तु सुलभ हो पाती है, उसी प्रकार भविष्य में भी किसी अनिवार्य वस्तु को प्राप्त करने के लिए विनिमय ही एक मात्र उपाय विदित होता है और विनिमय के लिए आवश्यक है संग्रह अर्थात् परिग्रह। इस प्रकार भविष्य सुखमय हो, सुरक्षित हो, इसके लिए परिग्रह आवश्यक प्रतीत होता है।

वस्तुतः भविष्य की सुरक्षा के लिए परिग्रह का होना आवश्यक नहीं है। अनेक लोगों ने गृहस्थ जीवन में भी अपरिग्रह का समग्र रूप से पालन करते हुए भी पूर्ण आनन्दमय और सुरक्षित जीवन जीकर सामान्य गृहस्थों के लिए एक आदर्श प्रस्तुत किया है। इस दृष्टि से मिथिला के अयाची मिश्र की कथा (इतिहास) को उद्धृत किया जा सकता है।

मिथिला के प्राय: सभी विद्वान् अयाची मिश्र का नाम बहुत गर्व से लेते हैं और उनकी विद्वत्ता तथा निस्पृहता की प्रशंसा करते नहीं थकते। उनका वास्तविक नाम पं. जयदेव मिश्र था। एक दिन से अधिक के लिए भोजन सामग्री का संग्रह न करना उनका नियम था एवं कभी किसी से याचना न करना उनका व्रत था। अपने इस व्रत के कारण ही वे अयाची मिश्र के नाम से प्रसिद्ध हो गये थे। शास्त्रों का अध्ययन करने अथवा शास्त्र सम्बन्धी गुत्थियों के सुलझाने के लिए उनके यहां विद्यार्थियों और विद्वानों का तांता लगा रहता था। मिश्रजी अपने नित्य कर्म पूजा-पाठ आदि से निवृत्त होकर अपनी कुटिया में आसन पर बैठ जाते और आने वाले विद्यार्थियों तथा जिज्ञासुओं को क्रमश: पढ़ाते और उनकी शंकाएं दूर करते। विद्यार्थी और विद्वान् जिज्ञासु आते और पीछे बैठ जाते। जब पूर्व आगत जिज्ञासु उठकर चले जाते, तब पीछे वाले आगे बढ़कर मिश्रजी के सम्मुख अपनी जिज्ञासा प्रकट करते। यही वहां की परम्परा थी।

मिश्रजी की विद्वत्ता और अकिंचनता की ख्याति सर्वत्र प्रदेश में हो गयी थी। उस क्षेत्र के राजा के पास भी उनकी ख्याति पहुंची। राजा ने सोचा कि मेरे राज्य में इतना बड़ा विद्वान् गरीब रहे, यह मेरे लिए लज्जा की बात है। वह अपने महल से निकलकर मिश्रजी की कुटिया पर पहुंचा। वहां अनेक जिज्ञासु पहले से बैठे थे। वह भी प्रणाम करके सबसे पीछे बड़ी शालीनता के साथ बैठ गया। एक-एक करके जब आगे के लोग अध्ययन करके उठ गये, तब राजा ने आगे बढ़ कर पुन: पंडितजी को प्रणाम किया। मिश्रजी ने उससे पूछा-बोलो, तुम्हारी क्या समस्या है? राजा ने अपना परिचय देकर कहा कि मैंने आपकी विद्वत्ता और गरीबी दोनों के विषय में सुना है, मैं आपकी सेवा के लिए कुछ अन्न और कुछ ध न-सम्पत्ति लाया था, आप स्वीकृति दें तो मैं बाहर से उठवाकर रखवा दूं।

पं. जयदेव मिश्रजी ने अपनी पत्नी को आवाज़ लगायी और उसके आने पर उससे भण्डार का हाल पूछा। पंडितानी ने सन्तोष की मुद्रा में उत्तर दिया कि आज के लिए भरपूर सामान एक शिष्य घर में पहुंचा गया है। पंडितानी का उत्तर सुनकर मिश्रजी ने राजा से बहुत आदरपूर्वक कहा-महाराज! घर में सब कुछ है, आप किसी गरीब को यह दान देने की कृपा करें। राजा ने बहुत आग्रह किया कि कल के लिए या आगे के

लिए रख लें। परन्तु मिश्रजी को यह स्वीकार नहीं था। उनका उत्तर था जिसने आज तक मेरा प्रबन्ध किया है, उस प्रभु का अपमान होगा, यदि मैं कल की चिन्ता करूंगा। अत: आप कृपा करके वह सब ले जाएं, जो मुझे देना चाहते हैं, वह किसी और को दे दें जिसे इसकी आवश्यकता है।

आज समाज के निन्यानबे प्रतिशत लोग ही नहीं, लाखों में एक आध को छोड़कर प्राय: सभी लोग जीवन भर के लिए ही नहीं, अपितु आगे की सात पीढ़ियों तक के लिए धन-सम्पत्ति शीघ्र से शीघ्र एकत्र करने की सोचते हैं। इसी चिन्ता में व्यापारी सामानों में मिलावट करता है, मुनाफाखोरी एवं चोरबाजारी करता है तथा टैक्स की चोरी करता है, सरकारी कर्मचारी घूसखोरी करता है और राजनेता बड़े से बड़ा भ्रष्टाचार करता है। समाज का एक अन्य वर्ग लूट-खसोट, चोरी-डकैती और हत्याएं करता है।

इन सब अनाचारों के पीछे लोगों की यह मिथ्या विचारधारा, यह मिथ्यादर्शन कार्य करता है कि आज जितना धन संग्रह कर लेंगे, कल का हमारा जीवन उतना ही सुखी और सुरक्षित रहेगा। वस्तुत: धन का संग्रह करना जितना कष्टकर है, उसकी रक्षा की चिन्ता उससे अधािक कष्टदायी है तथा धन के नष्ट होने पर जो अपार कष्ट होता है, वह कल्पनातीत है। आज समाचार पत्रों के पन्ने चोरी, डकैती और धन के कारण होने वाली हत्याओं के समाचारों से भरे रहते हैं। ऐसी हत्याएं किसी गरीब की नहीं होतीं, झुग्गी-झोपड़ी वालों की नहीं होतीं, परिग्रही लखपतियों और करोड़पतियों की होती हैं। तात्पर्य यह है कि मेहनत करके या छल-प्रपंच करके एकत्र की गयी धन-सम्पत्ति सुरक्षा नहीं, भय प्रदान करती है।

धन का सबसे अच्छा उपयोग है दान। बिना किसी स्वार्थ के, बिना किसी प्रत्याशा के परिचित-अपरिचित उन सभी के लिए अपने पास विद्यमान धन सम्पत्ति अथवा उपयोग साधनों का उपयोग करना जिनको उनकी आवश्यकता है। बैंक में जमा की गयी धनराशि की अपेक्षा इस प्रकार उपयोग किया गया धन अधिक सुरक्षित रहता है, आवश्यकता पड़ने पर अप्रत्याशित रूप से हमारे पास आ जाता है। अपेक्षा रहित होकर दिया गया दान समाज में प्रेम और सौमनस्य की प्रतिष्ठा करता है, भाई-चारा बनाता है, एक-दूसरे के हृदय को जोड़ता है। दान के माध्यम से जरूरतमन्द व्यक्तियों में वितरण करते रहने की समाज की प्रवृत्ति समाज

के प्रत्येक व्यक्ति में सुरक्षा और निश्चिन्तता की भावना को बद्धमूल करती है। प्रत्येक व्यक्ति आश्वस्त हो जाता है कि कल यदि विपन्नता ने मेरा द्वार खटखटाया, तो हमारा समाज हमें भी अपनी गोद में लेकर पूरा संरक्षण प्रदान करेगा। हीरे जवाहरात, सोना-चांदी अथवा बैंक बैलेंस कभी यह सुरक्षा नहीं दे सकता। इसलिए यदि हम पूर्ण सुरक्षा चाहते हें, शान्तिपूर्वक निभय जीवन जीना चाहते हैं, तो हमें दानशील (अपरिग्रही) बनना होगा। स्मरणीय है कि परिगृहीत धन-सम्पत्ति न साथ आयी है, न साथ जायेगी। दान के द्वारा जितना प्रेम प्राप्त कर लिया जायेगा, वही काम आयेगा।

समतावादी समाज का मुख्य उद्‌देश्य है : अनुचित राग और द्वेष का त्याग। दूसरों के साथ अन्याय तथा अत्याचार का व्यवहार नहीं करना; न्यायपूर्वक ही अपनी आजीविका सम्पादित करना; दूसरों के अधिकारों को हड़प नहीं करना, दूसरों की आजीविका को हानि नहीं पहुंचाना, उनको अपने जैसा स्वतन्त्र और सुखी रहने का अधिकारी समझकर उनके साथ भाईचारे का व्यवहार करना, उनके उत्कर्ष में सहायक होना, उनका कभी अपकर्ष नहीं सोचना, जीवनोपयोगी सामग्री को स्वयं उचित और आवश्यक रखना और दूसरों को रखने देना, संग्रह, लोलुपता, शोषण की वृत्ति का परित्याग करना आदि। कहने का तात्पर्य यह है कि जैन आचार्यो ने समतावादी समाज को आदर्श समाज के रूप में स्वीकार किया है और उसकी स्थापना के लिए अपरिग्रह को प्रधान हेतु माना है। जैन आचार्यो ने जितनी शक्ति अहिंसा पर लगायी है, उतना ही बल अपरिग्रह पर दिया है, क्योंकि अहिंसा की सिद्धि अपरिग्रह के मंत्र से ही हो सकती है। अपरिग्रह का पूर्णतया पालन होने की स्थिति में साधक, साधक न रहकर सिद्धकेवली हो जाता है।

सन्दर्भ

1. वितर्काः हिंसादयः........लोभमोहक्रोधपूर्वकाः मृदुमध्याधिमात्राः........इति प्रतिपक्षभावनम्। योगसूत्र 2/34
2. हिंसाऽनृतस्तेयब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम्। देशसर्वतोऽणुमहती। तत्त्वार्थसूत्र, 7/1-2
3. पाणातिपातावेरमणीसिक्खापदं समादियामि। मुदावादावेरमणी.। अदिन्नादानावेरमणी.। अब्रह्मचरियावेरमणी.।-विसुद्धिमग्ग।

4. (क) यमान् सेवेत सततं न नियमान् केवलान् बुधः।
यमान् पतत्यकुर्वाणो ....।। मनुस्मृति 4/204
(ख) अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाः।
जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमाः महाव्रतम्। योगसूत्र 2/30-31
5 मूर्च्छापरिग्रह.।-तत्त्वार्थ सूत्र 7/17, दशवैकालिक 6/21
6 न जातु काम· कामाना उपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते।। मनुस्मृति 2/94
7 यथा नदीनदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम्।
तथैवाश्रमिण सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम्।। मनुस्मृति 6/90
8. अवश्यं यातारश्चिरतरमुषित्वाऽपि विषया,
वियोगे को भेदस्त्यजति न जनो यत्स्वयममून्।
व्रजन्तः स्वातन्त्र्यादतुलपरितापाय मनसः,
स्वयं त्यक्ता ह्येते शमसुखमनंतं विदधति।। जैन तत्त्वमीमांसा पृ. 14 से उद्धृत
9. इंदियसेणा पसरइ मण-णरवइ-पेरिया ण संदेहो।
तम्हा मणसंजमणं खवएण य हवदि कायव्वं। आराधनासार 58
10. आराधनासार, 60
11. इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि।। श्रीमद्भगवद्गीता 2/67
12. जैन तत्त्वज्ञानमीमासा, पृ. 17 से उद्धृत।
13. (क) ध्यायतो विषयान्पुंस. संस्तेषूपजायते।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते।।
क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रम.।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति।। श्रीमद्भगवद्गीता 2/62-63
(ख) मनसश्चेन्द्रियाणा च यत्स्वस्वार्थे प्रवर्तनम्।
यदृच्छयेव तत्त ज्ञा इन्द्रियासंयमाविदु.।।
जैन तत्त्वज्ञानमीमांसा पृ 13 से उद्धृत
14 क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्यप्रमाणातिक्रमाः। तत्त्वार्थसूत्र 7/29
15. (क) मूलाचार 5/144, चारित्तपाहुड 36, आचारांग 2/15, समवायाग समवाय 25
(ख) मनोज्ञामनोज्ञेन्द्रियविषयरागद्वेषवर्जनानि पंच। तत्त्वार्थसूत्र 7/8
16. मूलाचार 5/210-211, भगवती आराधना 1118-1119, तत्त्वार्थसूत्र 7/29, 8/9

पूर्व संस्कृत विभागाध्यक्ष
185, द्वारिकापुरी, मुजफ्फरनगर (उ.प्र.)-251001

संयम : एक प्रायोगिक साधना

- विनोद कुमार जैन, टीकमगढ़

संयम एक सतत प्रायोगिक साधना की प्रक्रिया है। इस साधना की शुरुआत करने से पूर्व संयम शब्द का अर्थ एवं अर्थ-संलिप्त भाव (गूढ़गर्भित भाव) को समझना आवश्यक है।

संयम = सम् + यम

यम अर्थात् जीवन-पर्यन्त निर्वहन हेतु लिये जाने वाला व्रत। ऐसी प्रतिज्ञा जो जीवन भर के लिए धारण की जाती है।

सम्>सम अर्थात् समता। समता से स्पष्ट होता है कि निज भाव स्थिति में इच्छा-आकांक्षा, संकल्प-विकल्प रहित होकर इष्ट-अनिष्ट को एक समान ग्रहण करते हुए स्वाभावानुसार कृतित्व में दृढ़ता बनाये रखना। समता स्व से ही निसृत हो सकती है, आवरणित या थोपी हुई नहीं हो सकती। अधिक सूक्ष्मता से समझने के लिए सम का एक अन्य भाव ग्रहण करते हैं। सम से हुआ समन (शमन) अर्थात् इन्द्रियक विषय भोगों की तुष्टि, लिप्सा एवं गृद्धता आदि विकारी भावों का शमन, मतलब विकारी भावों को शांत करना या उनका उपशम होना। तो संयम शब्द को अब हम इस प्रकार परिभाषित कर सकते हैं "कर्मोदय के विपाक का निमित्त पाकर स्वभाव से परे उत्पन्न होने वालो विकारी भावों का शमन कर समतापूर्वक जीवन-पर्यन्त निर्वहन हेतु धारण किये गये व्रत को संयम कहते हैं।"

प्रश्न उत्पन्न होता है कि इन्द्रियों का शमन ही क्यों करना व कैसे करना?

सामान्य भाव रहता है कि इन्द्रियों एवं मन का दमन करने से संयम आता है। दमन में इच्छाशक्ति की दृढ़ता को प्रमुखता प्राप्त है, जो अज्ञानभाव से भी हो सकती है। यह बात वेगवती बहती नदी की धारा पर बांध बनाने जैसी ही बात है, धारा के वेग के विपरीत अड़कर खड़े होने

जैसी बात है। इसमें तीव्र वेग की स्थिति में ध्वंस (पतित) हो जाने, बांध के टूट जाने की आशंका प्रबल रहती है। टूटन सदैव विध्वंस व विनाश की जन्मदात्री है जबकि शमन में विवेक को प्रमुखता प्राप्त है। विवेक = वि + वे + क

वि = विशिष्ट

वे = वेत्ता

क = क्रिया

तो विवेक से भाव स्पष्ट हुआ कि ऐसी क्रिया जो विशिष्ट वेत्ता द्वारा की जाय यानि विशिष्ट वेत्तात्मक क्रिया। सरल रूप में कहें तो विशेष ज्ञानयुक्त क्रिया। विशिष्ट ज्ञान वस्तु स्वरूप को जानने एवं उसका यथार्थ भाव ग्रहण करने से प्रकट होता है। वस्तु स्वरूप जाने एवं ग्रहण किये बिना हेय-उपादेय, कृत-अकृत की स्थिति स्पष्ट नहीं होती है। हेय को त्याग उपादेय को ग्रहण कर निजात्म स्वरूप का वेत्ता होकर की जानें वाली क्रिया ही धर्म है एवं इसी से मन एवं इन्द्रियों का शमन (शांति) होता है।

तो समग्र स्वरूप पर विचार करने से स्पष्ट होता है कि ऐसा कर्म/कार्य जो मन एवं इन्द्रियों का शमन कर जीवन-पर्यन्त समता भाव से किया जा सके। उदाहरणस्वरूप किसी को कहा जाय कि चमड़े की वस्तुओं का त्याग कर दो तो उसके मन में तुरन्त प्रश्न उत्पन्न होगा, क्यों? यदि यही बात उसे सीधे न कह कर समझाया जाय कि किस प्रकार हिंसा का मार्ग अपना कर चमड़े को प्राप्त किया जाता है। इस प्रक्रिया में उस शब्द वर्गणा रहित जीवों का कितनी वेदना सहन करनी पड़ती है। उसको समझाया जाये कि स्व जैसा ही जीव तत्व उन पशुओं में भी विद्यमान रहता है। ऐसी वस्तुओं के उपयोग से स्वयं में हिंसादिक विकारी भाव उत्पन्न होते हैं और परिणामस्वरूप किस प्रकार बार-बार जन्म-मरण की यंत्रणा सहने को यह जीव मजबूर होता है। इसके अलावा चमड़े से इतर वस्तुओं का उपयोग करने से भी अभीष्ट कार्य विशुद्धिपूर्वक सम्पन्न हो जाते हैं, तो फिर ऐसा व्यक्ति स्वतः ही चमड़े के उपयोग से स्वयं तो विमुख होता ही है, दूसरों को प्रेरणा भी देता है।

अब देखिये, न तो प्रवाह की धारा को बांधना पड़ा, न ही धारा के विपरीत खड़ा होना पड़ा और यथेष्ट कार्य सम्पन्न हो गया। भाइयों! प्रवाह की धारा को बांधना संयम नहीं, अपितु प्रवाह की धारा को सही दिशा प्रदान कर देना ही संयम है। मन में सदैव भाव उत्पन्न होते रहते हैं, भावों की धारा पर सवार हो, बुद्धि को वाहनचालक बनाकर मन अकल्पनीय तीव्रता से विचरण करता है। मन के इस स्वच्छंद विचरण से आकांक्षा, लालसा एवं गृद्धता उत्पन्न होती है, जिससे पर-पदार्थो में प्रबल मोह जाग्रत होता है। विवेक के पैने अंकुश से जब मन के बुद्धि से जुड़े तंतुओं पर प्रहार होता है तब बुद्धि संयमित होती है। बुद्धि के संयमित होते ही मन की गति मंद हो जाती है। पुन: विवेक के अंकुश से दिशा पाकर मन दृष्टव्य दिशा में चलना शुरू कर देता है। सही दिशा प्राप्त होते ही दशा बदलने में देर नहीं लगती। दशा का बदलना ही संयम की पूर्णता है।

इस लब्धि की प्राप्ति को सुलभ करने हेतु अपने जीवन में एक क्रमगत प्रयोग की आवश्यकता पर बल देता हूं, जिससे जीवन की दिशा अवश्य ही परिवर्तित होगी। इस जीवन का कोई भी एक दिन चयनित कर प्रात: सोकर उठने से लेकर रात्रि को शयन से पूर्व तक किये गये प्रत्येक छोटे-बड़े कार्यो की सूची उन कार्यो में लगे समय के साथ लिख लें। अब प्रयोग की सामग्री तैयार है। आपके कृत की एक दिन की यह सूची ही आपके जीवन की दिशा परिवर्तित करेगी। कैसे?

सर्वप्रथम तो आने वाले दिनों में किसी भी एक दिन, जिस दिन आप अपेक्षाकृत शांत एवं प्रसन्न अनुभूत कर रहे हों, इसी सूची पर विचार एवं अध्ययन शुरू कर दें। यह क्रिया चार चरणों में पूर्णता को प्राप्त होगी।

प्रथम चरण में इस सूची पर मात्र लौकिक दृष्टि से ही विचार हो पायेगा। देखिये एवं स्वयं निर्णय कीजिये कि इस सूची में कितने कार्य बिल्कुल ही अनावश्यक कारित हुए हैं जिनको किये बगैर भी आपका जीवन आराम से चल सकता था। थोड़े से चिंतन से यह स्वयं ही स्पष्ट हो जायेगा तब अपने अगले दिनों की दिनचर्या से ऐसे अनावश्यक कार्यो को क्रमश: हटाते जायें। इस चरण की पूर्णता तक आप पायेंगे कि आपके पास अपने आवश्यक कार्यों के लिए अधिक समय है। परिणति में आप अपने आवश्यक कार्य अधिक शांति, तन्मयता एवं सफलतापूर्वक निष्पादित कर पायेंगे। इससे आपका विश्वास स्वयं में दृढ़ होगा तथा मन शांत होगा।

दूसरे चरण में अब उस सूची पर अधिक एकाग्रता से चिंतन संभव हो सकेगा अब देखिये कि किस-किस कार्य में आपने कितना-कितना समय लगाया है। क्या वास्तव में उतना ही समय लगना चाहिए था या फिर उससे कुछ कम समय में भी उसी कुशलता से उस कार्य के निष्पादन के लिए पर्याप्त है। आप पायेंगे कि वास्तव में आपने काफी समय व्यर्थ किया है, जो आप बचा सकते थे। इस समय को बचाने का अभ्यास करिये। समय की बचत के साथ ही आपकी ऊर्जा का अपव्यय भी रुकेगा। दूसरे चरण की पूर्णता तक आप पायेंगे कि आपके पास काफी समय एवं ऊर्जा बची रहती है।

प्रथम दो चरणों की क्रिया से अब आपके पास समय एवं ऊर्जा दोनों का सुरक्षित कोष हो गया है। इसी कोष के सदुपयोग से अब तीसरा चरण शुरू होता है। इस कोष का उपयोग ऐसे कार्यो में करना शुरू करिये जिससे मन संयमित, शांत हो सके, स्वभाव में दृढ़ता आये तथा लोक में कीर्ति भी फैले। ऐसे स्व, पर कल्याणकारी कार्य करना शुरू करें। सुपात्रों को दान, दया दान, देव,पूजन, गुरुपास्ति, स्वाध्याय, शास्त्र श्रवण आदि-आदि। इस प्रकार के कार्यो से जहां एक ओर निज स्वरूप से निकटता में वृद्धि होगी वहीं दूसरी ओर जीवन में सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान एवं शुभ भावों की वृद्धि होगी। सम्यक् भाव आने से षट्काय के जीवों की रक्षा हेतु कृतसंकल्पित होंगे। जीवन में निकांक्षित कर्म का महत्व समझ सकेंगे। पाप प्रकृतियों का क्षयोपशम होगा, पुण्य प्रकृतियों के फलोदय में वृद्धि होकर पुण्याश्रवी उत्कृष्ट पुण्य प्रकृतियों का बंध होगा। इससे लोक में वैभव, कीर्ति, यश में वृद्धि को प्राप्त हो निर्शंकित रूप से धर्म मार्ग पर चलने की दृढ़ता स्वमेय वृद्धि को प्राप्त होगी।

तृतीय चरण की पूर्णता से हुई शुभ भावों की वृद्धि का अवलम्ब ले चतुर्थ चरण, जो मुख्यत: ध्यान एवं चिंतन का चरण है, की शुरुआत करिये। सोचिये, अनादिकाल से दूसरों पर दया, करुणा करता आया हूं, पर-पदार्थों को जानने का पुरुषार्थ करता आया हूं। क्या आज तक दूसरों पर करुणा, दया कर पाया? क्या पर की दशा, पर का परिणमन परिवर्तित कर पाया? क्या वास्तव में पर-पदार्थो का परिणमन परिवर्तित कर पाना संभव है? या वे सब अपने-अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की सीमाओं में सीमाबद्ध होकर स्वतंत्र, निर्बाध परिणमन कर रहे हैं? इन प्रश्नों पर चिंतन

से यही सत्य उद्‌भाषित होगा कि अनादि से किये गये मेरे प्रयत्न वृथा हैं। एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य में प्रवेश ही संभव नहीं है। एक द्रव्य दूसरे का कर्ता हो ही नहीं सकता। प्रत्येक द्रव्य अपने-अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव रूपी मजबूत चारदीवारी से निर्मित महल में स्वच्छंद परिणमन करता है। मात्र यह जीवन द्रव्य ही है जो भावरूपी दीवार में मोहरूपी खिड़की से पर द्रव्यों, उनकी क्रियाओं एवं परिणमन को देख-देख कर उनसे मोहाविष्ट हो तादात्म्य स्थापित करने के मिथ्याभिमान को ग्रहण कर उन क्रियाओं का कर्ता स्वयं को मानने की भूल कर बैठता है। बस यहीं से जीव के भोक्ता होने की अनवरत क्रिया चल पड़ती है। कर्ता भाव आते ही आश्रव एवं बंध के क्षेत्राधिकार में फंस कर उनके कुचक्र का हिस्सा बन जाता है। कर्म प्रकृतियों के उदय के विपाक का निमित्त पाकर आत्म प्रदेशों में उत्पन्न स्पंदन से निर्विकल्प न रह पाकर अपना समग्र उद्वेलित कर लेता है, फिर आश्रयभूत पदार्थो को निमित्त मानकर उनमें रागद्वेष करता हुआ आश्रव-बंध उदय के जाल में ठीक उस मकड़ी की तरह, जो स्वनिर्मित जाले के विस्तार की चाह में बाहर निकलने का तंतु भूल उसी जाले में फंस कर भ्रमित होती हुई प्राणों का उत्सर्जन कर देती है, यह जीव जन्म-मरण के जाल में उलझ चौरासी लाख योनियों के चक्र में फंस कर रह जाता है।

चिंतन से प्रकट यह सत्य ध्यान की दिशा बदल देता है। ध्यान अब परापेक्षी न रहकर निजात्म स्वरूप को जानने एवं उससे तादात्म्य स्थापित करने के पुरुषार्थ में रत हो जाता है। मृत ज्ञान का अवलम्ब छोड़ निज ज्ञान प्रकाश में, तत्व, अर्थ एवं स्वरूप का सत्य खोज डालता है। तब ज्ञान, ज्ञान से ज्ञान का परिचय करा देता है। बंधुओं, पर को जानने के प्रयत्न अनादि से करते हुए भी पर को जान नहीं पाये अपितु मोह-मिथ्यात्व में ही उलझ कर रह गये। मगर स्वयं को जानने के उपरांत पर को जानने की आवश्यकता ही नहीं रह जाती है क्योंकि स्वात्म प्रकाश में पर अपनी समस्त पर्यायों के साथ युगपत् प्रतिभाषित होता ही है।

तो ज्ञान जब ज्ञान से ज्ञान को जान ले, बस तभी संयम स्वत: पूर्णता को प्राप्त हो जाता है।

-18, महादेव नगर, जयपुर-302021

पं. पन्नालाल जी ''साहित्याचार्य'' के कतिपय प्रेरक संस्मरण (उनकी लेखनी से)

- संकलनकर्ता-ब्र. विवेक जैन 'विचार'

स्वर्गीय पं. जुगलकिशोर जी मुख्त्यार, जैन श्रुत के अद्वितीय विद्वान थे। स्व सम्पादित ग्रन्थों के ऊपर उनकी लिखित प्रस्तावनाएं सर्वमान्य होती थीं, आप इतिहास के अप्रतिम विद्वान् थे। माणिक चन्द्र ग्रन्थमाला से प्रकाशित संस्कृत टीकायुक्त रत्नकरण्डक श्रावकाचार के ऊपर आपने जो ऐतिहासिक प्रस्तावना लिखी है, वह परवर्ती विद्वानों के लिए मार्गदर्शक हुई है।

आपने जिनवाणी के प्रकाशनार्थ सरसावा में वीरसेवा मंदिर की स्थापना की और उसके लिए अपना सर्वस्व समर्पित कर दिया। आपके दर्शन का मुझे कई बार सौभाग्य मिला है।

सन् 1944-45 की बात होगी। सामाजिक निमन्त्रण पर मैं सहारनपुर के वार्षिक रथोत्सव में शामिल हुआ था, उस समय वहां स्व. पं. माणिकचन्द्र जी न्यायाचार्य भी विद्यमान थे। उत्सव के बाद मैं अपने सहपाठी मित्र पं. परमानन्द जी शास्त्री से मिलने के लिये सरसावा गया था, सन्ध्या के समय हम दोनों मित्र कहीं घूमने चले गये, जब रात को 9 बजे वापिस आये तब श्री जुगलकिशोर जी मुख्तार बोले कहां चले गये थे? दोनों मित्र! हम आपकी प्रतीक्षा में बैठे हैं। विषय था रत्नकरण्डक श्रावकाचार को ''मूर्धरुहमुष्टिवासो बन्ध पर्यङ्कबन्धनं चापि। स्थानमुपवेशनं वा समयं जानन्ति समयज्ञा'' श्लोक की टीका में मैंने समय का अर्थकाल न लिखकर आचार लिखा था। ''समयाशपथाचार काल-सिद्धान्त-सविद!'' इत्यमरः। इस कोश के अनुसार समय का अर्थ आचार भी होता है। सामायिक करने वाले श्रावक को सामायिक में बैठने के पहले अपने केश तथा वस्त्रों को सम्हालकर बैठना चाहिये जिससे बीच में आकुलता न हो। बैठकर या खड़े होकर सामायिक की जा सकती है। हाथ की मुट्ठियां भी बंधी हों फैली न हों।

इस अर्थ को देखकर उन्होंने बड़ी प्रसन्नता प्रगट की काल का वर्णन तो अगले श्लोक में एक भक्त या उपवास के समय सामायिक विशेष रूप से करना चाहिए। दूसरे दिन उन्होंने प्रातःकाल वीरसेवा मंदिर सरसावा में ही मेरा शास्त्र प्रवचन रखा; शास्त्र प्रवचन में मैंने प्रकरण प्राप्त "अनेकान्त" की व्याख्या करते हुए कहा कि अनेक का अर्थ यह नहीं कि नीबू खट्टा भी है, पीला भी है और गोल भी है किन्तु परस्पर विरोधी नित्य-अनित्य, एक-अनेक आदि दो धर्म ही अनेक कहलाते हैं। विवक्षा के अनुसार उन दोनों धर्मो का परस्पर समन्वय किया जाता है। व्याख्या को सुनकर आप बहुत प्रसन्न हुए कि अनेकान्त के अनेक शब्द का परस्पर विरोधी दो धर्म अर्थ करना संगत है। परस्पर विरोध नित्य अनित्य एक अनेक अर्थ होते हैं।

आप समन्तभद्र स्वामी के बहुत ही भक्त थे। भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत् परिषद् की ओर से आपका अभिनन्दन करने के लिए हम और पं. वंशीधर जी व्याकरणाचार्य मैनपुरी गये थे। उस समय वे वहां विद्यमान थे। सभा में उनकी सेवा में विद्वत् परिषद् की ओर से अभिनन्दन पत्र पढ़ा गया। अन्य विद्वानों ने भी उनकी सेवा में बहुत कुछ कहा-जब वे अपना वक्तव्य देने लगे तब कहते-कहते उनका गला भर आया और रुंधे गले से कहने लगे कि आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने हम लोगों का जो उपकार किया है वह भुलाया नहीं जा सकता। मुझे लगता है कि मैं पूर्व भव में उनके सम्पर्क में रहा हूं।

एक बार पूज्य गणेश प्रसाद वर्णी जी महाराज ईसरी में विराजमान थे। प्रसंगवश मैं भी वहां उपस्थित था। वर्णीजी ने आग्रह कर सोनगढ़ के निश्चयनय प्रधान प्रवचनों को लक्ष्य कर मुख्तार जी से कहा कि-आप तो विद्वान् हैं इस झगड़े को सुलझाइये, तब मुख्तार जी ने अपने वक्तव्य में कहा कि-जिनागम में निश्चय और व्यवहार, द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक इन दो नयों के माध्यम से व्याख्यान किया जाता है। इसी प्रसंग पर अमृतचन्द्र स्वामी का पुरुषार्थ सिद्धयुपाय ग्रन्थ में रचित श्लोक सुनाया-

व्यवहारनिश्चयौ यः प्रबुध्य तत्वेन भवति मध्यस्थः।
प्राप्नोति देशनायाः स एव फलमविकलम् शिष्यः॥

समयसार में आ. कुन्दकुन्द स्वामी ने जहां निश्चय की प्रधानता से कथन किया है वहां अनन्तर व्यवहारनय का भी कथन किया है। कुन्दकुन्द स्वामी की इस प्रवचन शैली पर आज तक किसी ने आक्षेप नहीं किया। परन्तु आज जो निश्चयनय की अपेक्षा जो

प्रवचन हो रहे हैं उनमें एकान्तवाद की झलक मिलती है इसी कारण विरोध हो रहा है, जन सामान्य तो विशेष प्रतिभा नहीं रखते इसलिए सब सुनते रहते हैं पर विशेष विद्वान् एकान्तवाद का विरोध करते हैं।

आदरणीय मुख्तार जी का मुझ पर विशेष प्रेम था और इसके कारण कई दुरूह स्तोत्र आदि की व्याख्या करने के लिए मुझे लिखते थे। "मरुदेवि स्वप्नावलि" ऐसा ही स्तोत्र है जिसका अर्थ लिखने के लिए मुझे पत्र लिखा। मैंने संस्कृत टिप्पण देकर उसका हिन्दी अर्थ कर उनके पास भेजा जिसे उन्होंने "अनेकान्त" पत्रिका में प्रकाशित किया। "स्तुतिविद्या" का अनुवाद प्रेरणाकर मुझसे करवाया और उसे अपनी प्रस्तावना के साथ प्रकाशित किया।

एक बार "अनेकान्त" पत्रिका के मुखपृष्ठ पर दधि विलोडने वाली गोपी का चित्र प्रकाशित किया। जिसे देखकर मैंने पुरुषार्थ सिद्धयुपाय ग्रन्थ के अंत में आये-

एकेनाकर्षन्ति श्लथयन्ति वस्तुतत्वमितरेण।
अन्तेन जयति जैनी नीतिर्मन्थाननेत्रमिव गोपी।।

इस श्लोक के आधार पर "जैनी नीति" नामक एक हिन्दी कविता लिखकर उनके पास भेजी थी जिसे उन्होंने प्रसन्नता के साथ "अनेकान्त" पत्रिका में प्रकाशित किया था। मेरी संस्कृत कविताओं को भी अनेकान्त में बड़े प्रेम से प्रकाशित करते थे। फलस्वरूप मेरे द्वारा लिखित सामायिक पाठ जिसमें विधिपूर्वक छह अंगों का वर्णन था आपने बड़ी प्रसन्नतापूर्वक अनेकान्त में छापा था। साथ ही लिखा था कि मुझे गौरव है आज के विद्वान् भी पूर्वाचार्यो की तरह संस्कृत में रचना करते हैं। आपने युक्त्यनुशासन स्वयम्भूस्तोत्र आदि कुछ ग्रन्थों का अनुवाद कर पृथक्-पृथक् पुस्तकों में छपाया है, आपके द्वारा लिखित मेरी भावना का जितना आदर देश में हुआ है उतना शायद ही किसी दूसरी कृति का हुआ हो। आचार्य महावीर परम्परा ग्रन्थ में आपके विचारों से कई स्थल सुलझे प्रतीत होते हैं।

आपके विचारों को पढ़कर आपके अगाध ज्ञान का स्वयं प्रमाण मिल जाता है। आप विद्वानों के आदर के लिए सदैव आगे रहते थे। इतने उच्चकोटि के विद्वान् होने के पश्चात् भी आप सदैव लघु बना रहना उचित समझते थे। वास्तव में आज आप जैसे विद्वानों का समागम बड़ा ही दुर्लभ है।

- श्री वर्णी दि. जैन गुरुकुल
पिसनहारी की मढ़िया, जबलपुर

आर्यिकाएं और नवधा भक्ति*

- जस्टिस एम.एल. जैन

जैन गजट 19 अक्टूबर 2000 में छपे श्री बेनाड़ा व सेठिया के पत्र पढ़कर लगा कि जब दो आगम धुरन्धर आपस में टकरा जाएं तो जैसा सम्पादक जी का ख्याल है नतीजा निकाल पाना मुश्किल काम है खासकर हमारे जैसे अल्पश्रुतों के लिए इस बात पर कि आहार देने के पहले आर्यिकाओं की मुनियों की भांति अष्ट द्रव्य से पूजा करना सही है या गलत। साथ ही यह भी लगा कि पुरातन परिपाटी के बारे में महत्वहीन विवाद छेड़कर आखिर क्या हासिल किया जा रहा है। भला क्या यह भी विवाद का विषय है कि साध्वियों का सत्कार उस प्रकार नहीं होना चाहिए जिस प्रकार साधुओं का होता है और वह भी महिला आजादी के इस जमाने में। क्या ही अच्छा होता यदि परम विदुषी साध्वी ज्ञानमती जी की इस विषय पर व्यवस्था ले ली जाती और उसे सब मान्य कर लेते परन्तु शायद पुरुष साधुओं के भक्त समूह को यह बात मंजूर न हो कि महिला साधु कोई व्यवस्था देने की अधिकारी है। मैं तो ज्यादह हैरान हूं इस बात से कि हमारे समाज की जागरुक महिलाएं जैन साहित्य में भरे घोर नारी निंदा, मुक्ति निषेध यहां तक कि ध्यान निषेध तक को क्यों कर सहन कर रही हैं और अब तो 'स्वाध्यायी विद्वान' बेनाड़ा जी ने जैन वाङ्मय के निष्णात प्राचार्य नरेन्द्र प्रकाश जी सम्पादक जैन गजट के 'दो शब्द' में आर्यिका सुपार्श्वमती जी के समर्थन के साथ इस विषय पर एक ट्रेक्ट निकालकर साध्वियों के लिए प्रचलित आहार विधि के खिलाफ ही नहीं बल्कि उनके दर्जे के बारे में भी संघर्ष ही छेड़ दिया है। उनके विचारों का निचोड़ है-आर्यिका, आर्यिका है मुनि नहीं जिनको वे

*नवधाभक्ति विषयक मतवैभिन्य समाज में व्यर्थ का विवाद उत्पन्न कर रहा है। एतद्विषयक एक आलेख हमने पहले छापा था। उससे भिन्न मान्यता वाला यह लेख छापकर हम इस विवाद को विराम दे रहे हैं। समाज में/साधु संघों में जहां जो मान्यता प्रचलित है, उसमें विसंवाद उचित नहीं है।

''निष्पक्ष भाव'' से किए गए बतलाते हैं। मानों उन्होंने बड़ी भारी खोज कर डाली है। कोषकार मोनियर विलियम्स ने तो अपने संस्कृत कोष में दर्ज किया है कि मुनि शब्द पुरुष मुनि ओर महिला मुनि दोनों ही के लिए प्रयुक्त हुआ है। मेरे विचार में तो णमोकार मंत्र में 'लोए सव्व साहूणं' केवल पुरुष साधुओं तक सीमित करना भी उचित नहीं है; इन शब्दों में लोक की सारी महिला साधु (साध्वियां) भी समाहित हैं। स्वयं आचार्य वीरसेन ने साहूणं की कई व्याख्याएं की हैं उनमें सबसे अच्छी है-अनंत ज्ञानादि शुद्धात्म स्वरूपं साधन्तीति साधवः।

खैर, यह तो दिगम्बर विद्वान् मानते ही हैं कि जिनवाणी का अधिकांश लोप हो चुका है और जो कुछ बचा है वह है द्वितीय पूर्व अग्रायणी का अंश षट् खण्डागम के रूप में और पांचवें ज्ञानप्रवाद का अंश कषाय पाहुड़ के रूप में। ऐसी सूरत में सच तो यह है कि आरातीय आचार्यो द्वारा रचित शास्त्र आगम की कोटि में नहीं आते और उन्हें आगम तुल्य ही क्या आगम ही कह कर हम अपनी आगम हानि की पूर्ति कर रहे हैं। इसलिए पुराणों का भी महत्व बढ़ जाता है और पुराण भी प्रमाण का काम करते हैं। पुराणों में इतिहास कम व कल्पना की अधिक मिलावट के साथ-साथ द्रव्य, लोक रचना और सदाचरण के नियम भी समाविष्ट हैं। इसलिए उनमें लिखित आचरण की संहिताओं की अनदेखी नहीं की जा सकती। दरअसल यहीं से तो शुरू होती है आहार दान व पंचाश्चर्यो की घटनाएं।

साधुओं की दीक्षा का प्रसंग आदिपुराण 4/152 में सबसे पहले राजा अतिबल के दीक्षा ग्रहण करने का है परन्तु वहां पर उसके आहार दान ग्रहण के बारे में कुछ नहीं लिखा गया। इसके बाद वज्रजंघ के द्वारा आकाश गामी मुनिद्वय दमकर और सागर सेन को आहार देने के बारे में यों लिखा है-

श्रद्धादि गुण संपत्या गुणवद्भ्यां विशुद्धि भाक्।
दत्वा विधिवदाहारं पञ्चाश्चर्यमवाप सः।। 8/173

वज्रजंघ ने विधिवत् आहार देकर पञ्चाश्चर्यो को प्राप्त किया। याने रत्न[1], पुष्प[2], जल[3], की बरसातें शीतल वायु [4] और अहो दानं की ध्वनि[5] ये पांच आश्चर्य हुए। परन्तु क्या विधि अपनाई थी यह नहीं बताया।

कालान्तर में यही वज्रजंघ हस्तिनापुर के राजा सोमप्रभ का भाई श्रेयांस कुमार हुआ। यह उस समय के करीब की बात है कि जब भगवान ऋषभदेव ने देखा-

अहो भग्ना महावंशा नव संयता।
सन्मार्गस्यापरिज्ञानात् सद्योऽमीभिः परीषहैः॥
मार्गप्रबोधनार्थञ्च मुक्तेश्च सुखसिद्धये।
कायस्थित्यर्थमाहारं दर्शयामस्ततोऽधुना॥ 20/3-4

बड़े बड़े वंशों में उत्पन्न हुए नवदीक्षित साधु सन्मार्ग का परिज्ञान न होने के कारण क्षुधादि परिषहों के कारण शीघ्र ही पथच्युत हो गए इसलिए अब मोक्ष का मार्ग बतलाने के लिए और मुक्ति की सुखपूर्वक सिद्धि के लिए शरीर की स्थिति के अर्थ आहार लेने की विधि दिखाऊंगा।

फिर इस उद्देश्य से वे जंगल से बस्ती की ओर आए, तो कई लोगों ने तरह-तरह के तरीकों से भगवान् को भोजन के लिए निमंत्रित किया परन्तु विधि पूर्वक आहार न मिलने से भगवान् ने आहार नहीं लिया। तभी श्रेयांस कुमार को जाति-स्मरण हुआ और-

श्रद्धागुणसम्पन्नः पुण्यैः नवभिरन्वितः।
प्रादाद्भगवते दानं श्रेयान्दानादि तीर्थकृत्॥
प्रतिग्रहणमुच्चैः स्थानेऽस्य निवेशनम्।
पादप्रधावनञ्चार्चा नतिः शुद्धश्च सा त्रयी॥
विशुद्धिश्चाशनस्येति नव पुण्यानि दानिनाम्।
स तानि कुशलो भेजे पूर्वसंस्कारचोदितः॥ 20/81,86,87

दानादि तीर्थ का प्रवर्तन करने वाले श्रेयांस कुमार ने श्रद्धा आदि गुणों सहित नवपुण्यों से सहित भगवान् को (इक्षु के रस का) दान किया। चतुर श्रेयांस कुमार ने पूर्व संस्कार से प्रेरित होकर दानियों के जिन नव पुण्यों का पालन किया था वे नव पुण्य (नवधा भक्ति) इस प्रकार हैं-

पड़गाहन[1], उच्चस्थान देना[2], चरण धोना[3], अर्चना[4], नमस्कार[5], मन[6], वचन[7], काय[8] और भोजन[9] की शुद्धियां। यहां पर पूजा शब्द का प्रयोग ही नहीं किया गया है। (बरबस मेरा ध्यान जाता है श्रीमद्भागवत 7/5/23 के

उस संदर्भ पर जहां नव लक्षणा भक्ति इस प्रकार बताई गई है-श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वंदन, दास्य, सख्य और आत्म निवेदन की ओर)

इस दान तीर्थ प्रवर्तन में तो अर्चना अष्ट द्रव्य से करना ऐसा भी नहीं लिखा है। इस वृत्तान्त से पहले भगवान् के जन्माभिषेक के बाद सुरेन्द्रों ने उनकी पूजा गन्ध[1], धूप[2], अक्षत[3], कुसुम[4], उदक[5] व फलों[6] से याने छह द्रव्यों से, भगवान की दीक्षा के उपरान्त उनके बेटे भरत ने अष्ट द्रव्यों से भगवान की पूजा की थी। लेकिन केवलज्ञान होने के बाद इन्द्रों ने अमृत[1], गन्ध[2], माला[3], धूप[4] और अक्षत[5] याने पांच द्रव्यों से पूजा की थी। देखिए आदि पुराण 17/251-252, 23/201 व 23/106। लगता है समय पाकर पूजा का अर्थ अष्ट द्रव्यों से ही पूजा करना रूढ़ तो हो गया किन्तु दरअसल पूजा में हम भी जल[1], चंदन[2] (धूप में भी) चावल[3] (अक्षत व पुष्प) गिरी नारियल (नैवेद्य व दीप) और फल[5] ये पांच द्रव्य ही चढ़ाते हैं। भगवान् ने अपनी संतान को सारा ज्ञान-विज्ञान शास्त्र सिखाया ही था और आहार दान के पहले अष्ट द्रव्य पूजा सहित विधि का ज्ञान भी सिखाया ही होगा किन्तु सम्राट् भरत तक उसको भूल गए। भरत ने तो श्रेयांस कुमार से पूछा भी कि आपके भगवान् का अभिप्राय किस प्रकार जाना यह बताइए, आप तो आज हमारे लिए भगवान् के समान पूज्य हो (भगवानिव पूज्योऽसि कुरुराज त्वमद्य नः। आदि पुराण 20/127)।

खैर, यह तो हुई तीर्थकर मुनिराज की बात। अब देखना यह है कि क्या अन्य साधुओं को आहार दान के समय उनकी अष्ट द्रव्य पूजा का कोई विधान है और वह क्या महिला साधुओं को लागू नहीं किया जा सकता। इतना तो अवश्य है कि कितनी ही आचार संहिताओं के अनुकूल विधि अपनाइए पूरे आठों ही असली द्रव्य चढ़ाइए। पांच आश्चर्यो में से कोई होने वाला नहीं है।

गृहस्थ के जो कर्त्तव्य हैं, वे यों बताए हैं -

देवपूजा गुरुपास्ति स्वाध्यायः संयमस्तपः
दानं चेति गृहस्थानाम् षट् कर्माणि दिने-दिने
आराध्यन्ते जिनेन्द्रा गुरुषु विनतिः। पद्म. पञ्च. 6/7

इन कर्त्तव्यों में पूजा तो केवल देव की बताई है गुरुओं की उपासना व विनति। आशाधर ने भी 'देवं सेवेत् गुरून्' सा.ध. 2/23 में गुरुओं की सेवा करना ऐसा लिखा है। फिर यह भी जरूर लिखा कि-

पात्रागमविधि-द्रव्य-देश-कालानतिक्रमात्
दानं देय गृहस्थेन तपश्चर्या च शक्तितः। सा.ध. 2/48

अर्थात् गृहस्थों को पात्र, आगम, विधि, द्रव्य, देश व काल के अनुसार दान देना चाहिए और शक्ति के अनुसार तपस्या करनी चाहिए। विधि से मतलब नवपुण्य (नवधा भक्ति) लिया गया लगता है। जो नवपुण्य ऊपर बताए हैं उनमें से मेरे विचार में स्वागत, उच्चासन, पादप्रक्षालन, नमस्कार और शुद्धियों के बारे में तो किसी भी पण्डित या गृहस्थ को क्या एतराज हो सकता है, साधु चाहे पुरुष हो या महिला। मेरा ख्याल है कि तनाजा इस बात पर है कि पुरुष साधु ही अष्ट द्रव्य पूजा के अधिकारी हैं क्योंकि साधु (मुनि) की श्रेणी में वही आते हैं जो 'तन नगन' हैं और इसलिए सवस्त्र साधु या साध्वी अष्ट द्रव्य पूजा के अधिकारी नहीं हैं। यदि सवाल सामग्री की संख्या का ही है तो सात या नौ (9) द्रव्य चढ़ाकर हल किया जा सकता है। लगता है बेनाड़ा जी आर्यिकाओं की पूजा के ही विरोधी हैं। मेरे हिसाब से तो उससे भी बढ़कर सवाल है नारी का जैन-शासन व्यवस्था में स्थान व बराबर के सम्मान का।

भिक्षा प्रकरण में मनुस्मृति 6/58 के इस वचन से मैं तो सहमत हूं-

अभिपूजितलाभांस्तु जुगुप्सेतैव सर्वशः।
अभिपूजितलाभैश्च यतिर्मुक्तोऽपि बद्धयते।

-पूजापूर्वक मिलने वाली भिक्षा की सर्वदा निंदा (स्वीकार न) करें क्योंकि पूजा पूर्वक होने वाली भिक्षा प्राप्ति से शीघ्र मुक्त होने वाला यति भी बंध जाता है। कारण साफ है कि ऐसी भिक्षा में दानी के साथ लगाव पैदा हो जाता है और यति के वृथा अहं का पोषण होता है। पूजा और भोजन दान की मांगें अटपटी लगी ही होंगी मनु को।

पं. आशाधर निर्ग्रन्थता के बारे में और साधु-साध्वी की समानता के बारे में लिखते हैं -

कोपीनोऽपि सम्मूर्च्छत्वात् नार्हत्यार्यो महाव्रतम्
अपि भाक्तममूर्च्छत्वात् साटकेऽप्यार्यिकार्हति। सा.ध. 8/37

एक कोपीन मात्र में ममत्व भाव रखने से आर्य याने उत्कृष्ट श्रावक (ऐलक) भी (उपचरित) महाव्रती नहीं कहलाता जबकि आर्यिका साड़ी में भी ममत्व भाव न रखने से (उपचरित) महाव्रत के योग्य होती है। और यह भी कि -

बाह्यो ग्रंथोऽङ्गमक्षाणामन्तरो विषयैषिता
निर्मोहस्तत्र निग्रंथः पान्थः शिवपुरेऽर्थतः। सा.ध. 8/90

-शरीर तो बाह्य ग्रंथ है, इन्द्रियों की विषय अभिलाषा अन्तरंग ग्रंथ है, इन दोनों प्रकार के ग्रंथों में जो मोह रहित है वही वास्तव में शिवपुर का पथिक है। इसके मुताबिक सवस्त्र साध्वियां भी निर्ग्रंथ की श्रेणी में आती हैं क्योंकि उनका शरीर व वस्त्र से कोई मोह नहीं है। मजबूरी उनकी यह है कि वे पुरुषों की दुष्टता की आशंका के कारण बहुत चाहते हुए भी वस्त्र का भार उतार नहीं सकतीं। अत: वे किसी नग्न मुनि के कम सत्कार की पात्र हैं, यह कहना मेरी समझ से तो बाहर की बात है।

बेनाड़ा जी तो आर्यिकाओं को आहार दान के लिए उत्तम पात्र भी नहीं मानते जब कि महापुराण 40/141 के अनुसार **सद्दृष्टि: शील सम्पन्न: पात्रमुत्तममिष्यते**, सम्यक्दृष्टि और शीलसम्पन्न व्यक्ति उत्तम पात्र होता है। इसके अलावा यह मामला अधिकार वितरण का नहीं है और सत्कार की कोई सीमा नहीं है।

वट्टकेर के मूलाचार में जिसे कुन्दकुन्द की रचना भी बताया जाता है यह लिखा है कि-

एसो अज्जाणपिअ समाचारो जहक्खिओ पुव्वं।
सव्वम्हि अहोरत्तं विभासिदव्वो जधाजोग्गं।। 4/187

-जैसा समाचार श्रमणों के लिए कहा गया है उसमें वृक्षमूल, अभ्रावकाश एवं आतापन आदि योगों को छोड़कर अहोरात्र संबंधी सम्पूर्ण समाचार आर्यिकाओं के लिए भी यथायोग्य रूप में समझना चाहिए।

एवं विधाणचरियं चरंति जे साधवो य अज्जाओ।
ते जगपुज्जं कित्तिं सुहं च लद्धूण सिज्झंति।। 4/196

-इस प्रकार आचरण करने वाले साधु व आर्याएं जगत्पूज्य होकर कीर्ति, सुख को प्राप्त करके सिद्ध होते हैं।

भगवती आराधना के अनुसार कई स्त्रियां मुनियों द्वारा स्तुति योग्य देवताओं के समान पूज्य हुई हैं यथा-

सीलवदी ओ सुच्चंति महीयले पत्तपाडि हराओ।
सवाण्णुगह समत्थाओ वि य काओवि महलाओ।। 992

किं पुण गण सहिदाओ इत्थिओ अत्थि वित्थडजसाओ।
णरलोग देवदाओ देवेहिं वि वंदणिज्जाओ।।
तित्थयर चक्कधर वासुदेव बलदेव गणधरवराणं।
जणणीओ महिलाओ सुरणर वरेहिं महियाओ।। 989-990

मोहोदयेण जीवो सव्वो दुस्सील मइलिदो होदि।
जो पुण सव्व महिला पुरिसाणं होई सामण्णो।। 995

-जो गुण सहित स्त्रियां हैं, जिनका यश लोक में फैला हुआ है, जो मनुष्यलोक में देवताओं के समान हैं और देवों से पूजनीय हैं उनकी जितनी प्रशंसा की जाए कम है। तीर्थंकर, चक्रवर्ती, वासुदेव, बलदेव और श्रेष्ठ गणधरों को जन्म देने वाली महिलाएं श्रेष्ठ देवों व उत्तम पुरुषों के द्वारा पूजनीय होती हैं। सब जीव मोह के उदय से कुशील से मलिन होते हैं और वह मोह का उदय स्त्री पुरुषों के समान होता है।

शुभचन्द्र ने ज्ञानार्णव (697 श्लोक 12/57, 58) में कहा है -

ननु संति जीव लोके काश्चिच्छ्रम संयमोपेताः।
निजवंश तिलक भूता श्रुतसत्य समन्विताः नार्यः
सतीत्वेन वृत्तेन विनयेन च
विवेकेन स्त्रियः काश्चिद् भूषयंति धरातलम्

-अवश्य ही जीव लोक में ऐसी कई नारियां हैं, जो तप व संयम से युक्त हैं, अपने वंश की तिलक समान हैं श्रुत और सत्य से समन्वित हैं

वे अपने सतीत्त्व के महत्व से, सदाचार से व विवेक से धरातल को विभूषित करती हैं।

आदि पुराण 24/175-177 से पता चलता है कि भगवान् ऋषभ देव ने अपनी दोनों पुत्रियों व अनेक राजकन्याओं को दीक्षा दिलवाई थी, जिसमें से बड़ी पुत्री तो उनकी प्रमुख गणिनी भी बनी और देवों ने उनकी पूजा की। इसके बावजूद वनिता विरोधी जैन शास्त्र कहते हैं कि स्त्रियों के संयम नहीं है, न वे दीक्षा की हकदार और शील पाहुड़ (29) में तो हद कर दी -

सुणहाण गद्हाण व गोपसु महिलाण दीसदे मोक्खो।
जे सोधंति चउत्थं विच्छिज्जंता जणेहिं सव्वेहिं।। 29

-श्वान, गधा, गाय और महिलाओं के मोक्ष होता किसी ने देखा है? इसे भी दे रहे हैं आगम का दर्जा। दरअसल सत्य तो यह है कि कोई भी पाहुड़ कुन्दकुन्द की कृति नहीं है और ये वचन उसी कोटि के हैं जैसे कि कोई कहे कि क्या वर्तमान काल में किसी गधे, कुत्ते, सुअर, बैल और पुरुष को भी मोक्ष होते देखा है किसी नारी विरोधी ने।

दर्शन पाहुड़ की जिस गाथा (18) ने बेनाड़ा जी ने अपने विचारों की नींव रखी है, वह इस प्रकार है -

एगं जिणवरस्स रूवं वीयं उक्किट्ठ सावयाणं
अवरट्ठियाणं तइय्यं चउत्थ पुण लिंगदंसणं णत्थि

इसका सीधा अर्थ है -

एक जिनवर का रूप
दूसरा उत्कृष्ट श्रावक
तीसरा अवरस्थित
चौथा कोई लिंग दर्शन में नहीं है।

अवरट्ठियाणं का अर्थ पूर्ववर्ती वनिता विरोधी विद्वानों के अनुसरण में किया गया है-जघन्य पद में स्थित आर्यिका, जब कि गाथा में न जघन्य शब्द है, न आर्यिका है, न ही है उत्तम मध्यम व जघन्य शब्दावली। यदि यही अर्थ सही है तो फिर श्राविकाओं और सामान्य श्रावकों का वेष कौन

सा होगा। मेरे ख्याल में मूलशब्द **अवसिट्टाणंच** रहा होना चाहिए। जिसका अर्थ होगा अवशिष्ट जन तीसरे वेष में गिने जाएं। इसका मतलब यह नहीं कि वे जघन्य य निम्न स्तर के हैं। आचार्य ज्ञानसागरजी ने तत्त्वार्थ सूत्र 10/9 की टीका में लिखा है कि लिंग वेशभूषा को भी कहते हैं जो सहज रूप से ही मुक्ति होती है, किन्तु वही अगर उपसर्गापन्न हो तो और हालत में भी मुक्त हो सकता है जैसे कि पाण्डवों की मुक्ति बैरी के द्वारा पहनाए गए हुए गरम लोहे के आभूषणों को पहने-पहने ही हो गई थी।

बेनाड़ा जी ने यह नहीं बताया कि उत्कृष्ट श्रावक किसे कहते हैं-आदि पुराण 10/158-161 (नवीं सदी) से पता चलता है कि ग्यारहवीं उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा श्रावक का उत्कृष्ट पद है जिसमें गृहस्थ अवस्था का परित्याग नहीं होता था। ग्यारहवीं सदी के वसुनन्दि श्रावकाचार में पहली बार ग्यारहवीं प्रतिमा के दो भेद प्रथमोत्कृष्ट व द्वितीयोत्कृष्ट किए गए। सोलहवीं शताब्दी में राजमल जी ने लाटी संहिता में उनके लिए क्रमशः क्षुल्लक व ऐलक शब्द का प्रयोग किया। (जै.सि. कोश भाग 2 पृ. 188 क्षुल्लक) मुनि प्रमाण सागरजी की सद्य: प्रकाशित पुस्तक ''जैन धर्म और दर्शन'' पृ. 296 के अंत में सही लिखा है कि आर्यिकाएं क्षुल्लक, ऐलक से उच्च श्रेणी की मानी जाती हैं। अब क्षुल्लक ऐलक को गृह त्याग करना होता है। आर्यिकाओं को पहले हर तरह से निचली श्रेणी में डालने, असंयमी व अवन्दनीय व पूजा के अयोग्य साबित करने के बावजूद बेनाड़ा जी अंत में लिखते हैं कि उनका आशय पूज्य आर्यिकाओं की विनय व सम्मान में कमी करने का नहीं है और यह भी कि श्राविकाओं से आर्यिकाएं महान् हैं। वे भक्ति-भाव से उनका दर्शन व विनय भी करते हैं किन्तु आहार देने के विषय में उन्हें मुनि तो कतई नहीं मुनिवत् भी मानने को तैयार नहीं हैं। यद्यपि आर्यिकाओं के प्रथम चार महाव्रत तो सम्पूर्ण हैं तो फिर भला वे चलोपसृष्ट भाव लिंगी मुनि क्यों नहीं हैं? यही हाल है विरोधाभास का तमाम वनिता विरोधी शास्त्र रचने व व्याख्यान करने वाले आरातीय आचार्यों का व विद्वानों का।

इस वनिता विरोध की हद का उदाहरण देखिए दशलक्षण धर्म की पूजा में जब वे ब्रह्मचर्य की पूजा में कविवर द्यानतराय जी के साथ भक्ति विभोर होकर गाते हैं-

कूरे तिया के अशुचि तन में काम रोगी रति करें
बहु मृतक सड़हिं मसान माहीं, काग ज्यों चोंचें भरें।
संसार में विष वेलनारी तजि गए जोगीश्वरा।

अष्ट द्रव्य पूजा के दीवाने जब यह गाते हैं तो क्या वे जानते हैं कि वे तीन ज्ञान के धारी तीर्थकरों को जन्म देने वाली माताओं का और ऋषभ देव का जिनने एकाधिक पत्नियों से दो पुत्रियां व एक शत पुत्र पैदा किए, किस भाषा में कितना अपमान कर रहे हैं। सामान्य स्त्रियों में अपनी ''माता बहन सुता पहचानों'' की और उनके अपमान की बातें तो अलग रहीं। इन जैसे इक तरफा विचारों से अपनी असहमति दिखाते हुए शिवार्य ने तो भगवती आराधना में लिखने का साहस किया भी कि -

जहसील रक्खयाणं पुरिसाणं णिंदिदाओ महिलाओं
तहसील रक्खयाणं महिलाणं णिंदिदा पुरिसा। 988

जैसे अपने शील की रक्षा करने वाले पुरुषों के लिए स्त्रियां निंदनीय हैं वैसे ही अपने शील की रक्षा करने वाली स्त्रियों के लिए पुरुष निंदनीय है।

यदि अपनी कमजोरी पर काबू पाने के लिए दूसरे की निंदा से ही व्रत रक्षण होता है तो क्या इसके लिए अपनी आत्मा के परिणामों में घोर घृणा व कषाय पैदा करना किसी तरह उचित है? क्या अच्छा नहीं कि दोनों ही निर्विकार रहें।

इसके अलावा सामान्य पूजा विधि में आह्वान, स्थापना, सन्निहिति व विसर्जन होते हैं। जब मुनि (या साध्वी) सामने उच्चासन पर विराजमान हैं तो फिर कैसा अवतर, अवतर! कैसा ठ: ठ:! कैसा सन्निहितो भव और आहार ग्रहण के पहले कैसा विसर्जन! जिन साधुओं को आहार करना पड़ता है, उनको ''क्षुधारोगविनाशाय नैवेद्यं'' अर्पित करना, जिनके आठों ही कर्मो का बंधन बना हुआ है 'उनको अष्ट कर्म दहनाय' धूप चढ़ाना/जलाना और जिनने स्वयं अनर्घ पद प्राप्ति के लिए साधु वेष धारण किया है उनको अनर्घ पद प्राप्तये अर्घ का निर्वापन करना कैसे सही ठहरता है? अत: पूजा की मुख्य विधि, आहार के लिए निमंत्रित अतिथि के मामले में चाहे वह साधु पुरुष हो या महिला संभव नहीं है। अत: नर साधु या नारी साध्वी दोनों ही प्रचलित (अष्ट द्रव्य) पूजा के अधिकारी नहीं है।

इसके बावजूद मेरा निवेदन यह है कि -

(1) यदि कोई आहार देने वाला किसी साध्वी या साधु का सम्मान अष्ट द्रव्य पूजा से नहीं करता, तो अतिथि साधु/साध्वी आहार ग्रहण न करे और अंतराय का तीव्रोदय समझ कर वापस हो जाए। आखिर यतिवर वृषभ देव ने भी तो यही किया था।

(2) यदि कोई सद्गृहस्थ आर्यिकाओं का भी साधुओं की तरह अष्ट द्रव्य पूजा से सम्मान करना चाहता है और अतिथि आर्यिका उसे स्वीकार करती है तो भला इसमें कोई क्यों एतराज कर सकता है और इसमें शास्त्र विरोधी क्या बात है! अधिक से अधिक यह कहा जा सकता है कि कुछ ज्यादह ही सम्मान दे दिया। शास्त्र में कोई मनाही भी तो नहीं हैं। नारियों के लिए अपवाद करना होता तो कोई लिखता। आर्यिका का नग्न मुनि के समान आहार सत्कार करने में न तो तत्त्वार्थ श्रद्धान में हानि होती है, और न ही यह ऐसा कार्य है जिससे अशुभ कर्म का बंध हो। आखिर आहार देने या न देने, सम्मान कितना देने या न देने में किसी को, मजबूर तो नहीं किया जा सकता।

(3) अत: दाता को अच्छी लगने वाली प्रचलित परिपाटी में दोष निकालकर गृहस्थों को उसमें परिवर्तन के हित प्रेरित करने के लिए शास्त्र विरोध का डर दिखाना कोई समझदारी नहीं है, खासकर नर-नारी समानता के इस युग में।

(4) आचार संहिताओं के नियम तो समयानुकूल, देशानुकूल बदले जा सकते हैं यदि वे मूल सिद्धान्त अहिंसा, संयम तथा सम्यक्त्व के प्रतिकूल न हो। आखिर अष्ट द्रव्य पूजा में किया ही क्या जाता है; जरा विचार तो कीजिए; उदाहरण के लिए, देखिए 'अरिहंत श्रुत सिद्धान्त गुरु निरग्रंथ' पूजा में -

'वर नीर क्षीर समुद्र घट भरि' पूजा रचूं' और चढ़ाते क्या हैं, कुओं का पानी;
'भ्रमर लोभित चन्दन घिसि' पूजा रचूं। हमने तो मंदिरों में भ्रमर नहीं देखे;
'लहि कुंद कमलादिक पहुप' पूजा रचूं और हम चढ़ाते हैं पीले चावल;

'नाना विधि संयुक्त रस व्यंजन सरस' जासो पूजा रचूं और चढ़ाते क्या हैं खालिस गिरि;
'दीप प्रजाल कंचन के सुभाजन' कहकर रंगी हुई गिरि स्टील में रख कर पेश करते हैं;

किस का मन बहला रहे हैं आप, पूज्य का या पूजक का और इन विरोधाभासों को श्रावक पण्डित कहते हैं आगम सम्मत। यदि इन अवास्तविक वचनों से और क्रियाओं से आत्मा प्रसन्न होती हैं, सान्त्वना व शांति व संतोष मिलता है तो साधुओं की भांति साध्वियों का भी सत्कार चलते रहने दीजिए।

पुराने जिन पूजा संग्रहों में मुनियों के लिए आहार से पहले की जाने वाली अलग से पूजाएं हैं तो मेरे देखने में नहीं आई। आधुनिक पूजाएं हैं उनको रचते क्या देर लगती है! वे परम्परा की प्रमाण नहीं हो सकती, कम से कम आज तो नहीं।

जब शास्त्र यह कहते हैं कि -

(1) स्त्रियों के संयम नहीं हो सकता;

(2) स्त्रियों के ध्यान नहीं हो सकता क्योंकि ध्यान उत्तम संहनन के ही होता है;

(3) स्त्रियों के प्रव्रज्या (दीक्षा) नहीं हो सकती;

(4) दर्शन पाहुड़ (18) के हवाले से अवरट्ठियाणं का गलत अर्थ करके आर्यिकाओं का लिंग (पद) जघन्य बता रहे हैं, वह भी तब जब चतुर्विध संघ में उनका नम्बर दूसरा है। उनको दान के योग्य उत्तम उत्तम पात्र भी नहीं माना जाता।

- 215, मंदाकिनी एन्क्लेव, अलकनंदा
नई दिल्ली-110019

●●

भारतवर्ष और भरत

- कैलाश वाजपेयी

सत्य को छोड़कर यहां ऐसा कुछ भी तो नहीं जिसे पाने के लिए बेचैन हुआ जाए। उसे पाने उसे आत्मसात् करने के लिए, यह बिल्कुल आवश्यक नहीं कि कोई तीर्थ यात्रा की जाए या किसी मठाधीश के पास जाया जाए। क्योंकि वहां जो हो रहा है वह एक जड़, नियमबद्ध ड्रिल है और वहां जो महंत बैठा है वह निहायत फूहड़ तरह से गिनती के कुछ रटे हुए श्लोक दोहराकर आपको धमका रहा है इसका दान दो, एक भंडारा करो आदि-आदि। निस्संदेह यह मात्र दोहराना है और जिसे हम दोहराए चले जाते हैं वह सत्य नहीं होता उससे कोई सुवास नहीं उठती। सब महंत यही कर रहे हैं स्वयं तों स्वर्ग में पहुंचे ही हुए हैं और चेलों को भी आश्वासन दे रहे हैं कि एक मठ और बनवा दोगे तो मोक्ष का मार्ग और भी सुगम हो जाएगा। यह जो स्वर्ग पहुंचने की, अमर होने की अकुलाहट है। इस संदर्भ में एक बड़ी रोचक कहानी याद आ रही है।

अपने यहां चार महत्वपूर्ण पुरुप हुए हैं जिनका नाम भरत था। पहले भरत, ऋषभदेव के पुत्र थे। ऋषभ का नाम वैदिक और श्रमण दोनों परम्पराओं में आद्यंत मिलता है। दूसरे भरत थे श्रीराम के छोटे भाई। इन भरत जैसा आदर्श भाई दुनिया के इतिहास में दूसरा नहीं मिलता तीसरे भरत हुए दौष्यंति भरत जिनकी चर्चा महाकवि कालिदास के 'अभिज्ञान शाकुंतल' में है और चौथे भरत हैं भरतमुनि, नाट्यशास्त्र के रचयिता। इनमें से किसी भरत के नाम पर इस देश का नाम भारतवर्ष पड़ा, यह अनुसंधान का विषय है। जो कहानी हम कहने जा रहे हैं वह ऋषभ अर्थात् आदिनाथ के जीवन से संबद्ध है। वर्षों शासन कर चुकने के बाद ऋषभदेव के मन में वैराग्य उदित हुआ। उन्होंने वन गमन का मन बनाया और अपना राजसिंहासन अपने बड़े बेटे भरत को सौंपकर जंगल की राह

ली। भरत ने, अपने पुरुषार्थ से अपने राज्य की सीमा का विस्तार इतना अधिक कर लिया कि एक दिन वे भरत चक्रवर्ती के रूप में प्रतिष्ठित हुए।

लाखों जीवयोनियां हैं। पृथ्वी पर आहार, निद्रा, मैथुन और भयग्रस्त, मगर अमर होने की बीमारी सिर्फ आदमियों में ही पाई जाती है। यह कुछ सोचने जैसा है कि मनुष्य में ऐसा क्या है जो उसे तमाम समझदारी के बावजूद, यह धोखा बार-बार दिया जाता है कि 'अमर होना तुम्हारा जन्मसिद्ध अधिकार है।' राजनीतिक रूप से दूसरे शब्दों में सत्ताधारी होने के बाद, अथवा धार्मिक रूप से अर्थात् मठाधीश बनने के बाद यही नहीं, समाजशास्त्रीय दृष्टि से भी कुछ - कुछ होने की, इतिहास में नाम दर्ज करवा पाने की, यह वासना की क्या अपने आप में आत्मवंचना नहीं है आदमी को क्यों यह नहीं लगता कि उसके होने न होने से उसके अस्तित्व पर कोई अंतर नहीं पड़ने वाला है। भरत चक्रवर्ती थे तो ज्ञानी, मगर एकाएक उनके मन में इन्द्रलोक में अधिष्ठित विशाल फलक पर स्वर्णाक्षरों में अपना नाम लिखवाने की इच्छा जागी तभी देवर्षि यानी ब्रह्मा के मानसपुत्र वहां आ गए। भरत चक्रवर्ती ने कहा कि, क्योंकि मैं चक्रवर्ती सम्राट् हूं और संभवत: पहला चक्रवर्ती सम्राट् इसलिए मैं इन्द्रलोक चलना चाहता हूं आपके साथ। देवर्षि ने जब पूछा तो भरत चक्रवर्ती ने उन्हें गर्व से अपनी इच्छा के विषय में भी बता दिया। देवर्षि ने उन्हें बहुतेरा समझाया कि इतना अपार है यह दिक्क्षेत्र जिसमें लाखों आकाश गंगाएं तितली की तरह फड़फड़ा रही हैं इन लाखों आकाश गंगाओं के अपने अपने करोड़ों सौर मंडल हैं अपना भी उन्हीं में से एक अदना सा सूर्य है दूसरे दर्जे का तारा। ऊपर कहीं गोलोक, द्युलोकादि हैं तब उन सबके नीचे इन्द्रलोक है। पृथ्वी भी ज्यादा से ज्यादा एक मटर के दाने की तरह अपनी ही कक्षा में घूमने के लिए अभिशप्त है। उस पृथ्वी के भी एक छोटे से टुकड़े पर आपका शासन है। तल, अतल, वितल, सुतल, तलातल और पाताल में से सिर्फ एक ही तल को एक खंड पर। चक्रवर्ती की उपाधि आपको देने कोई नहीं आया यह तो ऐसा ही है कि कोई सत्ताधीश या धनपुश जबरन अपने को विद्यावारिधि कहने लगे। तो राजन्! क्यों इस आत्मवंचना में पड़ते हैं। छोड़िए इस मिथ्याभिमान को। देवर्षि का इतना लंबा व्याख्यान सुनकर भरत चक्रवर्ती और अधिक अडिग स्वर में इंद्रलोक

चलने की जिद करने लगे। उन्होंने देवर्षि से कहा-बिना यह कार्य पूरा किए मैं संतप्त जीवन जिऊंगा। ब्रह्मा के मानसपुत्र ने फिर दोहराया भरत! इस जगतीतल पर मन का संताप और तन का संताप किसका, कब कहां मिटा है। फिर भी आप जिद करते हैं तो चलिए। देवर्षि और भरत चक्रवर्ती दोनों जब इंद्रलोक पहुंचे तो **भरत यह देखकर अवाक् रह गए कि उस भीमकाय, नामपट्टिका के फलक पर इतने नाम पहले से ही लिखे हुए थे कि वहां एक सूत भर भी जगह नहीं थी जहां भरत चक्रवर्ती अपना नाम लिखते। जबकि आए थे वे यह सोचकर कि वे पहले चक्रवर्ती सम्राट् हैं। भरत को उसी क्षण बोध हुआ और बोध के साथ ही वैराग्य।**

भारतवर्ष का नाम जिन भरत के नाम पर पड़ा है उसकी ओर कुछ संकेत अग्नि एवं मार्कण्डेयपुराण में मिलते हैं: उदाहरण के लिए अग्निपुराण में आया है -उस हिमवत् प्रदेश यानी भारत में बुढ़ापे और मृत्यु का भय नहीं था। धर्म-अधर्म दोनों नहीं थे। वहीं नाभि राजा के घर ऋषभ नामक एक पुत्र हुआ ऋषभ से भरत हुए। भरत के नाम से ही इस देश का नाम भारतवर्ष पड़ा। (अग्निपुराण 10/10) या संदर्भ मार्कण्डेयपुराण से जो दूसरा उदाहरण है वह इस प्रकार है। आग्नीध्र-पुत्र नाभि से ऋषभ के सौ पुत्रों में भरत अग्रज था (ऋषभ के राज्य की राजधानी का नाम था विनीता)। समय आने पर ऋषभ ने अपने बड़े बेटे भरत का राज्याभिषेक किया और स्वयं संन्यास लेकर पुलह आश्रम में महातप किया। ऋषभ ने भरत को हिमवत् नाम दक्षिण-प्रदेश शासन के लिए दिया था अत: उस महात्मा भरत के नाम से ही इस देश का नाम भारतवर्ष पड़ा। लगभग इसी से मिलता-जुलता वर्णन ब्रह्माण्डपुराण में भी मिलता है। राजा नाभि ने मरूदेवी से महाद्युतिवान् ऋषभ नाम के पुत्र को जन्म दिया। ऋषभदेव पार्थिव श्रेष्ठ और सब क्षत्रियों के पूर्वज थे। उनके सौ पुत्रों में भरत अग्रज थे जबकि बाहुबली कनिष्ठ। वृहदनारायणीय में भी इन्हीं भरत की चर्चा है। वृहदनारायणीय किस शती की कृति है यह अभी तक स्थिर नहीं हो सका हालांकि डॉ विल्सन इसे 16वीं शती का ग्रंथ मानते हैं। अलबेरुनी यहां 11वीं शती में आया था उसने अपने यात्रा विवरण में इसका संदर्भ भी सम्मिलित किया है।

वह जिसे परावाणी या समाधि-भाषा कहा जाता है लगभग उसी उन्मनी स्थिति में अपने यहां आदिकवि से लेकर मीरा, रवीन्द्रनाथ तक उत्कृष्ट रचना हुई है। स्वयं वेद व्यास की कृति श्रीमद्भागवत भी इसी समाधि भाषा में है इन्हीं भरत का स्मरण करते हुए वेद व्यास लिखते हैं-

'येषां खलु महायोगी भरतो ज्येष्ठः श्रेष्ठ गुणाश्रया'

श्रेष्ठ गुणों में आश्रयभूत, महागोयीग भरत अपने सौ भाइयों में ज्येष्ठ थे उन्हीं के नाम पर इस देश को भारतवर्ष कहते हैं।

हम पहले कह आए हैं कि ऋषभ इस देश की दोनों परम्पराओं ऋषि परम्परा एवं मुनि परम्परा दोनों में समानरूप से आदरणीय हैं। जिन अनुशासन का पालन करने वाले यदि उन्हें आदिनाथ कहते हैं तो कश्मीर के शैवदर्शन में उन्हें ही शिवरूप में माना गया है।

एकनाथी परम्परा में एक जगह यहां तक लिखा है : ऋषभ के पुत्र भरत ऐसे थे जिनकी कीर्ति सारे संसार में आश्चर्यजनक रूप मे फैली हुई थी। भरत सर्वपूज्य हैं। कार्य आरंभ करते समय भरत जी का नाम स्मरण किया जाता है।

श्रीमद्भागवत से प्रेरित होकर अनेक वैष्णव कवियों ने, मां सरस्वती की साधना की है। बल्लभाचार्य के शिष्य, महाकवि सूरदास ने श्रीमद्भागवत का प्रभाव स्वीकारा है। उसके पंचम स्कंध में ऋषभावतार का प्रसंग आया है जिसमें भारत और भारतखंड का उल्लेख इस प्रकार है।

बहुरो रिषभ बड़े जब भये, नाभि राज दै बन को गए
रिषभ राज परजा सुख पायो, जस ताको सब जग में छायो
रिषभ देव जब बन को गए, नवसुत नवौ खंड नृप भये
भरत को भरत-खंड को राव, करै सदा की धर्म अरु न्याव

उपर्युक्त तमाम उद्धरणों से अब लगभग यह स्पष्ट ही हो जाना चाहिए कि जिन भरत के नाम पर इस देश का नाम भारतवर्ष बड़ा वे भरत ऋषभ के ज्येष्ठ पुत्र थे और जन जन की श्रद्धा के शिखर बिंदु।

- हिन्दुस्तान दैनिक से साभार

●●

54/3-4

अनेकान्त

वीर सेवा मंदिर
21, दरियागंज, नई दिल्ली-110002

वीर सेवा मंदिर का त्रैमासिक
अनेकान्त
प्रवर्त्तक : आ. जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

इस अंक में -

कहाँ/क्या?

1 आर्यिका ज्ञानमती की सस्कृत साहित्य को देन
- डॉ जयकुमार जैन 2
2 जयधवला टीका मे प्रयुक्त कतिपय रूपक और दृष्टान्त
- डॉ फूलचन्द जैन प्रेमी 9
3 वैशाली गणतन्त्र
- श्री राजमल जैन 16
4 ववहारो भूदत्थो
- जस्टिस एम.एल. जैन 34
5. मेरी भावना की सर्वव्यापकता
डॉ गजेन्द्रकुमार बसल 50
6 भक्तामर ऐतिहासिकता एव परम्पराभेद
- डॉ ज्योति जैन 56
7 रात्रि भोजन पाप है
- डॉ सुषमा जैन 69
8 जैन सस्कृति सम्पन्न भव्य प्राचीन केन्द्र फतेहपुर सीकरी
- सुरेश चन्द गर्गालिया 79
9 पण्डितप्रवर आशाधर के सागारधर्मामृत की प्रमुख विशेषताये
डॉ रमेश चन्द्र जैन 91
10 जैन दर्शन मे जीव द्रव्य
- डॉ श्रेयास कुमार जैन 103
11 अनेकान्त का मर्म
- कैलाश वाजपेयी 111
12 शिक्षाव्रतो मे अतिथि सविभाग व्रत का महत्त्व
- डॉ सुरेन्द्र कुमार जैन 'भारती' 114
13 श्रमणपरम्परा मे प्रतिपादित षट्कर्म व्यवस्था
- डॉ सुरेश चन्द्र जैन 123

वर्ष-54, किरण-3 4
जुलाई-दिसम्बर 2001

सम्पादक :
डॉ. जयकुमार जैन
261/3, पटेल नगर
मुजफ्फरनगर (उ.प्र.)
फोन : (0131) 603730
परामर्शदाता :
पं. पद्मचन्द्र शास्त्री

सस्था की
आजीवन सदस्यता
1100/
वार्षिक शुल्क
30/
इस अक का मूल्य
10/
सदस्यो व मदिरो क
लिए नि:शुल्क

प्रकाशक
भारतभूषण जैन, एडवोकेट

मुद्रक :
मास्टर प्रिन्टर्स-110032

विशेष सूचना : विद्वान् लेखक अपने विचारों के लिए स्वतन्त्र है। यह आवश्यक नही कि सम्पादक उनके विचारो से सहमत हो। इसमे प्राय: विज्ञापन एवं समाचार नही लिए जाते।

वीर सेवा मंदिर
21, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, दूरभाष : 3250522

सस्था को दी गई सहायता राशि पर धारा 80 जी के अतर्गत आयकर मे छूट

(रजि. आर 10591/62)

आतमरूप अनुपम है

आतमरूप अनुपम है,
घटमाहिं विराजै।
जाके सुमरन जाप सो,
भव-भव दुःख भाजै हो।

केवल दरशन ज्ञानमै,
थिरता पद छाजै हो।
उपमाको तिहुँ लोक में,
कोउ वस्तु न राजै हो॥1॥

सहै परीषह भार जो,
जु महाव्रत साजै हो।
ज्ञान बिना शिव ना लहै,
बहु कर्म उपाजै हो॥2॥

तिहुँ लोक तिहुँ काल में,
नहिं और इलाजे हो।
'द्यानत' ताको जानिये,
निज स्वारथ काजै हो॥3॥

- कविवर द्यानतराय

आर्यिका ज्ञानमती की संस्कृत साहित्य की देन

- डॉ. जयकुमार जैन

भारतीय संस्कृति के सर्वांगीण ज्ञान के लिए प्राचीन भारतीय भाषाओं में लिखित साहित्य का पर्यालोचन अत्यन्त आवश्यक है। प्राचीन भारतीय भाषाओं में भारतीय संस्कृति के एक प्रमुख वाहन के रूप में संस्कृत भाषा का अद्वितीय महत्त्व सर्वत्र स्वीकृत है। भारत की यह संस्कृति अनादिकाल से अनन्त प्रकार के सम्प्रदायों की देन से समृद्ध हुई है। अतः संस्कृत साहित्य का विशाल भण्डार प्राचीनकाल के तीन प्रमुख सम्प्रदायों-वैदिक, जैन और बौद्ध के मनीषियों की सेवा से सतत समृद्ध हुआ है। एक विशिष्ट भारतीय सम्प्रदाय के रूप में जैनों ने साहित्य की जो सेवा की है, इस विषय में सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक विद्वान् डॉ. एम. विन्टरनित्ज़ का कथन द्रष्टव्य है-

share to the religious, ethical and scientific literature of ancient India "

-The jainas in the History of Indian Literature, page 5

— मैं जैनों की साहित्यिक उपलब्धियों का युक्तियुक्त पूर्ण विवेचन करने में असमर्थ रहा हूँ। किन्तु मैं आश्वस्त हूँ कि जैनों ने प्राचीनकाल के धार्मिक, नैतिक और वैज्ञानिक साहित्य में जो सम्पूर्ण सहयोग दिया है, उसे मैंने प्रमाणित कर दिया है।

विद्वान् समीक्षक की इस उक्ति से स्पष्ट है कि संस्कृत साहित्य के क्षेत्र में जैनों की देन का पूर्णांग आकलन करना अत्यन्त आवश्यक है। पुराकाल में धार्मिक साहित्य-सृजन के क्षेत्र में साधु तो अग्रणी बने रहे किन्तु साध्वियों द्वारा लिखित साहित्य की कोई उल्लेख्य धारा नहीं मिलती है। यह सुखद आश्चर्य

की बात है कि जैन धर्मसंघ के सभी सम्प्रदायों में साधुओं की भाँति साध्वियाँ भी साहित्य-प्रणयन के क्षेत्र में बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में गतिशील हुई हैं। समग्र जैन साहित्य के सिंहावलोकन से यह तथ्य स्पष्टतया उद्घाटित हो जाता है कि बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के पूर्व वीरशासन में ऐसा एक भी काल नहीं रहा है, जब किसी जैन साध्वी ने अपने तपोमय जीवन से समय निकालकर साधुओं के समान विशाल स्तर पर साहित्य-प्रणयन किया हो।

बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में साहित्य-जगत् में एक ऐसी कारयित्री एव भावयित्री प्रतिभासम्पन्न साध्वी आर्यिका ज्ञानमती ने कदम रखा, जिसने संस्कृत एवं हिन्दी भाषाओं में विरचित अपनी शताधिक कृतियों से चिन्तनशील दार्शनिकों, सहृदय कवियों, सशक्त टीकाकारों, गुणज्ञ भावकों और साधक भक्तों को अतिशय प्रभावित किया है। यदि मैं अपनी समीक्षक दृष्टि में तनिक भक्ति का भी समावेश कर लूं तो मुझे एक शिलालेख में वादिराज सूरि के लिए प्रयुक्त निम्नलिखित उक्ति आर्यिका ज्ञानमती के लिए भी सर्वथा समीचीन प्रतीत होती है-

'सदसि यदकलङ्कः कीर्तने धर्मकीर्तिः,
वचसि सुरपुरोधा न्यायवादेऽक्षपादः ।
इति समयगुरूणामेकतः संगतानां,
प्रतिनिधिरिव देवो राजते वादिराजः ।।

भारतीय चिन्तन धारा मौलिक रूप से अध्यात्मवादी रही है। फलतः भारतीय मनीषा साहित्य का उद्देश्य प्रेय एवं लौकिक ही न मानकर श्रेय एवं आमुष्मिक भी स्वीकार करती है। पूज्य गणिनी आर्यिका ज्ञानमती द्वारा प्रणीत समग्र साहित्य धर्मनिष्ठ होने के कारण जहाँ एक ओर श्रेय का साधक है वहाँ दूसरी ओर काव्यसरणि का आश्रय लेने से प्रेय अर्थात् सद्यः आनन्दप्राप्ति का भी साधक है। आर्यिका ज्ञानमती ने अपनी साहित्यसाधना से संस्कृत साहित्य को चार रूपों में समृद्ध किया है- (1) मौलिक साहित्य का सृजन करके, (2) संस्कृत टीका का प्रणयन करके, (3) क्लिष्ट संस्कृत ग्रन्थों पर हिन्दी टीका लिखकर और (4) संस्कृत ग्रन्थों का हिन्दी पद्यानुवाद रचकर।

1. मौलिक संस्कृत साहित्य

साहित्य सृजन की भूमिका के रूप में लेखन क्षेत्र में प्रवेश करते हुए लेखिका ने क्षुल्लिका वीरमती की अवस्था में सर्वप्रथम जिन सहस्रनाम मन्त्र की रचना की। यद्यपि यह रचना प्रौढ़ नहीं है, तथापि साहित्यनिर्माण में हेतुभूत होने के कारण इसका अद्वितीय महत्त्व है। पूज्य माताजी द्वारा विरचित आराध ना नामक ग्रन्थ का प्रवृत्ति-निवृत्ति रूप शासन करने से तथा सूक्ष्मातीत तत्त्वों का शंसन करने से शास्त्रत्व सर्वथा सुसंगत है। संस्कृत के 444 श्लोकों मे विरचित इस शास्त्र में पूज्य माताजी ने मुनिधर्म का सरल एवं प्रसादगुण समन्वित शैली में विवेचन किया है। मूलाचार, भगवती आराधना, अनगार ध र्मामृत एवं रत्नकरण्डश्रावकाचार आदि पूर्वाचार्यों द्वारा प्रणीत ग्रन्थों के सार को आराधना में एकत्र प्रस्तुत करते हुए गागर में सागर भरने का कार्य किया गया है। आराधना का शाब्दिक अर्थ पूजा, उपासना या अर्चना है। निश्चय की अपेक्षा आराधना एक ही है, किन्तु व्यवहार की अपेक्षा से आराधना के चार भेद हैं-दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप। 'आराधना' नामक इस शास्त्र में चतुर्विध आराधना का सांगोपांग वर्णन किया गया है। पूज्य माताजी ने महाव्रत एवं मूलगुण की अन्वर्थक संज्ञा की व्युत्पत्ति करते हुए कहा है कि महाव्रत को इसलिए महाव्रत कहा गया है, क्योकि ये व्रत महापुरुषों द्वारा सेवित हैं।[1] इसी प्रकार मूलगुण साधु की स्थिति में मूल या नींव के समान हैं तथा मोक्ष के मूल कारण हैं, अतएव मूलगुण कहलाते हैं।[2] आराधना शास्त्र लेखिका के अपार वैदुष्य, मौलिक कर्तृत्व, विषयसंग्राहित्व, सरल प्रस्तुतीकरण और भाषा पर अप्रतिम अधिकार का सूचक है। कहीं भी व्याकरण या छन्द:शास्त्र की दृष्टि से स्खलन तथा सैद्धान्तिक प्रतिपादन में विरोध का अभाव इस शास्त्र की विशेषता है। यह ग्रन्थ साधुमात्र को तो पठनीय है ही, श्रावकों को भी इसका महत्त्व कम नहीं है। श्रमण आचारशास्त्र की परम्परा में आर्यिका द्वारा विरचित यह एकमात्र शास्त्र है, अत: इसका महत्त्व और भी विशिष्ट है।

गणिनी आर्यिका ज्ञानमती ने 40 के लगभग संस्कृत स्तोत्रों की रचना की है। स्तोत्र शब्द अदादिगण की उभयपदी स्तु धातु से ष्ट्रन् प्रत्यय का निष्पन्न रूप है, जिसका अर्थ गुणसंकीर्तन है। स्त्रीलिंग में प्रयुक्त स्तुति शब्द स्तोत्र का

ही पर्यायवाची है। गुण संकीर्तन आराध्य की भक्ति का एक माध्यम है और विशुद्ध भावना वाली भक्ति भवनाशिनी होती है। वादीभसिंह सूरि ने भक्ति को मुक्तिकन्या के पाणिग्रहण में शुल्क रूप कहा है।[3] माताजी द्वारा विरचित स्तोत्रों का लौकिकफल शिवेतरक्षति एवं सद्यःपरनिवृत्ति तथा आमुष्मिक फल परम्परा से निवृत्ति की प्राप्ति है। भारतीय साहित्य में स्तोत्रपरम्परा प्राचीनतम उपलब्ध साहित्य में दृष्टिगत होती है। चतुर्विध वेद इसके निदर्शन हैं। वेद के अनेक सूक्तों की मन्त्रदृष्टा ऋषिकायें हैं किन्तु आगे स्तोत्रपरम्परा में नारियों के अवदान की इस परम्परा का ह्रास चिन्त्य है। पूज्य गणिनी आर्यिका ज्ञानमती ने संस्कृत में अनेक उच्चकोटि के स्तोत्रों की रचना करके संस्कृत स्तोत्र वाङ्मय में प्रथम स्थान बनाया है। इतने विपुल स्तोत्र साहित्य का निर्माण सम्पूर्ण संस्कृत वाङ्मय में किसी एक व्यक्ति द्वारा किया गया हो, ऐसा उल्लेख भी नहीं मिलता है।

वर्ण्यविषय की दृष्टि से माताजी द्वारा रचित स्तोत्र बहुआयामी है। इसमें चौबीस तीर्थंकर, भगवान् बाहुबलि, गणधर, सिद्ध प्रभु, सिद्धक्षेत्र, त्रिलोकसम्बन्ध ी चैत्यालय, पंचमेरु, जम्बूद्वीप एवं वर्तमान काल के मुनिवरों की स्तुति के साथ षोडशकारणभावना, दशधर्म आदि का भी स्तवन किया गया है। मुनिवरों के पश्चात् प्रथम गणिनी आर्यिका ब्राह्मी माता की स्तुति लिखकर उन्होंने पूज्यताक्रम का शास्त्रानुमोदित परिपालन किया है। उनके द्वारा प्रणीत देव-शास्त्र-गुरु की ये स्तुतियाँ धार्मिक एवं साहित्यिक दोनों दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण हैं। एक लेख में माताजी द्वारा विरचित इन स्तोत्रों का वर्णन करना सर्वथा असंभव है। इन स्तोत्रों में कल्याणकल्पतरु नामक स्तोत्र का विश्व के स्तोत्रवाङ्मय मे सर्वातिशायी महत्त्व है। 212 पद्यात्मक इस स्तोत्र में 24 तीर्थंकरों की स्तुति की गई है। छन्दःशास्त्र की दृष्टि से इस स्तोत्र का महनीय योगदान है। इसमें एक अक्षर वाले छन्द से लेकर 27 अक्षर वाले 143 प्रकार के छन्दों का तथा 30 अक्षर वाले एक अर्णोदण्डक का प्रयोग हुआ है। ऐसी स्थिति संस्कृत के स्तोत्र साहित्य में कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं हुई है। छन्दों के इस उपवन में माताजी ने अध्यात्म, दर्शन और इतिहास के पुष्पों को पुष्पित करके भारत की विद्वत्परम्परा में अगाध पैठ बनाई है। इस स्तोत्र में तीर्थंकरों की पंचकल्याणक तिथियाँ, माता-पिता एवं जन्मस्थान आदि के नाम, शरीर का वर्ण, अवगाहना

एवं आयु महापुराणकार जिनसेनाचार्य एवं उत्तरपुराणकार गुणभद्राचार्य के अनुसार वर्णित हैं। टिप्पणियों में मतान्तरों के समावेश से शोधार्थी लाभ उठा सकेंगे। इसकी अलंकार योजना भी प्रशस्य है। एक मात्र कल्याणकल्पतरु के सर्वांग अध्ययन से सभी शास्त्रों का ज्ञान हो सकता है।

पूज्य माताजी के स्तोत्रों के विहंगम समीक्षण से यह स्पष्ट हो जाता हे कि उनकी कारयित्री प्रतिभा अलौकिक है। इनमें शान्तरस और वैदर्भी रीति है। प्रसाद गुण से सद्य: अर्थाभिव्यक्ति होती है तो माधुर्य के कारण शब्द नाचते से प्रतीत होते हैं। सूक्तियों के समावेश ने स्तोत्रों में रमणीयता ला दी है। वास्तव में माताजी द्वारा विरचित स्तोत्र भारतीय साहित्य को उनका स्पृहणीय उपहार है।

2. मौलिक संस्कृत टीका

आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा प्राकृत भाषा में प्रणीत ग्रन्थों में नियमसार का महत्त्वपूर्ण स्थान है, किन्तु उनके पञ्चास्तिकाय, प्रवचनसार एवं समयसार नामक ग्रन्थों को जितनी प्रसिद्धि मिली, उतनी नियमसार को न मिल सकी। इसका प्रमुख कारण संभवत: यही रहा है कि इसकी कोई ऐसी संस्कृत टीका उपलब्ध नहीं थी, जो आध्यात्मिक और सैद्धान्तिक दोनों दृष्टियों को सुस्पष्ट करती हो। नियमसार पर 1140 ई. में श्रीपद्मप्रभ मलधारिदेव द्वारा रचित एकमात्र संस्कृत टीका 'तात्पर्यवृत्ति' मिलती थी। टीकाओं के अनुसरण पर लिखित इस टीका में अध्यात्म को तो उजागर किया गया है, किन्तु यह अध्यात्म के साथ सिद्धान्त की संगति में अधिक सहायक नहीं है। माताजी ने नियमसार पर 'स्याद्वादचिन्तामणि' टीका दण्डान्वय एवं खण्डान्वय पद्धति से लिखी है, जिससे मूल गाथा का शाब्दिक अर्थ एवं उसका विशेष अभिप्राय एकदम स्पष्ट हो जाता है। माताजी द्वारा रचित इस टीका की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने अपने कथन के समर्थन में जैन परम्परा के 62 प्रामाणिक ग्रन्थों के सन्दर्भ एवं उद्धरण प्रस्तुत किये हैं। उभयविध नयाश्रित होने के कारण समयसारादि के टीकाकार जयसेनाचार्य के समान पूज्य माताजी को भी जैन परम्परा में स्थान प्राप्त होगा, यह असंदिग्ध है। अन्तिम गाथा की टीका में माताजी ने आर्यिकाओं को 11 अंग तक पठन-पाठन का अधिकारी

कहकर कदाचित् उन लोगों का मुखमुद्रण किया है, जो ऐसी आशंका करते हैं कि क्या आर्यिकायें सिद्धान्त ग्रन्थों का प्रणयन कर सकती हैं?

3. क्लिष्ट संस्कृत ग्रन्थों पर हिन्दी टीका

माताजी ने मौलिक संस्कृत साहित्य एवं संस्कृत टीका क प्रणयन के अतिरिक्त जैन विद्वानों में 'कष्टसहस्री' के नाम से प्रसिद्ध आचार्य विद्यानन्द द्वारा प्रणीत 'अष्टसहस्री' पर 'स्याद्वादचिन्तामणि' नामक हिन्दी टीका की रचना करके न्यायशास्त्र के जिज्ञासुओं का मार्ग प्रशस्त किया है। लगभग 1500 पृष्ठो के तीन भागों में प्रकाशित अष्टसहस्री टीका पूज्य माताजी ने यद्यपि स्वान्तःसुखाय लिखी है[4], तथापि इससे न केवल जैन दार्शनिकों-नैयायिकों का अपितु सभी भारतीय दार्शनिकों-नैयायिकों का अत्यन्त कल्याण हुआ है। अष्टसहस्री जैसे दुष्प्रवेश्य शास्त्र पर हिन्दी टीका माताजी के अगाध वैदुष्य तथा न्याय-व्याकरण आदि शास्त्रों के सूक्ष्मपरिशीलन की तो प्रतीक है ही, उनकी लोकहितकारिणी भावना को भी अभिव्यक्त करती है।

4. संस्कृत ग्रन्थों का हिन्दी पद्यानुवाद

आर्यिका ज्ञानमती जी ने समाधितन्त्र, इष्टोपदेश, रत्नकरण्डश्रावकाचार, आत्मानुशासन आदि ग्रन्थों का पद्यानुवाद करके उन भावक भक्तों का मार्ग निष्कंटक बना दिया है, जो संस्कृत भाषा के हार्द को समझने में असमर्थ हैं तथा संस्कृत श्लोकों को कण्ठस्थ करना जिन्हें कठिन प्रतीत होता है। माताजी के पद्यानुवादों में मौलिक काव्य की तरह प्रवाह है। इस सन्दर्भ में इष्टोपदेश का एक पद्य द्रष्टव्य है-

'विपद्भवपदावर्ते पदिकेवातिवाह्यते।
यावत्तावद्भवन्त्यन्याः प्रचुराः विपदःपुरः॥12॥

इसके निम्नलिखित पद्यानुवाद को देखें, जिसमें माताजी ने इसके भावों को किस मौलिकता के साथ स्पष्ट किया है-

'भवविपदामय आवर्तो में यह पुनः पुनः ही फसता है।
जब तक विपदा इक गई नहीं, आ गईं हजारों दुखदाहैं॥

पूज्य माताजी द्वारा किया गया अष्टसहस्री का पद्यानुवाद भी इस दुरूह एवं क्लिष्ट ग्रन्थ के हार्द को सुस्पष्ट करने में सर्वथा समर्थ है। अन्यन्त संक्षेप में मैंने संस्कृत साहित्य में आर्यिकारत्न ज्ञानमती की देन की चर्चा की है। मुझे विश्वास है कि पूज्य माताजी का संस्कृत साहित्य में काव्यप्रतिभा एवं तार्किक वैदुषी के लिए समीचीन मूल्यांकन होगा।

सन्दर्भ

1. 'तीर्थकृच्चक्रवर्त्यादिमहापुरुषसेवितम्।
   तस्मान्महाव्रतं ख्यातमित्युक्तं मुनिमुङ्गवैः।।' -आराधना, श्लोक 55
2. 'मूलं बिना वृक्ष इवालयो च भवेन्न लोके च तथैव साधुः।
   न जायते मूलगुणान् विनाऽस्माद् एते विमुक्तिरपि मूलमेव।।'
   –वही, श्लोक 88
3. 'श्रीपतिर्भगवान्पुष्याद् भक्तानां वा समीहितम्।
   यद्भक्तिः शुल्कतामेति मुक्तिकन्याकरग्रहे।।' क्षत्रचूडामणि, मंगलाचरण
4. 'स्याद्वादचिन्तामणिनामधेया, टीका मयेय क्रियतेऽल्पबुद्धया।
   चिन्तामणिः चिन्तितवस्तुदावे, सम्यक्तशुद्धयै भवतात् सदा मे।'
   -अष्टसहस्री, भाग-1, श्लोक 17

रीडर एवं अध्यक्ष-संस्कृत विभाग
एस.डी. (पी.जी.) कालेज
मुजफ्फरनगर (उ.प्र.)-251001

●●

जयधवला टीका में प्रयुक्त कतिपय रूपक और दृष्टान्त

- डॉ. फूलचन्द जैन प्रेमी

जब हम शौरसेनी प्राकृत आगम साहित्य का अध्ययन प्रारम्भ करते हैं, तब सर्वप्रथम हमारी दृष्टि आचार्य गुणधर रचित "कसायपाहुड सुत्त" पर जाती है। यह विक्रमपूर्व प्रथमशती की रचना है। यह उपलब्ध जैन साहित्य में कर्मसिद्धान्त विषयक प्राचीनतम परम्परा का एक महान् अद्वितीय ग्रन्थ माना जाता है। यह आचारांग आदि बारह अंग आगमों के अन्तर्गत बारहवें "दृष्टिवाद" नामक अंग के अन्तर्गत माना गया है, परन्तु दृष्टिवाद के अन्तर्गत पूर्वगत अर्थात् चौदह पूर्वो में ज्ञानप्रवाद नामक पाँचवें पूर्व में दसवीं वस्तु के अन्तर्गत "पाहुड" की बीस अर्थाधिकारों में तीसरे पाहुड का नाम पेज्जदोस पाहुड कहा है। यह बहुत ही विशाल ग्रन्थ था। जिसे साररूप में आचार्य गुणधर ने "गाथासूत्र" शैली मे 233 गाथाओं में निबद्ध किया। इन गाथासूत्रों को अनन्त अर्थ से गर्भित कहा गया है। इसीलिए इनके स्पष्टीकरण हेतु महाकम्म पवडि पाहुड के महान् विशेषज्ञ आचार्य यतिवृषभ ने इस पर छह हजार श्लोक प्रमाण चुण्णिसुत्तों की रचना की। इन चुण्णिसुत्तों के स्पष्टीकरण हेतु उच्चारणाचार्य ने बारह हजार श्लोक प्रमाण "उच्चारणा" नामक वृत्ति का निर्माण किया। इसके बाद शामकुण्डाचार्य, तुम्बलूराचार्य, बप्पदेवाचार्य द्वारा वृहद् टीकायें लिखीं गईं। इन टीकाओं के उल्लेख मात्र तो प्राप्त हैं किन्तु ये महान् टीकायें आज हमें उपलब्ध नहीं हैं।

जयधवला टीका-यह सत्य है कि द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के अनुसार सभी वस्तुओं में निरन्तर परिवर्तन होता ही रहता है, अत: युग के अनुसार लोगों की स्मरण और ग्रहण शक्ति में भी परिवर्तन होना स्वाभाविक है। अत: सिद्धान्त के विषयों की गहनता और भाषा की कठिनाई ने इस महान् ज्ञान की

अविच्छिन्न धारा में बाधा डालना प्रारम्भ किया, तब उपर्युक्त टीकाओं और मूलग्रन्थों के अनन्त गहन अर्थों के हृदयंगम करके आचार्य वीरसेन स्वामी (नवीं शती का पूर्वार्ध), तथा आचार्य जिनसेन (नवीं शती) ने "मणिप्रवाल-न्याय" से प्राकृत-संस्कृत मिश्रित भाषा में साठ हजार श्लोक प्रमाण "जयधवला" नामक विशाल टीका की सरल भाषा में रचना करके महान् आगम ज्ञान की परम्परा को सुरक्षित करके अपने को अमर और भावी पीढ़ी द्वारा सदा के लिए श्रद्धा का पात्र बना लिया।

जयधवला टीका "मूलग्रन्थ" कसायपाहुड और उसके चूर्णिसूत्रों पर लिखी गई है। इसमें बीस हजार श्लोक प्रमाण प्रारम्भिक भाग की रचना आचार्य वीरसेन स्वामी ने की तथा इनके स्वर्गवास के बाद शेष भाग की रचना इनके सुयोग्य शिष्य "जिनसेनाचार्य" ने की। इस समय यह जयधवला टीका सिद्धान्ताचार्य पं. फूलचन्द शास्त्री और सिद्धान्ताचार्य पं. कैलाशचन्द शास्त्री के संयुक्त सम्पादकत्व में हिन्दी अनुवाद तथा विशेष विवेचन के साथ भा. दिगम्बर जैन संघ, मथुरा से 16 खण्डों में प्रकाशित है। जयधवला टीका की उपयोगिता और प्रसिद्धि इतनी अधिक है कि मूलग्रन्थ तक को "जयध वलसिद्धान्त ग्रन्थ" नाम से अभिहित करते हुए प्रायः देखा जाता है।

जयधवला टीका व्याख्यान शैली में लिखित साठ हजार श्लोक प्रमाण है। जयधवलाकार द्वारा प्रस्तुत विषय वर्णन की प्राञ्जलता, युक्तिवादिता तथा अपने या अन्य आचार्यो के मत को प्रस्तुत करने की दृढ़ता-इस टीका की प्रमुख विशेषता है।

रूपक और दृष्टान्त

जैसा कि मूलग्रन्थ कसायपाहुड और इसकी जयधवला टीका के नाम से ही स्पष्ट है कि इसमें पेज्जदोष (पेज्ज=प्रेय=राग, दोष=द्वेष) तथा कषाय की बन्ध, उदय, सत्त्व आदि विविध दशाओं के द्वारा कषायों का विस्तृत-व्याख्यान किया गया है। इसके पन्द्रह अधिकारों में से प्रारम्भ के आठ अधिकारों में संसार के कारणभूत मोहनीय कर्म की विविध दशाओं का तथा अन्तिम सात अधिकारों में आत्म परिणामों के विकास से शिथिल होते हुए मोहनीय कर्म की

विविध दशाओं का विवेचन है। अत: कर्मसिद्धान्त का ग्रन्थ होने के कारण इसमें अलंकार, रूपक तथा दृष्टान्तों का दुर्लभ होना स्वाभाविक है, फिर भी कहीं-कहीं जयधवलाकार ने मंगलाचरणों तथा कहीं-कहीं अपने विषय को समझाने के लिए रूपक और दृष्टान्तों को जिस रूप में प्रस्तुत किया है, वह इस प्रकार है-

जयधवला टीका (भाग-1) के प्रारम्भ में आचार्य वीरसेन ने मंगलाचरण के रूप में कहा है-

तित्थयरा चउबीस वि केवलणाणेण दिट्ठसव्वट्ठा।
पसियंतु सिवसरूपा तिहुणसिर सेहरा मज्झं।।२।।

अर्थात् जिन्होंने अपने केवलज्ञान से समस्त पदार्थो का साक्षात्कार कर लिया, जो शिवस्वरूप है और तीनों लोकों के अग्रभाग में विराजमान होने के कारण अथवा तीनों लोकों के शलाका पुरुषों में श्रेष्ठ होने के कारण त्रिभुवन के सिर पर शेखर रूप हैं, ऐसे चौबीसों तीर्थंकर मुझ पर प्रसन्न हों। यहाँ चौबीस तीर्थंकरों को शिवस्वरूप कहा है।

गणधर देव को समुद्र सदृश बतलाते हुए आचार्य कहते हैं-जो सम्यग्दर्शन आदि अनेक गुणरूपी रत्नों से भरे हुए हैं और श्रुतज्ञान रूपी अमित जल समुदाय से गंभीर हैं, जिनकी विशालता का पार नहीं मिलता और जो अनेक नयों के उत्तरोत्तर भेद रूपी उन्नत तरंगों से युक्त हैं-ऐसे गणधरदेव रूपी समुद्र को तुम लोग नमस्कार करो[1]।

यहाँ आचार्य ने कहा है कि जैसे समुद्र में रत्न, गहरी जलराशि तथा तरंगे होती हैं उसी प्रकार गणधरदेव में भी अनेक गुणरूपी रत्न, श्रुतज्ञान रूपी अथाह ज्ञान है तथा उनका यह श्रुतज्ञान भी नयभंग रूपी तरंगों से युक्त है।

आगे संसार को बेल की उपमा देते हुए कहा है कि[2] जैसे बेल (लता) का आदि, मध्य और अन्त होता है, उसकी पोरें भी स्वल्प होती हैं उसी प्रकार संसार भी ऐसी बेल है जो सन्तानक्रम से अनादि काल से चली आ रही है-ऐसी संसाररूपी बेल को जिन जिनदेव ने छेद (समाप्त कर) दिया, उन्हें मैं

नमस्कार करता हूँ।

सप्तम वेदक नामक अर्थाधिकार (भाग 10 पृ. 2) में कर्मों की उदय और उदीरणा को समझाते हुए कहा है कि-"जिस प्रकार वनस्पति के फल परिपाक काल के द्वारा या उपाय द्वारा परिपाक को प्राप्त होते हैं, उसी प्रकार किये गये कर्म परिपाककाल के द्वारा या तप के द्वारा पचते हैं।

जयधवलाकार ने व्यंजन नामक अनुयोग द्वार के अन्त में कहा है[3]-जिस प्रकार विद्या की आराधना कष्टसाध्य होती है, उसी प्रकार लोभ का आलम्बनभूत भोगोपभोग कष्टसाध्य होने से प्रकृत में लोभ को कष्टसाध्य कहा गया है। इसी प्रकार लोभ जिह्वा के समान होने से जिह्वास्वरूप है, यहाँ असंतोषरूप साधर्म्य का आश्रयकर जिह्वा लोभ का पर्यायवाची बताया है।

सातवें भाग (पृ. 366) में जिनेन्द्रदेव को महोदधि की उपमा देते हुए कहा है कि-जैसे महोदधि के गर्भ से उत्तमोत्तम रत्न निकलते हैं, उसी प्रकार जो जिनेन्द्रदेव के वचनरूपी महोदधि से जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप तीन रत्न निकले हैं वे संसार के सभी निर्मल पदार्थों में सारभूत हैं अतः इन तीन रत्नों की सदा जय हो।

अणुभाग विहत्ती नामक पाँचवें भाग (पृ. 130) में शक्ति की अपेक्षा कर्मो के अनुभाग स्थान के चार विकल्प प्रस्तुत किये हैं-1. लता रूप 2. दारु रूप 3. अस्थि रूप 4. शैल रूप।

जयधवला भाग 12 के उपयोग नामक सप्तम अर्थाधिकार की गाथा 2-71 (पृष्ठ 152) में दृष्टान्तों द्वारा क्रोध कषाय को प्रतिपादित करते हुए कहा है-

णग-पुढवि-वालुगोदयराईस सरिसो चउव्विहो कोहो।
सेलघण-अट्ठि-दारुअ-लदासमाणो हवदि माणो॥2-71॥

अर्थात् क्रोध चार प्रकार का है-नगराजिसदृश, पृथिवीराजि सदृश, वालुकाराजि सदृश तथा उदकराजि सदृश।

1. **नगराजिसदृश क्रोध**-अर्थात् पर्वतशिला भेद सदृश क्रोध। इसे उदाहरण द्वारा समझाते हुए कहा है कि जैसे पर्वत शिलाभेद किसी भी दूसरे कारण से उत्पन्न होकर पुनः कभी भी दूसरे उपाय द्वारा सन्धान को प्राप्त नहीं होता, तदवस्थ ही बना रहता है। इसी प्रकार जो क्रोध परिणाम किसी भी जीव के किसी भी पुरुष विशेष में उत्पन्न होकर उस भव में उसी प्रकार बना रहता है, जन्मान्तर में भी उससे उत्पन्न हुआ संस्कार बना रहता है, यह उस प्रकार का तीव्रतर क्रोध परिणाम नगराजिसदृश कहा जाता है।

2. **पृथिवीराजिसदृश क्रोध**-जैसे ग्रीष्मकाल में पृथिवी का भेद हुआ अर्थात् पृथिवी के रस का क्षय होने से यह भेद रूप से परिणत हो गई। पुनः वर्षाकाल में जल के प्रवाह से वह दरार भरकर उसी समय संधान को प्राप्त हो गई। इसी प्रकार जो क्रोध परिणाम चिरकाल तक अवस्थित रहकर भी पुनः दूसरे कारण से तथा गुरु के उपदेश आदि से उपशमभाव को प्राप्त होता है वह उस प्रकार का तीव्र परिणाम भेद पृथिवीराजि सदृश जाना जाता है।

3. **वालुकाराजि सदृश क्रोध**-इसे उदाहरण द्वारा समझाते हुए कहा है कि नदी के पुलिन आदि में वालुका राशि के मध्य पुरुष के प्रयोग से या अन्य किसी कारण से उत्पन्न हुई रेखा जैसे हवा के अभिघात आदि दूसरे कारण द्वारा शीघ्र ही पुनः समान हो जाती है अर्थात् मिट जाती है, उसी प्रकार क्रोध परिणाम भी मन्दरूप से उत्पन्न होकर गुरु के उपदेश रूपी पवन से प्रेरित होता हुआ अतिशीघ्र उपशम को प्राप्त हो जाता है। वह क्रोध वालुकाराजि के समान कहा जाता है।

4. **उदकराजिसदृश क्रोध**-इसी प्रकार उदकराजि के सदृश भी क्रोध जान लेना चाहिए। इतनी विशेषता है कि इससे भी मन्दतर अनुभाग वाला और स्तोकतर काल तक रहने वाला वह जानना चाहिए। क्योंकि पानी के भीतर उत्पन्न हुई रेखा का बिना दूसरे उपाय के उसी समय ही विनाश देखा जाता है।

इसी प्रकार मायाकषाय को भी सोदाहरण समझाते हुए कहा है कि-

वंसीजण्हुगसरिसी मेंढविसाणसरिसी य गोमुत्ती।
अवलेहणीसमाणा माया वि चउव्विहा भणिदा॥3-72॥

अर्थात् मायाकषाय के चार प्रकार हैं- बाँस की जड़ के सदृश, मेढ़े की सींग के सदृश, गोमूत्र के सदृश तथा अवलेखनी के सदृश।

1. जैसे बाँस के जड़ की गाँठ नष्ट होकर तथा शीर्ण होकर भी सरल नहीं की जा सकती है, इसी प्रकार अति तीव्र वक्रभाव से परिणत माया परिणाम भी निरूपक्रम होता है।

2. इसी प्रकार मेढे की सींग के सदृश माया की दूसरी अवस्था है। जैसे अतिवलित वक्रतररूप से परिणत हुए भी मेढे के सींग को अग्नि के ताप आदि दूसरे उपायों द्वारा सरल करना शक्य है।

3. तीसरी मायाकषाय को गोमूत्र सदृश कहा है तथा चतुर्थ मायाकषाय को अवलेखनी (दातौन या जीभ के मल का शोधन करने वाली जीभी) लेना चाहिए। इसी प्रकार लोभकषाय को कृमिराग के सदृश अक्षमल के सदृश, पांशुलेप तथा हरिद्रावस्त्र के सदृश बतलाया है।

जयधवला के ही अन्तिम 16वें भाग के पच्छिमखंध नामक अर्थाधिकार में कहा है कि जैसे बीज के अस्तित्व में जौ, तिल, मसूर आदि पृथिवी में निक्षिप्त कर अनेक कारणों के वश से अंकुरों को उत्पन्न करते हैं, उसी प्रकार संसार में शरीर को मूल कारण कर्म है, उस कर्म के क्षय को प्राप्त होने पर शरीरधारियों के भव बीज के नहीं रहने पर नवबीज की उत्पत्ति नहीं होती।

इस प्रकार जयधवलाकार ने मूलग्रन्थगत विषय के अनुरूप सिद्धान्तों का ही व्याख्यान शैली में प्रयोग किया है अत: रूपक और दृष्टान्तों का कहीं-कहीं ग्रन्थ की विशालता को देखते हुए बहुत कम मात्रा में प्रस्तुत किया है। फिर भी, इन्हें जितने रूपों में प्रस्तुत किया वे अपने विषय को प्रस्तुत करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करते हैं।

सन्दर्भ

1. कसाय पाहुड भाग-1 पृष्ठ 3 मंगलाचरण गाथा 5.

2. अंताइ-मज्झरहिया जाइ-जरा-मरणणंत पोरड्ढा।
संसारलया तमहं जेणच्छिण्णा जिणं वंदे।। जयधावला भाग 3 पृ.1

अध्यक्ष, जैन दर्शन विभाग
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

3. वहीं : भाग 12, पृ. 192.

निवास-अनेकान्त भवनम्
बी-23/45पी-6, शारदानगर कालोनी
नवाबगंज मार्ग, वाराणसी-221010

वैशाली-गणतन्त्र

श्री राजमल जैन

25 वर्ष पूर्व अनेकान्त वर्ष 28 अंक में प्रकाशित महत्त्वपूर्ण आलेख, जिसमें वैशाली गणतन्त्र के विषय में शोधपूर्ण जानकारियाँ दी गई हैं भगवान महावीर के 2600वें जन्म जयन्ती महोत्सव वर्ष के प्रसंग से पुन: प्रकाशित।

● सम्पादक

वैशाली-गणतन्त्र के वर्णन के बिना जैन राजशास्त्र का इतिहास अपूर्ण ही रहेगा। वैशाली-गणतन्त्र के निर्वाचित राष्ट्रपति ('राजा' शब्द से प्रसिद्ध) चेटक की पुत्री त्रिशला भगवान् महावीर की पूज्य माता थी। (श्वेताम्बर-परम्परा के अनुसार, त्रिशला चेटक की बहन थीं) भगवान् महावीर के पिता सिद्धार्थ वैशाली के एक उपनगर 'कुण्डग्राम' के शासक थे। अत: महावीर भी 'वैशालिक' अथवा 'वैशालीय' के नाम से प्रसिद्ध थे। भगवान महावीर ने संसार-त्याग के पश्चात् 42 चातुर्मासों में से छ: चातुर्मास वैशाली में किये थे। कल्प-सूत्र (122) के अनुसार महावीर ने बारह चातुर्मास वैशाली में व्यतीत किये थे।[1]

महात्मा बुद्ध एवं वैशाली :

इसका यह तात्पर्य नहीं कि केवल महावीर को ही वैशाली प्रिय थी। इस गणतन्त्र तथा नगर के प्रति महात्मा बुद्ध का भी अधिक स्नेह था। उन्होंने कई बार वैशाली में विहार किया था तथा चातुर्मास बिताए। निर्वाण से पूर्व जब बुद्ध इस नगर में से गुजरे तो उन्होंने पीछे मुड़ कर वैशाली पर दृष्टिपात किया और अपने शिष्य आनन्द से कहा, "आनन्द! इस नगर में यह मेरी अन्तिम यात्रा होगी।"[2] यहीं पर उन्होंने सर्वप्रथम भिक्षुणी-संघ की स्थापना की तथा आनन्द के अनुरोध पर गौतमी को अपने संघ में प्रविष्ट किया। एक अवसर पर जब

बुद्ध को लिच्छिवियों द्वारा निमन्त्रण दिया गया तो उन्होंने कहा-''हे भिक्षुओं! देव-सभा के समान सुन्दर इस लिच्छवि-परिषद को देखो।[3]

महात्मा बुद्ध ने वैशाली-गणतन्त्र के आदर्श पर भिक्षु संघ की स्थापना की। भिक्षु संघ के छन्द (मत-दान) तथा दूसरे प्रबन्ध के ढंगों में लिच्छवि (वैशाली) गणतंत्र का अनुकरण किया गया है।'' (राहुल सांकृत्यायन-पुरातत्व-निबन्धावली-पृष्ठ 12) यद्यपि बुद्ध शाक्य-गणतन्त्र से सम्बद्ध थे (जिसके अध्यक्ष बुद्ध के पिता शुद्धोदन थे), तथापि उन्होंने वैशाली-गणतन्त्र की पद्धति को अपनाया। हिन्दू राजशास्त्र के विशेषज्ञ श्री काशीप्रसाद जायसवाल के शब्दो में ''बौद्ध संघ ने राजनैतिक संघों से अनेक बातें ग्रहण की। बुद्ध का जन्म गणतन्त्र में हुआ था। उनके पड़ोसी गणतन्त्र-संघ थे और वे उन्हीं लोगों में बड़े हुए। उन्होंने अपने संघ का नामकरण 'भिक्षु-संघ' अर्थात् भिक्षुओं का गणतन्त्र किया। अपने समकालीन गुरुओं का अनुकरण करके उन्होंने अपने धर्म-संघ की स्थापना में गणतन्त्र संघों के नाम तथा संविधान को ग्रहण किया। पालि-सूत्रों में उद्धृत, बुद्ध के शब्दों के द्वारा राजनैतिक तथा धार्मिक संघ व्यवस्था का सम्बन्ध सिद्ध किया जा सकता है।[4] विद्वान् लेखक ने उस सात नियमों का वर्णन किया है जिनका पूर्ण पालन होने पर वज्जि-गण (लिच्छवि एवं विदेह) निरन्तर उन्नति करता रहेगा। इन नियमों का वर्णन महात्मा बुद्ध ने मगधराज अजात-शत्रु (जो वज्जिगण के विनाश का इच्छुक था) के मन्त्री के सम्मुख किया था। बुद्ध ने भिक्षु-संघ को भी इन नियमों के पालन की प्रेरणा दी थी।

बौद्ध ग्रन्थ एवं वैशाली :

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि वैशाली-गणतन्त्र के इतिहास तथा कार्य प्रणाली के ज्ञान के लिए हम बौद्ध ग्रन्थों के ऋणी हैं। विवरणों की उपलब्धि के विषय में ये विवरण निराले हैं। सम्भवत: इसी कारण श्री जायसवाल ने इस गणतंत्र को 'विवरणयुक्त गणराज्य' Recorded republic शब्द से सम्बोधित किया है। क्योंकि अधिकांश गणराज्यों का अनुमान कुछ सिक्कों या मुद्राओं से

या पाणिनीय व्याकरण के कुछ सूत्रों में अथवा कुछ ग्रन्थों में यत्र-तत्र उपलब्ध संकेतों से किया गया है। इसी कारण विद्वान् लेखक ने इसे 'प्राचीनतम गणतन्त्र' घोषित किया है, जिसके लिखित साक्ष्य हमें प्राप्त हैं और जिसकी कार्य-प्रणाली की झाँकी हमें महात्मा बुद्ध के अनेक सम्वादों में मिलती है।

वैशाली गणतन्त्र का अस्तित्व कम से कम 2600 वर्ष पूर्व रहा है। 2500 वर्ष पूर्व भगवान् महावीर ने 72 वर्ष की आयु में निर्वाण प्राप्त किया था। यह स्पष्ट ही है कि महावीर वैशाली के अध्यक्ष चेटक के दौहित्र थे। महात्मा बुद्ध महावीर के समकालीन थे। बुद्ध के निर्वाण के शीघ्र पश्चात् बुद्ध के उपदेशो को लेख-बद्ध कर लिया गया था। वैशाली में ही बौद्ध भिक्षुओं की दूसरी संगीति का आयोजन (बुद्ध के उपदेशों के संग्रह के लिए) हुआ था।[5]

वैशाली गणतन्त्र से पूर्व (छठी शताब्दी ई.पू.) क्या कोई गणराज्य था? वस्तुत: इस विषय में हम अंधकार में हैं। विद्वानों ने ग्रंथों में यत्र-तत्र प्राप्त शब्दों से इसका अनुमान लगाने का प्रयत्न किया है। वैशाली से पूर्व किसी अन्य गणतन्त्र का विस्तृत विवरण हमें उपलब्ध नहीं है। बौद्ध ग्रंथ 'अंगुत्तर निकाय' से हमें ज्ञात होता है कि ईसा पूर्व छठी शताब्दी से पहले निम्नलिखित सोलह 'महाजन पद' थे-1. काशी 2. कोसल 3. अंग 4. मगध 5. वज्जि (वृजि) 6. मल्ल 7. चेतिय (चेदि) 8. वंस (वत्स) 9. कुरु 10 पंचाल 11. मच्छ (मत्स्य) 12. शूरसेन 13. अस्सक (अश्मक) 14. अवन्ति 15. गन्धार 16. कम्बोज।'' इनमें से 'वज्जि' का उदय विदेह-साम्राज्य के पतन के बाद हुआ।[6]

जैन ग्रंथ 'भगवती सूत्र' में इन जनपदों की सूची भिन्न रूप में है जो निम्नलिखित है-1. अंग 2. वंग 3. मगह (मगध) 4. मलय 5. मालव (क) 6. अच्छ 7. वच्छ (वत्स) 8. कोच्छ (कच्छ?) 9. पाढ (पाण्ड्य या पौड्र) 10. लाढ (लाट या राट) 11. वज्जि (वज्जि) 12. मौलि (मल्ल) 13. काशी 14. कोसल 15. अवाह 16. सम्मुत्तर (सुम्भोत्तर?)। अनेक विद्वान् इस सूची को उत्तरकालीन मानते हैं,

परन्तु यह सत्य है कि उपर्युक्त सोलह जनपदों में काशी, कोशल मगध, अवन्ति तथा वज्जि सर्वाधिक शक्तिशाली थे।

वैशाली गणतन्त्र की रचना :

'वज्जि' नाम है एक महासंघ का, जिसके मुख्य अंग थे-ज्ञातृक, लिच्छवि एवं वृजि। ज्ञातृकों से महावीर के पिता सिद्धार्थ का सम्बन्ध था (राजधानी-कुण्डग्राम) लिच्छवियों की राजधानी वैशाली की पहचान बिहार के मुजफ्फरपुर जिले में स्थित बसाढ़-ग्राम से की गई है। वृजि को एक कुल माना गया है, जिसका सम्बन्ध वैशाली से था। इस महासंघ की राजधानी भी वैशाली थी। लिच्छवियों के अधिक शक्तिशाली होने के कारण इस महासंघ का नाम 'लिच्छवि-संघ' पड़ा। बाद में, राजधानी वैशाली की लोकप्रियता से इसका भी नाम वैशाली-गणतन्त्र हो गया।

वज्जि एवं लिच्छवि :

बौद्ध साहित्य से यह भी ज्ञात होता है कि वज्जि महासंघ में अष्ट कुल (विदेह, ज्ञातृक, लिच्छवि, वृजि, उग्र, भोग, कौरव तथा ऐक्ष्वाकु) थे। इनमें भी मुख्य थे-वृजि तथा लिच्छवि। बौद्ध-दर्शन तथा प्राचीन भारतीय भूगोल के अधिकारी विद्वान् श्री भरतसिंह उपाध्याय ने अपने ग्रंथ (बुद्ध कालीन भारतीय भूगोल, पृष्ठ 383-84 (हिन्दी-साहित्य सम्मेलन प्रयाग संवत् 2018) में निम्नलिखित मत प्रगट किया है-"वस्तुतः लिच्छवियों और वज्जियों में भेद करना कठिन है, क्योंकि वज्जि न केवल एक अलग जाति के थे, बल्कि लिच्छवि आदि गणतन्त्रों को मिलाकर उनका सामान्य अभिधान वज्जि संघ की ही राजधानी थी बल्कि वज्जियों, लिच्छवियों तथा अन्य सदस्य गणतन्त्रों की सामान्य राजधानी भी थी। एक अलग जाति के रूप में वज्जियों का उल्लेख पाणिनि ने किया है और कौटिल्य ने भी उन्हें लिच्छवियों से पृथक् बताया है। यूआन चूआङ् ने भी वज्जि (फु-लि-चिह्) देश और वैशाली (फी-शे-ली) के बीच भेद किया है, परन्तु पालि त्रिपिटक के आधार पर ऐसा विभेद करना

सम्भव नहीं है। महापरिनिर्वाण-सूत्र में भगवान् कहते हैं, "जब तक वज्जि लोग सात अपरिहाणीय धर्मों का पालन करते रहेंगे, उनका पतन नहीं होगा।" परन्तु संयुत्त निकाय के कलिंगर सुत्त में कहते हैं, "जब तक लिच्छवि लोग लकड़ी के बने तख्तों पर सोयेंगे और उद्योगी बने रहेंगे; तब तक अजातशत्रु उनका कुछ नहीं बिगाड़ सकता।' इससे प्रगट होता है कि भगवान् बुद्ध वज्जि और लिच्छवि शब्दों का प्रयोग पर्यायवाची अर्थ में ही करते थे। इसी प्रकार विनय-पिटक के प्रथम पाराजिक में पहले तो वज्जि प्रदेश में दुर्भिक्ष पड़ने की बात कही गई है (पाराजिक पालि, पृष्ठ 19, श्री नालन्दा-संस्करण) और आगे चल कर वहीं (पृष्ठ 22 में) एक पुत्रहीन व्यक्ति को यह चिंता करते दिखाया गया है कि कहीं लिच्छवि उनके धन को न ले लें। इससे भी वज्जियों और लिच्छवियों की अभिन्नता प्रतीत होती है।"

विद्वान् लेखक द्वारा प्रदर्शित इस अभिन्नता से मैं सहमत हूँ। इस प्रसंग में 'वज्जि' से बुद्ध का तात्पर्य लिच्छवियों से भी था और इसी आधार पर वज्जि संबंधी बुद्ध-वचनों की व्याख्या होनी चाहिए।

अन्य ग्रंथों में उल्लेख :

पाणिनि (500 ई.पू.) और कौटिल्य (300 ई.पू.) के उल्लेखों से भी वज्जि (वैशाली, लिच्छवि) गणतन्त्र की महत्ता तथा ख्याति का अनुमान लगाया जा सकता है। पाणिनीय 'अष्टाध्यायी' में एक सूत्र है-भद्रवृज्जयोः कन् 4।2।31. इसी प्रकार, कौटिल्य ने 'अर्थशास्त्र' में दो प्रकार के संघों का अन्तर बताते हुए लिखा है-"काम्बोज, सुराष्ट्र आदि क्षत्रिय श्रेणियाँ कृषि, व्यापार तथा शस्त्रों द्वारा जीवन-यापन करती हैं और लिच्छविक, वृजिक, मल्लक, मद्रक, कुकुर, कुरु, पञ्चाल आदि श्रेणियाँ राजा के समान जीवन बिताती हैं।"[7]

रामायण तथा विष्णु पुराण के अनुसार, वैशाली नगरी की स्थापना इक्ष्वाकु-पुत्र विशाल द्वारा की गई है। विशाल नगरी होने के कारण यह

'विशाला' नाम से भी प्रसिद्ध हुई। बुद्धकाल में इसका विस्तार नौ मील तक था।[8] इसके अतिरिक्त, 'वैशाली, धन-धान्य-समृद्ध तथा जन-संकुल नगरी थी। इसमें बहुत से उच्च भवन, शिखर युक्त प्रासाद, उपवन तथा कमल-सरोवर थे। (विनय-पिटक एवं ललित विस्तर) बौद्ध एवं जैन-दोनों धर्मों के प्रारम्भिक इतिहास से वैशाली का घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। ''ई.पू. पाँच सौ वर्ष पूर्व भारत के उत्तर पूर्व भाग में दो महान् धर्मो के 'महापुरुषों' की पवित्र स्मृतियाँ वैशाली में निहित हैं।''[9] बढ़ती हुई जनसंख्या के दबाव से तीन बार इसका विस्तार हुआ। तीन दीवारें इसे घेरती थीं। ''तिब्बती विवरण भी इसकी समृद्धि की पुष्टि करते हैं। तिब्बती विवरण (सुल्व 3।80) के अनुसार, वैशाली में तीन जिले थे। पहले जिले में स्वर्ण-शिखरों से युक्त 7000 घर थे, दूसरे जिले में चाँदी के शिखरों से युक्त 14000 घर थे तथा तीसरे जिले में ताँबे के शिखरों से युक्त 21000 घर थे। इन जिले में उत्तम, मध्यम तथा निम्न वर्ग के लोग अपनी-अपनी स्थिति के अनुसार रहते थे। (राकहिल लाइफ आफ बुद्ध-पृष्ठ 62)[11]। प्राप्त विवरणों के अनुसार वैशाली की जनसंख्या 16800 थी।

क्षेत्र एवं निवासी :

जहाँ तक इसकी सीमा का सम्बन्ध है, गंगा नदी इसे मगध साम्राज्य से पृथक् करती थी। श्री रे चौधरी के शब्दों में, ''उत्तर दिशा में लिच्छवि-प्रदेश नेपाल तक विस्तृत था।'' श्री राहुल सांकृत्यायन के अनुसार, वज्जि प्रदेश मे आधुनिक चम्पारन तथा मुजफ्फरपुर जिलों के कुछ भाग, दरभंगा जिले का अधिकांश भाग, छपरा जिले के मिर्जापुर एवं परसा, सोनपुर पुलिस-क्षेत्र तथा कुछ अन्य स्थान सम्मिलित थे।

वषाढ़ में हुए पुरातत्व-विभाग के उत्खनन से इस स्थानीय विश्वास की पुष्टि होती है कि वहाँ राजा विशाल का गढ़ था। एक मुद्रा पर अंकित था-''वेशलि इनु..ट...कारे सयानक।'' जिसका अर्थ किया गया, ''वैशाली का एक भ्रमणकारी अधिकारी।'' इस खुदाई में जैन तीर्थंकरों की मध्यकालीन मूर्तियाँ भी प्राप्त हुई हैं।

वैशाली की जनसंख्या के मुख्य अंग थे-क्षत्रिय। श्री रे चौधरी के शब्दों में "कट्टर हिन्दू-धर्म के प्रति उनका मैत्री भाव प्रकट नहीं होता। इसके विपरीत, ये क्षत्रिय, जैन, बौद्ध जैसे अब्राह्मण सम्प्रदायों के प्रबल पोषक थे। मनुस्मृति के अनुसार, "झल्ल, मल्ल, द्रविड़, खस आदि के समान वे व्रात्य राजन्य थे।"[12] यह सुविदित है कि व्रात्य का अर्थ यहाँ जैन है, क्योंकि जैन साधु एवं श्रावक अहिंसा सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह-इन पाँच व्रतों का पालन करते हैं। मनुस्मृति के उपर्युक्त श्लोकों में लिच्छवियों को 'निच्छवि' कहा गया है। कुछ विद्वानों ने लिच्छवियों को 'तिब्बती उद्‌गम' सिद्ध करने का प्रयत्न किया है परन्तु यह मत स्वीकार्य नहीं है। अन्य विद्वान् के अनुसार लिच्छवि भारतीय क्षत्रिय हैं, यद्यपि यह एक तथ्य है कि लिच्छवि-गणतन्त्र के पतन के बाद वे नेपाल चले गये और वहाँ उन्होंने राजवंश स्थापित किया।[13]

'लिच्छवि' शब्द की व्युत्पत्ति :

जैन-ग्रंथों में लिच्छवियों को 'लिच्छई' अथवा 'लिच्छवि' कहा गया है। व्याकरण की दृष्टि से, 'लिच्छवि' शब्द की व्युत्पत्ति 'लिच्छु', शब्द से हुई है। यह किसी वेश का नाम रहा होगा। बौद्ध ग्रंथ 'खुद्दकपाठ' (बुद्धघोषकृत) की अट्ठकथा में निम्नलिखित रोचक कथा है-काशी की रानी ने दो जुड़े हुए मांस-पिण्डों को जन्म दिया और उनको गंगा नदी में फिकवा दिया। किसी साधु ने उनको उठा लिया और उनका स्वयं पालन-पोषण किया। वे निच्छवि (त्वचा-रहित) थे। कालक्रम से उनके अंगों का विकसित हुआ और वे बालक-बालिका बन गये। बड़े होने पर वे दूसरे बच्चों को पीड़ित करने लगे, अतः उन्हें दूसरे बालकों से अलग कर दिया है। (वज्जितव्व-वर्जितव्य)। इस प्रकार ये 'वज्जि' नाम से प्रसिद्ध हुए। साधु ने उन दोनों का परस्पर विवाह कर दिया और राजा से 300 योजन भूमि उनके लिए प्राप्त की। इस प्रकार उनके द्वारा शासित प्रदेश 'वज्जि-प्रदेश' कहलाया।"

सात धर्म :

मगधराज अजात-शत्रु साम्राज्य-विस्तार के लिए लिच्छवियों पर आक्रमण

करना चाहता था। उनके अपने मंत्री वस्सकार (वर्षकार) को बुद्ध के पास भेजते हुए कहा-'हे ब्राह्मण! भगवान् बुद्ध के पास जाओ और मेरी ओर से उनके चरणों में प्रणाम करो। मेरी ओर से उनके आरोग्य तथा कुशलता के विषय में पूछ कर उनसे निवेदन करो कि वैदेही-पुत्र मगधराज अजातशत्रु ने वज्जियों पर आक्रमण का निश्चय किया है और मेरे ये शब्द कहो-''वज्जि-गण चाहे कितने शक्तिशाली हों, मैं उनका उन्मूलन करके पूर्ण विनाश कर दूँगा। इसके बाद सावधान होकर भगवान् तथागत के वचन सुनो।''[14] और आकर मुझे बताओ। तथागत का वचन मिथ्या नहीं होता।

अजात शत्रु के मंत्री के वचन सुनकर बुद्ध ने मंत्री को उत्तर नहीं दिया बल्कि अपने शिष्य आनन्द से कुछ प्रश्न पूछे और तब निम्नलिखित सात अपरिहानीय धर्मो (धम्म) का वर्णन किया[15]-

1. अभिण्हं सन्निपाता सन्निपाता बहुला भविस्संति।

-हे आनन्द! जब तक वज्जि पूर्ण रूप से निरन्तर परिषदों के आयोजन करते रहेंगे!

2. समग्गा सन्निपातिस्संति समग्गा वुट्ठ-हिस्संति समग्गा संघकरणीयानि करिस्संति।

-जब तक वज्जि संगठित होकर मिलते रहेंगे, संगठित होकर उन्नति करते रहेंगे तथा संगठित होकर कर्तव्य कर्म करते रहेंगे।

3. अप्पज्ञंत न पज्जापेस्संति, पज्ञतं न समुच्छिन्दिस्संति-यथा, पज्ञत्तेषु सिक्खापदेसु समादाय वत्तस्संति।

-जब तक वे अप्रज्ञप्त (अस्थापित) विधाओं को स्थापित न करेंगे। स्थापित विधानों का उल्लंघन न करेंगे तथा पूर्वकाल में स्थापित प्राचीन वज्जि-विधानों का अनुसरण करते रहेंगे;

4. ये ते संघपितरो संघपरिणायका ते सक्करिस्संति गरु करिस्संति मानेस्संति

पूजेस्संति तेसञ्च सोत्तब्बं मञ्ञिस्संति।

—जब तक तक वे वज्जि-पूर्वजों तथा नायकों का सत्कार, सम्मान, पूजा तथा समर्थन करते रहेंगे तथा उनके वचनों को ध्यान से सुन कर मानते रहेंगे;

5. ये ते वज्जीनं वज्जिमहल्लका ते सक्करिस्संति, गुरु करिस्सन्ति मानेस्संति, पूजेस्संति, या ता कुलित्थियो कुलकुवारियों ता न आक्कस्स पसह्य वास्सेनित।

—जब तक वे वज्जि-कुल की महिलाओं का सम्मान करते रहेंगे और कोई भी कुलस्त्री या कुल-कुमारी उनके द्वारा बल पूर्वक अपहृत या निरुद्ध नहीं की जायेंगी;

6. वज्जि चेतियानि इब्भंतरानि चेव बाहिरानि च तानि सक्करिस्संति, गरु करिस्संति, मानेस्संति, पूजेस्संति, तेसञ्च दिन्नपुब्बं कतपुव्वं धाम्मिकं बलि नो परिहास्संति नो परिहापेस्संति।

—जब तक वे नगर या नगर से बाहर स्थित-चैत्यों (पूजा-स्थलों) का आदर एवं सम्मान करते रहेंगे और पहले दी गई धार्मिक बलि तथा पहले किए गए धार्मिक अनुष्ठानों की अवमानना न करेंगे;

7. वज्जीनं अरहंतेसु धम्मिका रक्खावरण-गुत्ति सुसंविहिता भविस्संति।

जब तक वज्जियों द्वारा अरहन्तों को रक्षा, सुरक्षा एवं समर्थन प्रदान किया जायेगा; तब तक वज्जियों का पतन नहीं होगा, अपितु उत्थान होता रहेगा।''

आनन्द को इस प्रकार बताने के बाद बुद्ध ने वस्सकार से कहा, ''मैंने ये कल्याणकारी सात धर्म वज्जियों को वैशाली में बताये थे।'' इस पर वस्सकार ने बुद्ध से कहा, 'हे गौतम! इस प्रकार मगधराज वज्जियों को युद्ध में तब तक नहीं जीत सकते, जब तक कि वह कूटनीति द्वारा उनके संगठन को न तोड़ दें।'' बुद्ध ने उत्तर दिया, ''तुम्हारा विचार ठीक है।'' इसके बाद वह मंत्री चला गया।

वस्सकार के जाने पर बुद्ध ने आनन्द से कहा-"राजगृह के निकट रहने वाले सब भिक्षुओं को इकट्ठा करो।" तब उन्होंने भिक्षु-संघ के लिए निम्नलिखित सात धर्मों का विधान किया-

1. हे भिक्षुओं! जब तक भिक्षु-गण पूर्ण रूप से निरन्तर परिषदों में मिलते रहेंगे;

2. जब तक वे संगठित होकर मिलते रहेंगे, उन्नति करते रहेंगे तथा संघ के कर्तव्यों का पालन करते रहेंगे;

3. जब तक वे किसी ऐसे विधान को स्थापित नहीं करेंगे जिसकी स्थापना पहले न हुई हो, स्थापित विधानों का उल्लंघन नहीं करेंगे तथा संघ के विध ानों का अनुसरण करेंगे।

4. जब तक वे संघ के अनुभवी गुरुओं, पिता तथा नायकों का सम्मान तथा समर्थन करते रहेंगे तथा उनके वचनों को ध्यान से सुनकर मानते रहेंगे;

5. जब तक वे उस लोभ के वशीभूत न होंगे जो उनमें उत्पन्न होकर दुःख का कारण बनता है।

6. जब तक वे संयमित जीवन में आनन्द का अनुभव करेंगे;

7. जब तक वे अपने मन को इस प्रकार संयमित करेंगे जिससे पवित्र एवं उत्तम पुरुष उनके पास आयें और आकर सुख-शान्ति प्राप्त करें;

तब तक भिक्षु-संघ का पतन नहीं होगा, उत्थान ही होगा। जब तक भिक्षुओं में ये सात धर्म विद्यमान हैं, जब तक वे इन धर्मों में भली-भाँति दीक्षित हैं, तब तक उनकी उन्नति होती रहेगी।

महापरिनिब्बान सुत्त के उपर्युक्त उद्धरण से वैशाली-गणतन्त्र की उत्तम व्यवस्था एवं अनुशासन की पुष्टि होती है। वैशाली के लिए विहित सात धर्मों को (कुछ परिवर्तित करके) बुद्ध ने अपने संघ के लिए भी अपनाया; इससे

स्पष्ट है कि 2600 वर्ष पूर्व के प्राचीन गणतन्त्रों में वैशाली गणतन्त्र श्रेष्ठ तथा योग्यतम था।

लिच्छवियों के कुछ अन्य गुणों ने उन्हें महान् बनाया। उनके जीवन में आत्म-संयम की भावना थी। वे लकड़ी के तख्त पर सोते थे, वे सदैव कर्तव्यनिष्ठ रहते थे। जब तक उनमें ये गुण रहे, अजातशत्रु उनका बाल बाँका भी न कर सका।[17]

शासन-प्रणाली :

लिच्छवियों के मुख्य अधिकारी थे-राजा, उपराजा, सेनापति तथा भाण्डागारिक। इनमें ही संभवतः मन्त्रिमंडल की रचना होती थी। केन्द्रीय संसद का अधिवेशन नगर के मध्य स्थित सन्थागार (सभा-भवन) में होता था। शासन-शक्ति संसद के 7707 सदस्यों ('राजा' नाम से युक्त) में निहित थी।[18] संभवतः इनमें से कुछ 'राजा' उग्र थे और एक दूसरे की बात नहीं सुनते थे। इसी कारण ललितविस्तर-काव्य में ऐसे राजाओं की मानो भर्त्सना की गई है-''इन वैशालिकों में उच्च, मध्य, वृद्ध एवं ज्येष्ठ जनों के सम्मान के नियम का पालन नहीं होता। प्रत्येक स्वयं को 'राजा' समझता है। 'मैं राजा हूँ! मैं राजा हूँ!' कोई किसी का अनुयायी नहीं बनता।[19] इस उद्धरण से स्पष्ट है कि कुछ महत्त्वाकांक्षी सदस्य गणराजा (अध्यक्ष) बनने के इच्छुक थे।

संसत्सदस्यों की इतनी बड़ी संख्या से कुछ विद्वानों का अनुमान है कि वैशाली की सत्ता कुछ कुलों (7707) में निहित थी और इसे केवल 'कुल-तन्त्र' कहा जा सकता है। इस मान्यता का आधार यह तथ्य है कि 7707, राजाओं का अभिषेक एक विशेषतया सुरक्षित सरोवर (पुष्करिणी) में होता था।[20] स्वर्गीय प्रो. आर.डी. भण्डारकर का निष्कर्ष था-''यह निश्चित है कि वैशाली संघ के अंगीभूत कुछ कुलों का महासंघ ही यह गणराज्य था।'' श्री जायसवाल तथा श्री अल्तेकर जैसे राजशास्त्र विद इस निष्कर्ष से सहमत नहीं हैं। श्री जायसवाल ने 'हिन्दू राजशास्त्र' (पृष्ठ 44) में लिखा है-''इस

साक्ष्य से उन्हें 'कुल शब्द से सम्बोधित करना आवश्यक नहीं। छठा-शताब्दी ई.पू. के भारतीय गणतन्त्र बहुत पहले समाज के जन-जातीय स्तर से गुजर चुके थे। ये राज्य, गण और संघ थे, यद्यपि इनमें से कुछ का आधार राष्ट्र या जनजाति था; जैसा कि प्रत्येक राज्य-प्राचीन या आधुनिक का होता है।

डॉ. ए.एस. अल्तेकर का यह उद्धरण विशेषत: द्रष्टव्य है-यह स्वीकार्य है कि यौधेय, शाक्य, मालव तथा लिच्छवि गणराज्य आज के अर्थों में लोकतन्त्र नहीं थे। अधिकांश आधुनिक विकसित लोकतन्त्रों के समान सर्वोच्च एवं सार्वभौम शक्ति समस्त वयस्क नागरिकों की संस्था में निहित नहीं थी। फिर भी इन राज्यों को हम गणराज्य कह सकते हैं।...स्पार्टा ऐथेन्स, रोम, मध्य-युगीन वेनिस, संयुक्त नीदरलैण्ड और पोलैण्ड को 'गणराज्य' कहा जाता है; यद्यपि इनमें से किसी में पूर्ण लोकतन्त्र नहीं था। इस सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि तथा ऐतिहासिक साक्ष्य के आधार पर निश्चय ही प्राचीन भारतीय गणराज्यों को उन्हीं अर्थों में गणराज्य कहा जा सकता है किजस अर्थ में यूनान तथा रोम के प्राचीन राज्यों को गणराज्य कहा जाता है। इन राज्यों में सार्वभौम सत्ता किसी एक व्यक्ति या अल्पसंख्यक वर्ग को न मिलकर बहुसंख्यक वर्ग को प्राप्त थी।''[21]

महाभारत में भी 'प्रत्येक घर में राजा' होने का वर्णन है।[22] उपर्युक्त विद्वान् के मतानुसार, ''इस वर्णन में छोटे गणराज्यों की तथा उन क्षत्रिय कुलों की चर्चा है जिन्होंने उपनिवेश स्थापित करके राजपद प्राप्त किया था। संयुक्त राज्य अमरीका में मूल उपनिवेश स्थापकों को नवागन्तुकों की अपेक्षा कुछ विशेषाधि कार प्राप्त किए।

'मलाबार गजटियर' के आधार पर श्री अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी ने 'नय्यरों के एक संघ' की ओर ध्यान आकर्षित किया है जिसमें 6000, प्रतिनिधि थे। वे केरल की संसद के समान थे।[23] बौद्ध-साहित्य से ज्ञात होता है कि राजा बिम्बिसार श्रेणिक के अस्सी हजार गामिक (ग्रामिक) थे। इसी सादृश्य पर अनुमान किया जा सकता है कि 7707, राजा विभिन्न क्षेत्रों (या निर्वाचन-क्षेत्रों)

के उसी रूप में स्वतन्त्र संचालक थे जिस प्रकार देशी रियासतों के जागीरदार राजा के आधीन होकर भी अपनी निजी पुलिस की तथा अन्य व्यवस्थाएँ करते थे।

वैदेशिक सम्बन्ध-लिच्छवियों के वैदेशिक सम्बन्धों का नियन्त्रण नौ सदस्यों की परिषद् द्वारा होता था। इनका वर्णन बौद्ध एवं जैन साहित्य में 'नव लिच्छवि' के रूप में किया गया है। अजात शत्रु के आक्रमण के मुकाबले के लिए इन्हें पड़ोसी राज्यों नवमल्ल तथा अष्टादश काशी-कौशल के साथ मिलकर महासंघ बनाना पड़ा। उन्होंने अपने संदेश भेजने के लिए दूत नियुक्त किए (वैशालिकानां लिच्छिविनां वचनेन)।

न्याय व्यवस्था

न्याय-व्यवस्था अष्टकुल सभा के हाथ में थी। श्री जायसवाल ने 'हिन्दू राजशास्त्र' (पृष्ठ 43-47) में इनकी न्याय प्रक्रिया का निम्नलिखित वर्णन किया है-"विभिन्न प्रकरणों (पवे-पट्ठकान) पर गणराजा के निर्णयों का विवरण सावधानी पूर्वक रखा जाता था जिनमें अपराधी नागरिकों के अपराध ों तथा उनके दिए गए दण्डों का विवरण अंकित होता था। विनिश्चय महामात्र (न्यायालयों) द्वारा प्रारम्भिक जाँच की जाती थी। (ये साधारण अपराधों तथा दीवानी प्रकरणों के लिए नियमित न्यायालय थे)। अपील-न्यायालयों के अध्यक्ष थे-वोहारिक (व्यवहारिक)। उच्च न्यायालय के न्यायाधीश 'सूत्रधार' कहलाते हैं। अन्तिम अपील के लिए 'अष्ट-कुलक' होते थे। इनमें से किसी भी न्यायालय द्वारा नागरिक को निरपराध घोषित करके मुक्त किया जा सकता था। यदि सभी न्यायालय किसी को अपराधी ठहराते तो मन्त्रिमण्डल का निर्णय अन्तिम होता था।

विधायिका

लिच्छवियों के संसदीय विचार-विमर्श का कोई प्रत्यक्ष प्रमाण प्राप्त नहीं होता, परन्तु विद्वानों ने चुल्लवग्ग एवं विनय-पिटक के विवरणों से इस विषय

में अनुमान लगाए हैं। जब कोसलराज ने शाक्य-राजधानी पर आक्रमण किया और उनसे आत्म समर्पण के लिए कहा तो शाक्यों द्वारा इस विषय पर मद-दान किया गया। मत-पत्र को 'छन्दस्' एवं कोरम को 'गण-पूरक' तथा आसनों के व्यवस्थापक को 'आसन-प्रज्ञापक' कहा जाता था। गण-पूरक के अभाव में अधिवेशन अनियमित समझा जाता था। विचारार्थ प्रस्ताव की प्रस्तुति को 'ज्ञप्ति' कहा जाता था। संघ से तीन-चार बार पूछा जाता था कि क्या संघ प्रस्ताव से सहमत है। संघ के मौन का अर्थ सहमति या स्वीकृति समझा जाता था। बहुमत द्वारा स्वीकृत निर्णय को 'ये भुय्यसिकम्' (बहुमत की इच्छानुसार) कहा जाता था। मतपत्रों को 'शलाका' तथा मत-पत्र-गणक को 'शलाका-ग्राहक' कहा जाता था। अप्रासंगिक तथा अनर्थक भाषणों की भी शिकायत की जाती थी।

श्री जायसवाल के मतानुसार, ''सुदूर अतीत (छठी शताब्दी ई.पू.) से गृहीत इस विचारधारा से 'एक उच्चत: विकसित अवस्था की विशेषताएँ दृष्टिगोचर होती हैं। इसमें भाषा की पारिभाषिकता एवं औपचारिकता विधि एवं संविधान की अन्तर्निहित धारणाएँ उच्च स्तर की प्रतीत होती हैं। इसमें शताब्दियों से प्राप्त पूर्व अनुभव भी सिद्ध होता है। ज्ञप्ति, प्रतिज्ञा, गण-पूरक, श्लाका, बहुमत-प्रणाली आदि शब्दों का उल्लेख, किसी प्रकार की परिभाषा के बिना किया गया है, जिससे इनका पूर्व प्रचलन सिद्ध होता है।

वैशाली-गणतन्त्र का अन्त

वैशाली-गणतन्त्र पर मगधराज अजात शत्रु का आक्रमण इस पर घातक प्रहार था। अजातशत्रु की माता चेलना वैशाली के गणराजा चेटक की पुत्री थी, तथापि साम्राज्य विस्तार की उसकी आकांक्षा ने वैशाली का अन्त कर दिया। बुद्ध से भेंट के बाद मन्त्री वस्सकार को अजातशत्रु द्वारा वैशाली में भेजा गया। वह मन्त्री वैशाली के लोगों में मिल कर रहा और उसने उसमें फूट के बीज बो दिए। व्यक्तिगत महात्त्वाकांक्षाओं तथा फूट से इतने महान् गणराज्य का विनाश हुआ। 'महाभारत' में भी गणतन्त्रों के विनाश के लिए ऐसे ही कारण बताए हैं। भीष्म पितामह ने युधिष्ठिर से कहा, 'हे राजन्! हे भरतर्षभ! गणों एवं

राजकुलों में शत्रुता की उत्पत्ति के मूल कारण हैं-लोभ एवं ईर्ष्या-द्वेष! कोई (गण या कुल) लोभ के वशीभूत होता है, तब ईर्ष्या का जन्म होता है और दोनों के मेल से पारस्परिक विनाश होता है।''

वैशाली पर आक्रमण के अनेक कारण बताए गए हैं। एक जैन कथानक के अनुसार, सेयागम (सेचानक) नामक हाथी द्वारा पहना गया 18 शृंखलाओं का हार इसका मूल कारण था। बिम्बसार ने इसे अपने एक पुत्र वेहल्ल को दिया था परन्तु अजातशत्रु इसे हड़पना चाहता था। वेहल्ल हाथी और हार के साथ अपने नाना चेटक के पास भाग गया। कुछ लोगों के अनुसार, रत्नों की एक खान ने अजातशत्रु को आक्रमण के लिए ललचाया। यह भी कहा जाता है कि मगध-साम्राज्य तथा वैशाली-गणराज्य की सीमा गंगा-तट पर चुंगी के विभाजन के प्रश्न पर झगड़ा हो गया। अस्तु, जो भी कारण हो; इतना निश्चिय है कि अजातशत्रु ने इसके लिए बहुत समय से बड़ी तैयारियाँ की थीं। सर्वप्रथम उसने गंगा-तट पर पाटलिपुत्र (आधुनिक पटना) की स्थापना की। जैन विवरणों के अनुसार, यह युद्ध सोलह वर्षो तक चला, अन्त में वैशाली गणतन्त्र मगध-साम्राज्य का अंग बन गया।

क्या वैशाली-गणराज्य के पतन के बाद लिच्छवियों का प्रभाव समाप्त हो गया? इस प्रश्न का उत्तर नकारात्मक हो सकता है परन्तु श्री सालेतोर (वही पृष्ठ 508) के अनुसार, ''बौद्ध साहित्य में इनका सबसे अधिक उल्लेख हुआ है क्योंकि इतिहास में एक हजार वर्षो से अधिक समय तक इनकी भूमिका महत्त्वपूर्ण रही।'' श्री रे चौधरी के अनुसार, ''ये नैनपाल में 7वीं शताब्दी में क्रियाशील रहे। गुप्त सम्राट समुद्रगुप्त 'लिच्छवि-दौहित्र' कहलाने में गौरव का अनुभव करते थे।''

2500 वर्ष पूर्व महावीर-निर्वाण के अनन्तर, नवमल्लों एवं लिच्छवियों ने प्रकाशोत्सव तथा दीपमालिका का आयोजन किया और तभी से शताब्दियों से जैन इस पुनीत पर्व को 'दीपावली' के रूप में मनाते हैं। कल्प-सूत्र के शब्दों में, ''जिस रात भगवान् महावीर ने मोक्ष प्रापत किया, सभी प्राणी दु:खों से

मुक्त हो गए। काशी-कौशल के अठारह संघीय राजाओं, नव मल्लों तथा नव लिच्छवियों ने चन्द्रोदय (द्वितीया) के दिन प्रकाशोत्सव आयोजित किया; क्योंकि उन्होंने कहा-'ज्ञान की ज्योति बुझ गई है, हम भौतिक संसार को आलोकित करें।

2500वें महावीर-निर्वाणोत्सव के सन्दर्भ में आधुनिक भारत वैशाली से प्रेरणा प्राप्त कर सकता है। अनेक सांस्कृतिक कार्य-कलाप वैशाली पर केन्द्रित हैं। इसी को दृष्टिगत करके राष्ट्र-कवि स्व. श्री रामधारी सिंह दिनकर ने वैशाली के प्रति श्रद्धांजलि निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत की है-

वैशाली जन का प्रतिपालक, गण का आदि विधाता।
जिसे ढूंढ़ता देश आज, उस प्रजातन्त्र की माता।।
रुको एक क्षण, पथिक! यहाँ मिट्टी को सीस नवाओ।
राज-सिद्धियों की सम्पत्ति पर, फूल चढ़ाते जाओ।।

सन्दर्भ

1. मुनि नथमल-श्रमण महावीर, पृ. 303
2. इदं पच्छिमकं आनन्द! तथागतस्स बेसालिदस्सनं भविस्यति।
3. उपाध्याय श्री मुनि विद्यानन्द-कृत 'तीर्थंकर वर्धमान' से उद्धृत-

   यं स भिक्खवे! भिक्खनं देवा तावनिसा अदिट्ठा,
   अलोकेथ भिक्खवे! लिच्छवनी परिसं, अपलोकेथ।
   भिक्खवे! लिच्छवी परिसरं! उपसंहरथ भिक्खवे।
   लिच्छवे! लिच्छवी परिसरं तावनिसा सदसन्ति।।

4. श्री काशी प्रसाद जायसवाल-'हिन्दू पोलिटी'-पृष्ठ 40. (चतुर्थ संस्करण)
5. पुरातत्व-निबन्धावली-20
6. रे चौधुरी, पोलिकटकल हिस्ट्री ऑफ ऐंशियेंट इण्डिया-कलकत्ता विश्वविद्यालय, छठा संस्करण, 1953, पृष्ठ 95।

7. काम्बोज सुराष्ट्र क्षत्रिय श्रेण्यादयो वार्ताशस्त्रोपजीविनः लिच्छिविक-वृजिक-मल्लक-कुकुर-पाञ्चालादयो राजशब्दोपजीविनः।

8. बी.ए. सालेतोर-ऐंशियेंट इण्डियन पोलिटिकल थौट एण्ड इन्स्टीट्यूशंस (1963) पृष्ठ 509.

9. बी.सी. ला-हिस्टोरिकल ज्योग्रैफी ऑफ ऐंशियेंट इण्डिया, फाइनेंस' में प्रकाशित (1954) पृष्ठ 266।

11. वही-पृष्ठ 266-67।

12. झल्लो मल्लाश्च राजन्याः व्रात्यानि लिच्छिविरेवधो नटश्च करणश्च खसो द्रविण एव च। 10।22

13. भरतसिंह उपाध्याय-वही-पृष्ठ 33।

14. री डेबिड्स (अनुवाद) बुद्ध-सुत्त (सेक्रिड-बुक्स ऑफ ईस्ट-भाग 11-मोतीलाल बनारसीदास, देहली पृष्ठ 2-3-4।

15. पालि-पाठ राधाकुमुद मुखर्जी के ग्रन्थ 'हिन्दू सभ्यता' (अनुवादक-डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल) द्वितीय संस्करण 1958-पृष्ठ 199-200 से उद्धृत। नियम संख्या मैंने दी है।

16. वही-पृष्ठ 6-7।

17. देखिए श्री भरतसिंह उपाध्याय-कृत 'बुद्धकालीन भारतीय भूगोल' (पृष्ठ 385-86) का निम्नलिखित उद्धरण (''संयुक्त निकाय पृष्ठ 308 से उद्धृत। ''भिक्षुओं! लिच्छवि लकड़ी के बने तख्ते पर सोते हैं। अप्रमत्त हो, उत्साह के साथ अपने कर्तव्य को पूरा करते हैं। मगधराज वैदेही-पुत्र अजातशत्रु उनके विरुद्ध कोई दाव-पेंच नहीं पा रहा है। भिक्षुओं! भविष्य में लिच्छवि लोग बड़े सुकुमार और कोमल हाथ-पैर वाले हो जायेंगे। वे गद्देदार बिछावन पर गुलगुले तकिए लगाकर दिन चढ़े तक सोये रहेंगे। तब मगधराज वैदेहि-पुत्र अजातशत्रु को उनके दाँव-पेंच मिल जायेगा।''

18. तस्य निच्चकालं रज्जं कारेत्वा वसंमानं येव राजन सतसहस्सानि सतसतानि तत्र च। राजानो होंति तत्त का, ये व उपराजाओं तत्तका, सेनापतिनो तत्तका, तत्तका भंडागारिका। J I.S O.4.

19. नोच्च-मध्य-वृद्ध-ज्येष्ठानुपालिता, एकैक एव मन्यते अहं राजा, अहं राजेति, न च कस्यच्छिष्यत्वमुपगच्छति।

20. वैशाली-नगरे गणराजकुलानां अभिषेकमंगलपोखरिणी-जातक 4।148

21. डॉ. ए.एस. अल्तेकर-प्राचीन भारत में राज्य एवं शासन (1958) पृष्ठ 112-113

22. गृहे-गृहे तु राजानः-महाभारत 2।15।2

23. वाजपेयी, अम्बिका प्रसाद, हिन्दू राज्यशास्त्र-पृष्ठ 104।

24. ''तेन रयो पन समयेन राजा मागधो सेनियो बिम्बसारो असीतिया नाम सहस्सेषु इस्सराधिपच्च राजं करोति।''
श्री भरतसिंह उपाध्याय द्वारा उद्धृत-वही-पृष्ठ-169

25. वही-पृष्ठ 95-96।

26. वही-पृष्ठ 106 पर उद्धृत।

निवास-बी-1/324, जनकपुरी,
नई दिल्ली-110058

●●

ववहारो भूदत्थो

- जस्टिस एम.एल. जैन

"जो सत्यारथ रूप सुनिश्चय, कारण सो व्यवहारो"

-छहढाला, ढाल तीसरी

इस लेख की पृष्ठभूमि है--श्री रूपचन्द कटारिया द्वारा सम्पादित, वीर सेवा मन्दिर के तत्त्वावधान में प्रकाशित समय पाहुड का प्रथम संस्करण, सन् 2000।

भूत सृष्टि का एक अंग है मानव! मानव में होता है ऐसा दिमाग जिसका प्रतिपल विकास, मार्जन-परिमार्जन होता आया है। यह (नाम कर्म जनित) ऐसे पुद्गलों का संघात है जिनमें सोचने की शक्ति निहित होती है जो तब तक ही काम करती है, जब और जब तक उनमें आत्म प्रदेश (जीव) बने रहते हैं। यह बात पाँच इंद्रियों से आगे की है जिसे अतींद्रिय कहते हैं और इसे ही मन भी कहते हैं और आत्म प्रदेशों के पारिमाणिक भाव भी यही हैं। इसकी एक खूबी यह है कि वह अन्य बातों के साथ यह भी जानना चाहता है कि आखिर वह स्वयं है क्या! दूसरों के मरण से इतना उसकी समझ में आया कि जीव और अजीव के संयोग से बना है, या बना रहता है जीवन। और दिमाग है उसी जीवन का एक हिस्सा। अब यह जीव है क्या चीज़। क्यों और कैसे होता है अजीव से जीव का संयोग-वियोग। जब यह वह सोचने लगा तो दिमाग़ में अलग-अलग सोच आने लगे। एक चिन्तक ने कहा कि यह सब करती है कोई जीवोत्तर शक्ति और उसे उसने नाम दिया, ईश्वर। इसलिए उस शक्ति को जानना और खुश रखना जरूरी हो गया और यदि ईश्वर ही सब कुछ करता है, तो फिर उसे कई नाम दिए गए। एक अन्य चिन्तक ने आगे सोचा कि यदि ऐसा है तो फिर इस ईश्वर का कर्ता कौन? इसका जवाब न मिलने पर आगे उसने सोचा कि ईश्वर एक कल्पना मात्र है और दर असल जीव स्वयं ही सब कुछ है। वही है मूल और जब वह अपने ही परिणामों से अजीव से सम्पर्क

करता है और ऐसे जीव अनन्त है, तो इसका नतीजा होता है संसार। आगे चिन्तन किया किया, तो पाया कि अजीव संसार अनन्त परमाणुओं से बना है जिसमें ऐसे परमाणु हैं जो दु:ख-सुख, जीवन-मरण आदि के कारण हैं, किन्तु उनको नाम दिया कर्म। अब जब मानव ने यह जान लिया तो फिर जरूरी हो गया यह पता करना कि इनसे कैसे पीछा छुड़ाया जाए तो जन्म हुआ उस चिन्तन समूह का जिसे कहते हैं दर्शन यानि जो कुछ देखा, सोचा, समझा व अनुभव किया उसका रिकार्ड। जब उस दर्शन का केन्द्र बिन्दु बना जीव तो उसे कहा गया जीवन-दर्शन और जब जीव को आत्मा नाम दिया तो जन्मा अध्यात्म दर्शन। क्यों किया यह सब इसलिए कि चिन्तक स्वयं तो समझे ही, परन्तु अपने साथियों को भी समझाए व समझाने लगा तो बना शास्त्र और धीरे-धीरे उसका इतना अम्बार लगा कि जरूरी हो गया उसका वर्गीकरण-एक वर्ग का नाम रखा "प्राभृत" परन्तु इस सब को जानना सबके बस की बात नहीं तो कोशिश हुई उसका भी सार अंश ढूंढ़ने की और यों सामने आया अध्यात्म का सार और उसे नाम मिला समयसार! कुन्दकुन्द ने जो समयसार (समय प्राभृत) लिखा। उस समयसार का सार यह है कि आत्मा एक शुद्ध द्रव्य है जो केवल ज्ञाता है। कर्ता नहीं भोक्ता नहीं, दृष्टा भी नहीं। अध्यात्मोपरिनषद् भी यही कहता है-

अकर्ताऽहमभोक्ताऽहमविकारोऽहमव्ययी।
शुद्धबुद्धस्वरूपोऽहम् केवलोऽहम्. सदाशिवः॥
रचानुभूत्या स्वयं ज्ञात्वा स्वमात्मानं खण्डितम्।
स सिद्धः सुसुखं तिष्ठन् निर्विकल्पात्मनाऽऽत्मनि॥

मैं कर्त्ता नहीं हूँ, मैं भोक्ता नहीं हूँ, मैं विकार रहित हूँ, मैं अव्यय हूँ, मैं शुद्ध बुद्ध स्वरूप हूँ, मैं केवली सदा शिव हूँ। जो अपने अनुभव से स्वयं ही अपनी आत्मा को अखण्डित जानकर निर्विकार आत्मा द्वारा आत्मा में स्थित हो, वह सुखी व सिद्ध है। यह सब बस अनुभव की वस्तु है। इसे शब्दों में वर्णन करना अत्यन्त कठिन काम है, परन्तु परस्पर सम्प्रेषण के लिए यह जरूरी है कुछ संकेतों का, कुछ ध्वनियों का प्रयोग हो जिनको कहते हैं अक्षर, शब्द। इन शब्दों का समूह है पद और पदों से बनती है भाषा और भाषा द्वारा

शब्दातीत का वर्णन करना ही व्यवहार है। सारा वाङ्मय व्यवहार ही है। जब एकान्त का हठ न हो तो यही अनेकान्त है और अनेकान्त का ही नाम है सम्यक् ज्ञान। अनुभव यह हुआ कि आत्मा तो अनन्त धर्मा है तो फिर उसे पहचानने के भी अनन्त तरीके होंगे ही। इन्हीं को दार्शनिक परिभाषा में नय कहा जाता है। इसी कारण जिनवाणी विविध नय कल्लोल विमला है। समन्तभद्र का कहना है-

अनेकान्तोऽप्यनेकान्तः प्रामण नय साधनः।
अनेकान्तः प्रमाणात्ते तदेकान्तोऽर्पितान्नयात्॥

प्रमाण से अनेकान्त की और अर्पितनय से एकान्त की सिद्धि होती है। प्रमाण व नय से सिद्ध होने के कारण ही जैन दर्शन का अनेकान्त (असली) अनेकान्त है।

कुन्दकुन्द ने कोई नई खोज नहीं की है। श्रुतकेवलियों ने अपने पूर्ववर्ती चिन्तकों के जो अनुभव सुने थे, पढ़े थे और अपने स्वयं के जो अनुभव हुए थे उन्हीं को कुन्दकुन्द ने हमारे हितार्थ लिखा है, परम्परा और अपना अनुभव दोनों। परन्तु उनने इस सारे दर्शन को व्यवहार नय और निश्चय नय के ज़र्ये व्याख्यायित किया। इसका नतीजा यह हुआ कि बाद के आचार्यो और पंडितों में एक विवाद पैदा हो गया इस बात पर कि कौन सा नय सही है और उपादेय है। उस विवाद में असली तत्त्व आत्मा को जैसे सब भूल गए। इसको साफ करने के लिए कहा गया कि-

जावदिया वयणविहा तावदिया होंतिणयवादा
जावदिया णयवादा तावदिया होंति पर समये। -सम्मइ सुत्त 3/47
पर समयं वयणं मिच्छे खलु होंदि सव्वहा वयणा
जइणाणं पुण वयणं सम्मं दु कहंचि वयणादो। गो.क. 894/895

जितने वचन हैं उतने ही नय हैं, जितने नय हैं उतने ही पर समय हैं। यदि जो एक नय को सर्वथा माने, तो वचन पर समय मिथ्या होता है और यदि कथंचिद् माना जाए, तो सम्यक् होता है। अमृतचन्द्र ने प्रवचन सार की टीका में अनेक नयों में से जो अक्सर काम में, व्यवहार में आते हैं उनमें से 47

गिनाकर उनको प्रमुख माना है। उनके सामने समस्या आई कि क्या ये सब नय पर-समय हैं और क्या वास्तव में वे मिथ्या हैं। यदि नयों को मिथ्या कहते हैं तो जिनवाणी ही मिथ्या हो जाती है-अतः उन्होंने कहा कि नहीं, ऐसी बात नहीं है क्योंकि-

उभयनय विरोध ध्वंसिनी स्यात् पदांके
जिनवचसि रम्यते ये स्वयं वान्तमोहाः।
सपदि समयसारं ते परंज्योतिरुच्चै-
रनवमनयपक्षाक्षुण्णमीक्षंतएव

जो वान्त मोह उस जिनवाणी में प्रीतिपूर्वक अभ्यास करते हैं जो निश्चय और व्यवहार के भेद को ध्वस्त करने के लिए स्यात् पद से अंकित है, वे उस परंज्योति अनव, अनयपक्ष, अक्षुण्ण आत्मतत्व को शीघ्र ही देख लेते हैं।

कुन्दकुन्द ने भी कहा ही है कि लोगों को आत्मा का स्वरूप समझाने के लिए व्यवहार की भाषा का प्रयोग कर रहा हूँ। परन्तु इसका अर्थ क्या यह होता है कि व्यवहार के द्वारा प्रगट किए विचार सही नहीं हैं या कि स्वयं कुन्दकुन्द ऐसा सोचते थे कि व्यवहार असत्यार्थ है? इस भ्रम को दूर करने के लिए कुन्दकुन्द ने तो कहा कि-

तह ववहारेण विणा परमत्थुवदेसणमसक्कं

व्यवहार के बिना परमार्थ का उपदेश देना अशक्य है।

किन्तु जान पड़ता है कि फिर भी कोई भ्रांतियां पैदा न हों, इसलिए उन्होंने साफ घोषणा की कि-

ववहारो भूदत्थो भूदत्थो देसिदो दु सुद्धणओ?
भूदत्थमस्सिदो खलु सम्मादिट्ठी हवदि जीवो
सुद्धो सुद्धादेसो णादव्वो परमभाव दरसीहिं
ववहार देसिदो पुण जे दु अपरमे ट्ठिदा भावे

इन गाथाओं का सीधा अर्थ है कि व्यवहार भूतार्थ है और जो भूतार्थ है वह शुद्ध नय ी है और जो भूतार्थ का सहारा लेता है वह जीव निश्चय ही

सम्यक् दृष्टि होता है। जिनका लक्ष्य परम (सिद्ध) भाव है उनके लिए शुद्ध केवल शुद्ध का ही आदेश है। यानि जो परमभाव में स्थित है उसे किसी उपदेश की जरूरत नहीं। शेष के लिए (याने जो परमभाव में स्थित नहीं है उनके लिए) उपदेश व्यवहार से ही दिया जाता है। मगर यहीं से विवाद का प्रारंभ होता है। कुछ मनीषी यह कहते हैं कि इस गाथा में शब्द दर असल अभूतार्थ है और कुछ तो प्राकृत के नियमों की अवहेलना करके गाथा में ही अकार के पूर्व लोप का निशान ऽ बनाते हैं। परन्तु यह सुधार, यह मन्तव्य सही नहीं है। इसका कोई आधार नहीं है। फिर भी टीकाकारों ने भूदत्थो को अभूदत्थो यानि व्यवहार अभूतार्थ है यह पढ़कर बड़े-बड़े व्याख्यान किए हैं।

कुन्दकुन्द ने फिर आगे जीवाधिकार (ज्ञानसागर और कटारिया संस्करण) में कहा कि **णिच्छयदो ववहारो पोग्गल कम्माण कत्तारो,** यानि असल में व्यवहार में आत्मा को पुद्गल कर्मो का कर्ता कहा जाता है। यदि यह व्यवहार वचन असत्यार्थ है तो फिर क्या कर्म ही अपनी मर्जी से आते जाते रहते हैं। यदि ऐसा होता तो कुन्दकुन्द कर्मबंध और निर्जरा आदि का इतना बड़ा व्याख्यान समयसार की ही लगभग चार सौ से अधिक गाथाओं में क्यों करते? क्यों करते कोई तपस्या? केवल ध्यान लगाकर ही जीव को देह से, कर्मो से मुक्त कर लेते। यह व्यवहार नय ही तो है कि जब हम कहते हैं कि जीव व देह एक दिखाई देते हैं पर असल में जीव और देह कदापि एक नहीं हैं, अलग अलग हैं, यथा-

ववहारणयो भासदि जीवो देहो य हवदि इक्को
ण दु णिच्छयस्स जीवो देहो य कदावि एकट्ठो

यह बात बिलकुल सही है परन्तु आगे सवाल उठते हैं कि फिर क्या किया जाए कि आइंदा यह देह धारण न करना पड़े।

इसलिए साफ-साफ आगे कहते हैं-

ववहारस्स दरीसणमुवदे सो <u>वण्णिदो जिणवरेहिं।</u>
एदे जीवा सव्वे अज्झवसाणादओ भावा।।

राया खु णिग्गदो त्ति य एसो बलसमुदयस्स आदेसो।
ववहारेण दु उच्चदि तत्थेक्को णिग्गदो राया।।
एमेव य ववहारो अज्झवसाणादि अण्णभावाणं।
जीवोत्ति कदो सुत्ते तत्थेक्को णिच्छिदो जीवो।।

जिनवर स्वयं व सूत्र भी (सूत्र का प्रयोग श्वेताम्बर आगम साहित्य में अधिक होता है) जो उपदेश देते हैं वह व्यवहार दर्शन है वर्ना अध्यवसानादि भावों को लिए यह कैसे कहते कि ये जीव ही हैं। यद्यपि दरअसल जीव तो एक है परन्तु अध्यवसानादि परभावों को जीव कहना यह व्यवहार की भाषा है, वैसे ही जैसे फौज को निकलते देखकर यह कहा जाए कि राजा ही जा रहा है, यानि सारी फौज को ही राजा कह देना या यदि कोई पथिक मार्ग पर लूट लिया जाए, तो कहना कि मार्ग लुट गया है अथवा युद्ध तो जीता योद्धाओं ने पर यह कहना कि राजा ने युद्ध जीता या यथा राजा तथा प्रजा के अनुसार यों कहना ही राजा प्रजा में अच्छाई बुराई पैदा करता है। यह सब व्यवहार की, बोलचाल की, मुहावरे की भाषा है। इसी प्रकार जीव के लिए यह कहना कि वह पर्याप्त है, अपर्याप्त है, सूक्ष्म है, बादर है, यह व्यवहार की (अनेकान्त की) भाषा है यद्यपि यह सब देह के लिए कहा गया है परन्तु प्रकारान्तर से जीव के लिए ही कहा गया है-

पज्जा पज्जता जे सुहुमा बादरा य जे जीवा देहस्स जीव सण्णा सुत्ते ववहारदो उत्ता।

आगे जो यह कहा कि-

ववहारेण दु आदा करेदि घट पट रथादि दव्वाणि।
करणाणि य कम्माणि य णोकम्माणीह विविहाणि।।

व्यवहार में तो ऐसा देखा ही जाता है कि आत्मा (मानव) घट पट रथ आदि द्रव्यों को बनाता है (यहाँ द्रव्यों से मतलब पारिभाषिक द्रव्यों से नहीं है बल्कि केवल पर्यायों से, वस्तुओं से है) वैसे ही आत्मा, विविध इन्द्रियों, ज्ञानावरणादि कर्मों और नो कर्म का कर्ता है, यह कथन व्यवहार का कथन है, परन्तु यह भी तो स्वयं जिनवर के ही वचन हैं-

तह जीवे कम्माणं नोकम्माणं च पस्सिदुवण्णं।
जीवस्स एसवण्णो <u>जिणेहि ववहारदा उत्तो</u>।।

अब जब जिनवर स्वयं व्यवहार का प्रयोग कर रहे हैं तो फिर भी क्या उसे अभूतार्थ याने असत्यार्थ कहा जाएगा? इतना होते हुए भी और गाथा में '**अभूदत्थो**' शब्द का प्रयोग न होते हुए भी अमृतचन्द्र ने इसे अभूतार्थ पढ़ा, फिर भी उन्होंने इसे असत्य ऐसा नहीं कहा; अविद्यमान, अभूत ऐसा कहा किन्तु जयसेन ने अभूतार्थ का अर्थ असत्यार्थ किया जो गलत है। यदि इनकी बात मान लें तो यह स्वीकार करना होगा कि न कोई कुन्दकुन्द हुए न लिखा गया कोई समयसार, क्या कुन्दकुन्द कृत समयसार भी असत्य वचन है क्योंकि शुद्ध आत्मा का न कोई नाम है न वह कोई ग्रंथ ही रचती है। दरअसल भूतार्थ का मतलब है भूत अर्थात् पदार्थों में रहने वाला जो अर्थ अर्थात् भाव है उसे जो प्रकाशित करता है उसे भूतार्थ कहते हैं। भूत यानी प्राणी के अर्थ याने हित में है। इसके विपरीत पदार्थ में जो अर्थ न हो उसे प्रकाशित करना अभूतार्थ है। लगता है जयसेन स्वयं भी अमृतचन्द्र के अर्थ से पूरी तरह आश्वस्त नहीं थे। इसलिए उनने विवादाधीन गाथा का एक अर्थ यह भी किया कि दोनों ही नय दो दो प्रकार के हैं; **<u>व्यवहार भूतार्थ</u>** और अभूतार्थ दोनों ही हैं तथा निश्चय भी शुद्ध निश्चय नय और अशुद्ध निश्चय दो प्रकार का है। स्वय अमृतचन्द्र भी अपनी पहली व्याख्या से संतुष्ट नहीं थे, इसलिए उन्होंने कहा कि '**केषांचित् कदाचित् सोऽपि प्रयोजनवान्**' अर्थात् किसी के लिए कभी व्यवहार नय भी प्रयोजनवान है। उन्होंने एक कलश (नं. 5) भी इस प्रकार कहा है -

व्यवहारनयः स्याद्यद्यपि प्राक् पदव्यामिह-
निहित पदानां हन्त हस्तावलम्बः।
तदापि परमर्थ चिच्चमत्कार मात्रं
परविरहितमन्तः पश्यतो नैव किंचिद्।।

यद्यपि प्रथम पदवी में पैर रखने वालों के लिए व्यवहार नय हस्तावलम्ब रूप है, फिर भी जो पुरुष परद्रव्य के भावों से रहित चैतन्य चमत्कार मात्र परम

अर्थ को अन्तरंग में देखते हैं उनके लिए व्यवहारनय कुछ भी प्रयोजन नहीं रखता।

जयचन्द जी का विचार है कि "यदि कोई व्यवहारनय को सर्वथा असत्यार्थ जान कर छोड़ दे तो शुभोपयोग व्यवहार को छोड़ दे और चूंकि शुद्धोपयोग की साक्षात् प्राप्ति प्राप्ति नहीं हुई इसलिए उल्टा अशुभयोग में ही आकर भ्रष्ट हुआ यथा कथंचिद् स्वेच्छा रूप प्रवृत्ति करेगा तब नरकादि कर परम्परा से निगोद को प्राप्त होकर संसार में ही भ्रमण करेगा।"

ज्ञानसागर जी ने समयसार की टीका में व्यवहार को असत्यार्थ तो कहा परन्तु इस तरमीम के साथ कि यहाँ असत्यार्थ का अर्थ ईषत् सत्य लेना. चाहिए। उन्होंने यह भी बतलाया कि भूत का एक अर्थ 'सम' भी होता है। अत: भूत का अर्थ सामान्य धर्म को बताने वाला होता है और फिर व्यवहार अभूतार्थ का अर्थ होगा व्यवहार पर्यायार्थिक नय याने विशेषता को बताने वाला।

क्या अमृतचन्द्र, क्या जयसेन, क्या ज्ञानसागर और क्या अन्यों ने जो सर्वोच्च कोटि के दार्शनिक थे फिर भी सीधे-सीधे यह क्यों नही कहा कि दोनों ही नय भूतार्थ हैं। मुझे लगता है कि किसी समय किसी लिपिकार ने अपनी अकल लगाकर-"ववहारो भूदत्थो" को "ववहारो ऽ भूदत्थो" लिख दिया। संस्कृत छायाकारों ने इसे ही सही माना और परवर्ती विद्वान भी यह साबित करने की कोशिश में लगे रहे कि व्यवहार नय सिक्का तो है, मगर खोटा। कटारिया संस्करण ने परम्परा पर पुनर्चिन्तन की आवश्यकता जताई है। आशा करनी चाहिए कि वर्तमान श्रुतज्ञ विद्वान् इस विषय पर व्यापक रूप से गौर करेंगे और श्रुत के उपासकों का सही मार्ग दर्शन करेंगे।

एक रोचक बात यह भी दिखाई पड़ती है कि सीधी सादी बात का आगम के जानकार लोग किस प्रकार विभिन्न अर्थ करते हैं। एक गाथा है-

मोत्तूण णिच्छयट्ठ ववहारे ण विदुसा पवट्ठंति।
परमट्ठ मस्सिदाणं दु जदीण कम्मक्खओ होदि॥

कुन्दकुन्द भारती (1994)-निश्चयनय के विषय को छोड़कर विद्वान् व्यवहार के द्वारा प्रवृत्ति करते हैं किन्तु (शुद्धात्मभूत) परमार्थ के आश्रित यतियों के ही कर्मो का क्षय होता है। (याने कि विद्वान् लोग सही नही हैं)।

रूपचन्द कटारिया-विद्वान् लोग निश्चयार्थ को छोड़कर व्यवहार में प्रवर्तन नहीं करते हैं क्योंकि परमार्थ के आश्रित यतियों के ही कर्म क्षय होता है। ववहारेण को ववहारे ण ऐसे पढ़ा है।

ज्ञानसागरजी-ने अर्थ किया है कि निश्चय नय को छोड़कर वही लोग व्यवहार में प्रवृत्ति करते हैं जो प्रमादी हैं क्योंकि कर्म का क्षय तो उन्हीं यतीश्वरों के होता है जो परमार्थ भूत स्वरूप में तल्लीन होते हैं। परन्तु ज्ञानसागर जी ने विशेषार्थ में स्पष्ट किया कि आगम शैली कहती है कि व्यवहार में प्रवृत्ति किए बिना निश्चय को प्राप्त नहीं किया जा सकता। ज्ञानसागर जी ने दोनों तरह से अर्थ किया है। एक को अध्यात्म शैली व दूसरे को आगम शैली से कहना बताया है। दरअसल व्यवहार और निश्चयनय दोनों ही अध्यात्म के रास्ते हैं। केवल कहने की शैली अलग-अलग है। मेरे ख्याल में कोई नय असत्य नहीं हो सकता। जो असत्य है वह नय ही नहीं है। इस बात का समर्थन सन्मति तर्क प्रकरण की गाथा 1/28 से भी होता है कि-

णियय वयणिज्ज सच्चा सव्वणया परवियालणे मोहा।
ते उण ण दिट्ठसमओ विहयइ सच्चे अलीए वा।।

वे सभी नय अपने अपने विषय के कथन करने में समीचीन हैं पर जब वे दूसरे नयों का निराकरण करने लगते हैं तब वे मिथ्या हो जाते हैं (अनेकान्त रूप) समय के ज्ञाता यह भेद नहीं करते कि यह नय सच्चा है और यह नय झूठा है अलीक है।

अत: इस गाथा का सही अर्थ है कि जो निश्चयनय को छोड़कर व्यवहार में प्रवृत्त करते हैं वे समझदार तो हैं किन्तु जिनको कर्म क्षय इष्ट हैं उन्हें आत्मा का आश्रय लेना ही होगा। इस प्रकार एक गाथा और है-

एवं ववहार णओ पडिसिद्धो जाण णिच्छयणयेण।

णिच्छयणयासिदा पुण मुणिणो पावंति णिव्वाणं।।

कुन्दकुन्दभारती-व्यवहारनय निश्चय के द्वारा प्रतिषिद्ध है, वे मुनि ही निर्वाण प्राप्त करते हैं जो निश्चय नय के आश्रित हैं।

रूपचन्द कटारिया-निश्चय नय में व्यवहार नय का प्रतिषेध नहीं है। निश्चय नय में स्थित मुनि निर्वाण को प्राप्त करते हैं।

जयसेन-व्यवहार नय निश्चय नय का साधक है इसलिए प्रारम्भ में प्रयोजनवान् है ही। मेरे विचार में जो साधक है वह वर्जित नहीं हो सकता। इसलिए कटारिया जी का अन्वयार्थ सही जान पड़ता है। जय धवला 1/7 में तो कहा ही है कि-**ण च ववहार णओ चप्पलओ** अर्थात् व्यवहार नय झूठा नहीं होता। किसी मनीषी ने यह सही कहा है कि सुवर्ण पाषाण की मानिंद पहले व्यवहार की प्राप्ति के पश्चाद् ही सुवर्ण की भांति निश्चय को प्राप्त किया जा सकता है।

कुछ समय पहले मैंने **अनेकान्त** में ही एक लेख में कहा था कि यदि व्यवहार को अभूतार्थ भी मानें तो इसका अर्थ असत्य नहीं, आंशिक सत्य होगा। यही मन्तव्य ज्ञानसागरजी का भी रहा है, परन्तु अब पुनर्विचार करने पर यह मत बनता है कि व्यवहार भूतार्थ है और इसलिए व्यवहार भी सत्यार्थ है, शुद्ध है। कटारिया संस्करण लगता है ठीक ही कहता है। मेरे ख्याल में शायद इसीलिए अमृतचन्द्र ने शुद्धनय और निश्चय नय की अलग-अलग व्याख्या की है-

निश्चयनय

निश्चय नये न केवल बध्य मानमुच्यमान
बंधमोक्षो चित स्निग्ध रुक्षत्व गुण
परिणत परमाणु वद् बन्धमोक्षयोर द्वैतानुवर्ति

निश्चय नय कर आत्मा पर द्रव्य से बंधमोक्षावस्था की दुविधा को नहीं धारण करता, केवल अपने ही परिणाम से बंध मोक्ष अवस्था को धरता है, जैसे अकेला परमाणु बंध मोक्ष अवस्था के योग्य अपने स्निग्ध, रुक्ष, गुण परिणाम

को धरता हुआ बंध मोक्ष अवस्था को धारण करता है (बंध मोक्ष तो दरअसल कर्म परमाणुओं का होता है)।

शुद्धनय–

शुद्धनयेन केवल मृण्मात्रवन्निरुपाधि स्वभावम्

शुद्ध नय कर उपाधि रहित स्वभाव केवल ऐसे हैं जैसे मृत्तिका होती है। नयों का उपसंहार करते हुए अमृतचन्द्र लिखते हैं–"यह आत्मा नय और प्रमाण से जाना जाता है जैसे एक समुद्र जब जुदी-जुदी नदियों के जल से सिद्ध किया जाए तब गंगा-यमुना आदि के सफेद नीलादि जलों के भेद से एक-एक स्वभाव को धरता है, उसी प्रकार यह आत्मा नयों की अपेक्षा एक-एक स्वरूप को धारण करता है और जैसे वही समुद्र अनेक नदियों के जलों से एक ही है, भेद नहीं, अनेकान्त रूप एक वस्तु है. (न नदियां अभूत हैं न समुद्र) उसी प्रकार यह आत्मा प्रमाण की विवक्षा से अनंत स्वभाव मय एक द्रव्य है। इस प्रकार एक अनेक नय प्रमाण से सिद्धि होती है, नयों से एक स्वरूप दिखलाया जाता है, प्रमाण से अनेक स्वरूप दिखलाए जाते हैं। इस प्रकार स्यात् पद की शोभा से गर्भित नयों के स्वरूप से अनेकान्त रूप प्रमाण से अनंत धर्म संयुक्त शुद्ध चिन्मात्र वस्तु का जो पुरुष निश्चय सिद्धान्त करते हैं वे साक्षात् आत्मस्वरूप के अनुभवी होते हैं।" (प्रवचनसार टीका)

इतना होते हुए भी अमृतचन्द्र ने आत्मख्याति में व्यवहार को जो अभूतार्थ (असत्यार्थ) कहा है-इसकी एक वजह यह लगती है कि व्यवहार को अभूतार्थ कहने के बाद प्रवचनसार की टीका में उनने विषय को और सोचा व इस खूबी से स्पष्ट किया है कि जिससे लगता है कि वे एक सतत अध्ययनरत ऋषि थे, एकान्त के हठ से हटकर, अनेकान्तवादी, टीकाकार व लेखक थे। पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय (गा. 225) के अंत में बड़े ही मनोहारी तरीके से उनने अनेकान्त (व्यवहार व निश्चय के समन्वय) को यों हृदयंगम कराया है-

एकेनाकर्षयन्ती श्लथयन्ती वस्तुतत्त्वमितरेण।
अंतेन जयति जैनी नीतिर्मन्थाननेत्रमिव गोपी।।

जैसे गोपी (दधि) मंथन की रस्सी को एक ओर से खींचती है व दूसरी ओर से ढीला छोड़ती है वैसे ही जैनी नीति (अनेकान्त) का (विचार) मंथन है और यही वजह है कि अन्त में जीत उसी की होती है।

आचार्य महाप्रज्ञ का निष्कर्ष है कि "महावीर ने निश्चय और व्यवहार नय की यात्रा में बाहरी दर्शन और अन्त दर्शन की जटिल समस्या का समाधान किया-कुन्दकुन्द ने भी निश्चय और व्यवहार नय के आधार पर इस समस्या का समाधान किया। एक प्रसिद्ध गाथा है निर्युक्त साहित्य में जिसे अमृतचन्द्र ने समयसार की टीका में भी उद्धृत किया है :-

जइ जिणमय पवज्जह मा ववहार णिच्छयं मुयह।
ववहारस्स उच्छेये तित्थुच्छेवो हवई वस्सं।।

यदि जिनमार्ग पर चलना चाहते हो तो व्यवहार और निश्चय दोनों में से किसी को मत छोड़ो। व्यवहार का उच्छेद होने पर तीर्थ का उच्छेद हो जाएगा-व्यवहार और निश्चय ये दो आँखें हैं। दोनों से देखना ही पूर्ण देखना है। "आचार्य कुन्दकुन्द ने निश्चय की बात बहुत कही, अध्यात्म को समझने पर बहुत बल दिया परन्तु निश्चय के साथ-साथ व्यवहार को भी बराबर निभाया। उन्होंने व्यवहार को छोड़ा नहीं। निश्चय की आँख है सच्चाई को जानने के लिए और व्यवहार को आँख है जीवन की यात्रा को चलाने के लिए। जीवन की यात्रा को छोड़कर व्यवहार को छोड़कर सच्चाई को पाने की बात आकाशीय उड़ान है। जीवन ही नहीं तो सच्चाई मिलेगी कैसे? दोनों बाते साथ-साथ चलती हैं।" आचार्य महाप्रज्ञ का तो यह भी मंतव्य है कि "बहुत विद्वानों ने आचार्य कुन्दकुन्द को निश्चय नय की सीमा में आबद्ध करने का प्रयत्न किया हैं। उनका दृष्टिकोण अनेकान्त की सीमा का अतिक्रमण करता है। आचार्य कुन्दकुन्द ने निश्चय और व्यवहार दोनों नयों को अपनी-अपनी सीमा में अवकाश दिया है। केवल सूक्ष्म पर्याय ही सत्य नहीं है, स्थूल पर्याय भी सत्य है। क्या सत्य के एक पहलू को नकार कर असत्य को निमंत्रण नहीं दिया जा रहा। इस विषय पर विमर्श आवश्यक है।" तो फिर भला कैसे कहा जाए कि व्यवहार भूतार्थ नहीं है, सत्यार्थ नहीं हैं, भूत (प्राणी) के अर्थ (हित) में नहीं है। कटारिया ठीक ही कते हैं कि व्यवहार भी भूतार्थ है,

सत्यार्थ है, भूत (प्राणी) के हित में हैं। मेरा विनम्र विचार तो इससे कुछ थोड़ा सा आगे है-व्यवहार भूतार्थ है और इस कारण वह भी शुद्ध ही है।

इसके अलावा कुन्दकुन्द एक आचार्य हैं और उनका समय प्राभृत दरअसल व्यवहार से निश्चय की यात्रा कराना चाहता है। हालांकि वे हम से असंख्य गुणा अधिक आत्मान्वेषी मनीषी विद्वान थे फिर भी हमें समझाने में मानव सम्भव भाषाजन्य चूक कर सकते थे। स्वयं उन्हें इस बात का अहसास था। हमें भी छल रहित होकर भूलचूक का सुधार कर उन्हें समझना चाहिए। उन्होंने क्या लिखा या कहा उसमें सदियों में लिपिकारों व टीकाकारों ने कहीं चूक की ही न हो, ऐसा समझना दिमाग की खिड़कियों पर ताला डालना है-शुद्ध वायु से वंचित होना है। सतत चिंतन को अवरुद्ध करना है।

आत्मानुभूमि का व्यवहार की भाषा में वर्णन का एक अच्छा उदाहरण देना चाहता हूँ। ममल पाहुड़ की सोलह गाथाओं के "संसर्ग फूलना" (73) में आत्मदर्शी सन्त तारण स्वामी जो कहते हैं, जरा उसका एक अंश सुनिए -

परम परम जिनं परं सु समयं पर्म सिवं सासुतं
परम परम पदं पदर्थ ममलं अर्थ ति अर्थ समं
कमल कमल सुभाव विदंति सु समयं अचष्यं अचष्ये बुधैः
अचष्ये केवल दर्स दिस्टि ममलं न्यानं च चरनं समं
बारम्बार वियारनं सु समयं, पूजं च पूर्व धुवं
पिच्छं सुद्ध न्यान दिस्टि ममलं तारन तु तरनं सुयं

स्व समय परमोत्तम जिन है, वह शिव है, शाश्वत है। उसका अर्थ समभाव है और वह परम पद परम निर्मल है। कमल के समान उसका प्रफुल्लित स्वभाव है। वह समय (आत्मा) स्वयं को जानता है। वह इन्द्रियातीत है किन्तु बुधजन द्वारा देखा गया है। वे केवल दर्शन है, बाधा रहित निर्मल दृष्टि है। वह ज्ञान है, वह चरित्र है और सम्यक् है। वह शुद्ध समय बार-बार विचारने के लायक है, वह पूज्य है, ध्रुव अवस्था में पूजनीय है। पीछे शुद्ध ज्ञान दृष्टि से उस निर्मल आत्मा का अनुभव होता है। वह स्वयं ही तारन तरन है। आत्मा अपने आप सूर्य समान प्रकाशित है, शुद्धात्मा परमात्मा है, ज्ञान-ज्ञान में ही शुद्ध निर्मल रूप आनन्द मग्न है। मुक्ति पथ में स्थित है।

आत्मा का यथार्थ (भूतार्थ) ज्ञान होना ही तो मुश्किल काम है।

धन कन राजसुख सबहिं सुलभ कर जान।
दुर्लभ है संसार में एक जथारथ ज्ञान।।

तारण स्वामी की पदावली में अनुभव मानों हिलोरे ले रहा है, छलक रहा है। समयसार में न्याय और तर्क शास्त्र का आधिक्य है और टीकाओं में तो इनका बाहुल्य है। बड़ा मुश्किल काम है आनंद सागर की अनन्तता को शब्दों में भर लेना।

अब कुछ विशिष्ट बातें-

1. कटारिया संस्करण में अन्य संस्करणों के मुकाबले करीब 40 गाथाएं अधिक हैं-उनका आधार ताड़पत्र है। इस कारण पहली जरूरत तो यह है कि गाथाएं व्यवस्थित हों, भाषा में एक रूपता हो तथा अधिकारों के शीर्षक सही हों।

2. कुन्दकुन्द का यह उपदेश तो हितकारी है कि आत्मा का स्वरूप, असली रूप तो (सिद्ध आत्माओं की तरह मुक्त) कर्म रहित शुद्ध रूप है। उसे वे निश्चय नय से हासिल की गई जानकारी बतलाते हैं। यह जिनवर वर्णित है।

3. साथ ही वे यह भी तो जानते थे कि उनका स्वयं का आत्मा और तमाम सिद्धेतर आत्माएं कर्मो से बंधी हुई हैं और कर्मों से छुटकारा पाना और उसके लिए उपाय करना भी जरूरी है। इसको इन उपायों की वे व्यवहार नय से हासिल की गई जानकारी बतलाते हैं और यह भी जिनवर वर्णित है।

4. व्यवहार व निश्चय नय दोनों ही सही हैं, भूतार्थ हैं और अध्यात्म की, मुक्ति की आवश्यकताएं हैं, सच्चाईयां हैं। यदि आत्मा को केन्द्र न बनाया जाए, यदि आत्मा पर विश्वास न हो, तो ध्यान, तपस्या के सारे उपक्रम, सारे व्यापार, सारे व्यवहार बेमानी हैं, दिगम्बर या श्वेताम्बर साधु या गृहस्थ वेष सब वृथा हो जाते हैं।

5. यहाँ पर एक यह सावधानी बरतने की जरूरत है कि खाली आत्मा के ध्यान से ही कर्म क्षय होने वाला नहीं है। आत्मध्यान व व्रत याने निश्चय और व्यवहार, व्रतादि चारित्र दोनों का सामंजस्य जरूरी है। यदि यह सावधानी न बरती गई तो लगेगा कि समयसार वह ग्रन्थ है जो कहीं कुछ, कही कुछ कहता है। अगर 'नय' शब्द का मोह छोड़ दें तो बात सीधी है निश्चय लक्ष्य है, व्यवहार मार्ग है।

6. ऐसा भी प्रतीत होता है कि कुन्दकुन्द कृत ग्रन्थों के अलावा अन्य ग्रंथों में व्यवहार नय का तो जिकर है परन्तु निश्चय नय का नहीं है। इसी प्रकार मूलाचार में तो केवल नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव ये छह प्रकार का प्रतिक्रमण बताया है। ममयसार में आठ प्रकार के जो प्रतिक्रमण बताएं हैं वे आवश्यक निर्युक्ति में भी पाए जाते हैं।

मुझे यदि इजाजत हो तो मैं कहूँगा कि निश्चय मार्ग से मतलब Theory (मूल सिद्धान्त) से है और व्यवहार मार्ग से मतलब Practice (चारित्र) से है। दोनों ही अपनी-अपनी जगह भूतार्थ हैं। यह न भूलना चाहिए कि जिस वस्तु को आत्मा कहते हैं उसको यह नाम हमने अपनी भाषा में याने व्यवहार में ही दिया है। शायद "आत्मा" का इस बात पर ध्यान भी न हो कि उसे कुछ लोग आत्मा, कुछ Soul, कुछ रूह बोलते हें। इसी प्रकार 'निश्चय नय' यह नाम भी भाषा ही का व्यवहार तो है। यदि यह (समय) सारे हृदयंगम कर लें तो निश्चय व्यवहार का विवाद ही नहीं रहता। विवाद भी व्यवहार का ही है। भूतार्थ, अभूतार्थ ये शब्द भी व्यवहार के ही हैं। यदि व्यवहार को भूतार्थ न माना तो सारे आचार शास्त्र असत्य की कोटि में आ जाएंगे। दरअसल शास्त्र कुछ नहीं जानता है-

सत्थं णाणं ण हवदि जम्हा सत्थं ण याणदे किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं सत्थं जिणाविंति।।

निश्चय नय से ही सही क्या हम कह सकते हैं कि समयसार कुछ नहीं जानता और समयसार के वचन ज्ञान नहीं है। जिनवर कहते हैं कि शास्त्र अलग चीज है, ज्ञान अलग!!

अन्त में मैं सविनय श्रीमद् राजचन्द्र के इन उद्गारों के स्वर से स्वर मिलाना चाहता हूँ-"हे, कुन्दकुन्द आदि आचार्यों! तुम्हारे वचन भी निज स्वरूप की खोज करने में इस पामर के परम उपकारी हुए हैं, इसलिए मैं तुम्हें अतिशय भक्ति से नमस्कार करता हूँ।"

मंगलम् कुन्दकुन्दाद्यो जैन धर्मोऽस्तु मंगलम्॥

215, मन्दाकिनी एन्क्लेव,
अलकनंदा, नई दिल्ली-110019

●●

मेरी भावना की सर्वव्यापकता

- डॉ. राजेन्द्रकुमार बंसल

प्राचीन जैनाचार्यो को जीवन-काल और उनकी रचनाओं की शोध-खोज तथा जैन साहित्य में जैन-सिद्धान्त विरोधी तत्वों की मिलावट का भंडाफोड़ करने वाले शोध-पिपासु, अनवरत ज्ञानयोगी, अद्‌भुत तर्कशील, श्रमसाधक एवं बहुआयामी व्यक्तित्व के धनी पंडित रत्न जुगल किशोरजी मुख्तार के कृतित्व एवं व्यक्तित्व का मूल्यांकन करना वास्तव में जैन-संस्कृति को दी गयी उनकी बहुमूल्य सेवाओं के लिए विनम्र श्रद्धांजलि देना है।

जिस प्रकार वस्तु-स्वरूप शब्दांकन के परे हैं, उसी प्रकार किसी कर्मठ एवं समर्पित विराट व्यक्तित्व को शब्दों की परिधि में बाँधना कठिन है। यही बात कर्मयोगी, साहित्य महारथी, क्रांतिकारी विचारक पं. जुगल किशोर मुख्तार पर लागू होती है। व्यक्ति, परिवार, समाज, धर्म, संस्कृति और राष्ट्र के प्रति जब-जब जैसा-जैसा उत्तरदायित्व उन पर आया, उन्होंने समर्पित भाव से उसे स्वीकार किया और सफलता पायी। वे निष्कामकर्मी एवं तत्व मर्मज्ञ थे। सामाजिक परिवेश में वे सुयोग्य संगठक, राष्ट्रभक्त, समाजसुधारक, अन्वेषक एवं जिनशासन भक्त थे। उनका ध्येय वीतरागवाणी द्वारा प्राणीमात्र का कल्याण करना था, इसके लिये वे आजीवन समर्पित रहे।

पं. मुख्तार साहित्य की प्रत्येक विद्या के मर्मज्ञ और सृजक थे। पत्र-पत्रिका सम्पादन, निबन्ध लेखन, ग्रंथ समीक्षा/परीक्षा, टीकाकार, इतिहास आदि साहित्य की विधाओं पर उन्होंने सार्थक, प्रभावपूर्ण सफल लेखनी चलाई और नये-नये तथ्यों को उद्‌घाटन किया। इसी कारण पं. मुख्तार अपने जीवन काल में ही "युगवीर" सम्बोधन से प्रसिद्ध हुए।

वर्तमान में आधिकाधिक साहित्य सृजन एवं प्रकाशन की होड़ कतिपय साधन सम्पन्न महानुभावों/साधकों में लगी है। अधिकाधिक प्रकाशन की भावना में सार्थक/सारगर्भित प्रकाशन का बोध लुप्त हो गया है। ऐसे महानुभावों को पं. मुख्तार की साहित्य साधना दिशा बोध कराती है कि साहित्य

सृजन/प्रकाशन गुणात्मक कालजयी हो, न कि परिमाणात्मक-सामयिक। पं. मुख्तार सफल एवं तार्किक लेखक के साथ ही सहृदय एवं यथार्थपरक कवि भी थे। वीतरागता, विश्वबन्धुत्व, आदर्श मानव जीवन, अछूतोद्धार भक्तिपरक स्तोत्र आदि मानव जीवन को महिमार्मंडित करने वाले विषयों पर उन्होंने भाव-प्रणव कवितायें हिन्दी और संस्कृत भाषा में शब्दांकित की। ये कविताएं ''युगभारती'' नाम से प्रकाशित हुई।

मेरी भावना-जन भावना की प्रतीक :

उनकी हिन्दी कविताओं में वर्ष 1916 में रचित सर्वाधिक लोकप्रिय एवं बहुपठित कविता ''मेरी भावना है''। मेरी भावना में कवि ने पक्षपात की भावना से ऊपर उठकर प्राणीमात्र की शांति, उत्थान और उन्हें आध्यात्मिक ऊँचाईयों तक पहुँचाने वाले वीतराग-दर्शन, उसकी प्राप्ति की प्रक्रिया-प्रतीक तथा आत्मसाधक साधु-श्रावकों की भावना और आचरण का हृदयग्राही वर्णन किया है। इसका प्रयोजन वस्तु-स्वरूप के भावबोध से उत्पन्न प्राणीमात्र के प्रति मैत्रीभाव, पर्यावरण-रक्षा, लोकोपयोगी जीवन-दर्शन, सहजन्याय एवं ध र्माधारित राज्य व्यवस्था तथा वीतरागता की प्राप्ति का सर्वकालिक/सार्वभौमिक लक्ष्य रेखांकित करना है। जिस प्रकार स्व. श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ''उसने कहा था'' कहानी लिखकर अमर हो गये, उसी प्रकार ''मेरी भावना'' कविता लिखकर पं. जुगल किशोर मुख्तार अमर हो गये। अंतर मात्र इतना है कि जो प्रसिद्धि एवं साहित्य में स्थान गुलेरी जी को मिला, मुख्तार सा. सामाजिक परिवेश में ही सीमित रह गये। किसी अन्य धर्मावलम्बी की यदि यह रचना होती तो वह राष्ट्रगीत जैसी ''राष्ट्रभावना'' या ''जन-भावना'' के रूप में प्रसिद्ध होती।

मेरी भावना-सार्थक नाम :

जैसा भाव वैसी क्रिया, जैसी क्रिया वैसा फल, यह सर्वश्रुत है। अर्थात् भावानुसार फल मिलता है। इस मनोवैज्ञानिक तथ्य के आधार पर मानव जीवन को सम्यक् रूप से रूपांतरित करने के प्रयोजन की सिद्धि हेतु ''मेरी भावना'' एक सार्थक नाम है। इसमें ग्यारह पद्य हैं। इसमें वीतराग-विज्ञान के आद्य प्रतिपादक आचार्य कुन्दकुन्द एवं प्रखर तार्किक आचार्य समन्तभद्र आदि द्वारा प्रतिपादित वस्तु-स्वरूप, अनेकान्तदर्शन, परमात्मा का स्वरूप एवं उसकी

प्राप्ति के उपाय का सार तो है ही, साथ ही अन्य भारतीय दर्शनों एवं साहित्य जैसे गीता, रामायण, महाभारत आदि की लोकोपयोगी शिक्षाओं का भी समावेश है। कवि ने मेरी भावना के नाम से जगत के सभी जीवों की उदात्त भावनाएं व्यक्त कर दी हैं।

परमात्मस्वरूप अरहंत-सिद्ध परमेष्ठी :

मेरी भावना की प्रथम पंक्ति "जिसने रागद्वेष-कामादिक जीते, सब जग जान लिया" में परमात्मा का स्वरूप दर्शाया है। कवि का इष्ट परमात्मा राग-द्वेष-कामादि विकारों का विजेता सर्वजगत का ज्ञाता और मोक्षमार्ग का उपदेष्टा है, भले ही उसे बुद्ध, महावीर, जिनेन्द्र, कृष्ण, महादेव, ब्रह्मा या सिद्ध किसी भी नाम से पुकारा जाये। ऐसे परमात्मा के प्रति भक्तिभाव से चित्त समर्पित रहे, यही कवि की भावना है। प्रथम पंक्ति में सर्वदोषविहीन एव सर्वमान्य विराट परमात्मा के दर्शन होते हें जो अपने में सर्व जीवों के आत्म-स्वभाव की समानता एवं पथ-निरपेक्षता के भाव को समेटे हैं। इसमे "निस्पृह हो उपदेश दिया", में अरहंत परमेष्ठी एवं "या उसको स्वाधीन कहो" में सिद्ध परमेष्ठी समाहित हो गये हैं।

मोक्षमार्ग के पथिक त्रिपरमेष्ठी-आचार्य, उपाध्याय एवं सर्व साधु :

कवि ने मेरी भावना के पद दो एवं तीसरे के पूर्वार्द्ध में कुशलतापूर्वक आचार्य, उपाध्याय एवं सर्वसाधु परमेष्ठी का स्वरूप बताया है। "विषयों की आशा नहीं जिनके, साम्य भाव धन रखते हैं।" यह पंक्ति सामान्य साधु के अंतरंग स्वरूप को बताती है। संसार-दु:ख का नाश करने वाले ज्ञानी-साधु इन्द्रिय भोगों और कषायों से विरक्त होकर समत्व भाव धारण करते हुए अहिर्निश स्व-पर कल्याण में निमग्न रहते हैं और बाह्य में खेद रहित अर्थात् सहज भाव से स्वार्थ त्याग अर्थात् शुभाशुभ कर्म-समूह की निर्जरा हेतु कठोर तपस्या करते दिखाई देते हैं। ऐसे ज्ञानी-ध्यानी-तपस्वी साधुओं की सत्संगति सदैव बनी रहे, ऐसी भावना भायी है। इनमें ज्ञानी-ध्यानी-तपस्वी साधु आचार्य परमेष्ठी हैं। विशेष ज्ञानी-ध्यानी साधु उपाध्याय परमेष्ठी हैं और साधु तो साधु परमेष्ठी हैं ही।

इस प्रकार कवि ने मोह राग-द्वेष से निवृत्ति एवं स्वभाव में प्रवृत्ति हेतु पंचपरमेष्ठी की शरण ग्रहण की भावना की है।

परमात्मा होने का उपाय, प्रक्रिया :

आत्मा का मोह क्षोभ रहित शुद्धज्ञायक भाव ही धर्म है और धर्म स्वरूप परिणत आत्मा ही परमात्मा है। शुद्धज्ञायक भाव में कैसे प्रवृत्ति हो, इसका आध्यात्मिक एवं प्रायोगिक निरूपण कवि ने मेरी भावना के पद्य 9, 10 एवं 11 में किया है। इस सम्बन्ध में निम्न पंक्तियाँ मननीय हैं :-

पद्य-9 : "घर-घर चर्चा रहे धर्म की, दुष्कृत-दुष्कर हो जावे
ज्ञान-चरित्र उन्नत कर अपना, मनुज जन्म फल सब पावे"

पद्य-10 : "परम-अहिंसा-धर्म जगत में, फैल सर्वहित किया करे"

पद्य-11 : "फैले प्रेम परस्पर जग में, मोह दूर ही रहा करे
वस्तु-स्वरूप-विचार खुशी से, सब दुख संकट सहा करे"

उक्त पंक्तियों के रेखांकित बिन्दुओं पर विचार करने से यह स्पष्ट होता है कि मोह रूप आत्म-अज्ञान ही दुख-स्वरूप और दुख का कारण है। मोह का क्षय बारम्बार वस्तु-स्वरूप के विचार एवं भावना से होता है। उससे आत्मा में परमात्मा का अनुभव होता है। ऐसे व्यक्ति के हृदय में आस्तिक्य बोध के कारण जगत के जीवों के प्रति मैत्रीभाव और करुणा सहज ही उत्पन्न होती है। मोह नाश से ज्ञान-स्वरूप आत्मा का ज्ञान होता है फिर ज्ञान में स्थिरता रूप चारित्र प्रकट होने लगता है जिससे वासना जन्य दुष्कृत्य स्वतः दुष्कर (कठिन) हो जाते हैं। मनुज जन्म की सफलता आत्मा के ज्ञान एवं चारित्र की उन्नति में है। ऐसा परम-अहिंसक साधक जगत के जीवों का हित करता है।

मोहमार्ग में वस्तु-स्वरूप के विचार की महिमा पं. बनारसीदास ने समयसार नाटक में निम्न रूप से व्यक्त की है-

"वस्तु-विचारत ध्यानतें मन पावे विश्राम
रस स्वादत सुख ऊपजे अनुभव याको नाम
अनुभव चिंतामणिरतन, अनुभव है रसकूप
अनुभव मारग मोक्ष का, अनुभव मोक्ष स्वरूप"

स्व-पर कल्याण कारक आदर्श नागरिक संहिता :

मेरी भावना में पद तीन के उत्तरार्द्ध से पद 8 तक मानव व्यवहार की

स्व-पर कल्याण्कारी आदर्श नागरिक संहिता की भावना है जो जीवन में अनुकरणीय है, उपादेय है।

किसी जीव को पीड़ित न करूँ और झूठ न बोलूँ। संतोषरूपी अमृत का पान करते हुए किसी के धन एवं पर-स्त्री पर मोहित न होऊँ (पद-3) गर्व और क्रोध न करूँ, दूसरों की प्रगति पर ईर्ष्या न करूँ। निष्कपट सत्य व्यवहार करूँ। यथाशक्य दूसरों का उपकार करूँ (पद-4)। सभी जीवों पर मैत्री अनुकम्पा का भाव रहे। दीन-दुखी जीवों के दुख-निवारण हेतु हृदय में निरंतर करुणा रहे। दुर्जन-पापी जीवों पर साम्यभाव रखूँ और घृणा न करूँ (पद-5)। गुणीजनों से प्रेम करूँ। उनके दोष न देखूँ और यथाशक्य सेवा करूँ। परोपकारियों के प्रति कृतघ्न न बनूँ और न उनका विरोध करूँ (पद-6)। मैं न्याय मार्ग पर चलूँ। बुरा हो या भला, धन आये या जाये, मृत्यु अभी हो या लाख वर्ष बाद, कितना ही भय या लालच मिले किन्तु किसी भी स्थिति में, न्याय मार्ग से विचलित नहीं होऊँ (पद-7)। यह कर्तव्य बोध की पराकाष्ठा है, जो प्रजातंत्र की सफलता का सूत्र है। न्यायच्युत राज्य-व्यवस्था संत्रासदायी होती है जो अशांति को जन्म देती है।

सुख में प्रफुल्लित और दुख में भयभीत न होऊँ। पर्वत, नदी आदि से भयभत न होऊँ। इष्ट-वियोग तथा अनिष्ट-संयोग में सहनशीलता/समत्व भाव रखूँ। यही भावना निरंतर बनी रहे (पद-8)। मोह-रहित स्थिति में उक्त आचरण से कर्मबन्ध रुकेगा और कर्मनिर्जरा होगी।

धर्माचरण से विश्वकल्याण एवं राष्ट्र की उन्नति :

पद 9 एवं 11 में धर्माचरण से विश्व के जीवों के कल्याण एवं राष्ट्रों की उन्नति की भावना व्यक्त की है। यह "वसुधैव कुटुम्बकम्" का प्रयोगिक रूप है।

जगत के सभी जीव सुखी रहें, भयभीत न हों और बैर-पाप-अभिमान छोड़ कर नित्य नये मंगल गान करें। घर-घर में धर्म की चर्चा हो और निद्य-पाप अशक्य हो जावें। सभी जीव अपने स्वभाव रूप ज्ञान-चारित्र में वृद्धि करें (पद-9)।

मोहरूप अज्ञान का नाश हो और विश्व में परस्पर प्रेम का प्रसार हो। कोई

किसी से अप्रिय-कटु-कठोर शब्द न बोले और वस्तु-स्वरूप का विचार करते हुए कर्मोदय जन्म दुख और संकटों का सामना समतापूर्वक करें (पद-11)।

सुखी राज्य एवं पर्यावरण-रक्षा का आधार अहिंसा :

कवि ने पद 10 में पर्यावरण की रक्षा एवं प्रजा की सुख-शांति के सूत्र दिये हैं। अहिंसा धर्म के प्रचार-प्रसार से पर्यावरण की रक्षा और जगत के जीवों का कल्याण होगा। छहकाय के जीवों की रक्षा ही अहिंसा और पर्यावरण रक्षा है। उससे अतिवृष्टि-अनावृष्टि न होकर वर्षा समय पर होगी। रोग-महामारी-अकाल नहीं होगा। प्रजा शांतिपूर्वक रहेगी। राजा अर्थात् शासकगण धर्मनिष्ठ, अर्थात् न्याय नीति एवं सदाचार पूर्वक प्रजा की रक्षा करें। ऐसी स्थिति में सभी राष्ट्र उन्नति करेंगे।

संक्षेप में, "मेरी भावना" विश्व के जीवों के कल्याण अभ्यूदय और निःश्रेयस पद की प्राप्ति की आदर्श विचार-आचार संहिता है। मेरी भावना के अनुरूप जीवन रूपांतरित हो यही कामना है।

मेरी भावना की गुणवत्ता, सार्वजनीनता एवं सर्वधर्म समभावना का अन्तःपरीक्षण कर प्रज्ञा चक्षु पण्डित शिरोमणी पं. सुखलालजी संघवी ने इसकी न केवल मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की थी, अपितु गुजरात के समस्त जैन गुरुकुलों में प्रातः-सायंकालीन प्रार्थना के लिए मेरी भावना की अनुशंसा भी की थी। उन्होंने महात्मा गांधी से उसकी प्रशंसा कर वहाँ के प्रार्थना गीत के रूप में स्वीकृत करने का अनुरोध किया था। यह उल्लेखनीय है कि वैल्दी फिशर द्वारा स्थापित साक्षरता निकेतन लखनऊ, जहाँ पर उत्तर प्रदेश शासन के कर्मचारियों को प्रशिक्षण दिया जाता है, वहाँ प्रतिदिन सर्वधर्मसभा में मेरी भावना की प्रार्थना की जाती है।

बी-369, ओ.पी.एम. कालोनी
अमलाई पेपर मिल्स
जिला-शहडोल (म.प्र.)-484117

भक्तामर : ऐतिहासिकता एवं परम्पराभेद

- डॉ. ज्योति जैन

जैनधर्म में भक्तिस्वरूप अनेक स्तोत्रों की रचना की गयी है। इन्हीं भक्ति स्तोत्रों में एक स्तोत्र है 'भक्तामर स्तोत्र'। आज हम देखते हैं कि 'भक्तामर स्तोत्र' लोकप्रियता के प्रथम सोपान पर है यद्यपि इससे अन्य स्तोत्रों की महत्ता या चिन्तन कम नहीं हो जाता है। 'भक्तामर स्तोत्र' जैनों के जन-जन में लोकप्रिय हो गया है। मंदिर जी में अखंड पाठ हो या कुछ घंटों का पाठ, प्राय: इसी स्तोत्र का कराया जाता है। कोई भी शुभ-कार्य करने से पहले श्रद्धालुजन 'भक्तामर' ? जी का पाठ करना या करवाना नहीं भूलते हैं। आजकल घरों में भी इसका पाठ होने लगा है। हमारे 'पूजा-पंडितों' का भी इसे लोकप्रिय बनाने में कुछ कम योगदान नहीं है। जिस तरह से इसे चमत्कारी कहा गया और श्रद्धालु इस पर श्रद्धानत हो गये, कोई आश्चर्य नहीं। 'भक्तामर स्तोत्र' के व्रत, पूजा, विधान, जाप आदि भी प्रचलित हैं। यह भी सत्य है कि इसके प्रभाव से साधकों को अलौकिक सिद्धियाँ प्राप्त हुई हैं और लोगों की मनोकामनायें पूरी हुई हैं। सचमुच यह स्तोत्र शताब्दियों से भक्तजनों का कण्ठाभरण रहा है। जैनदर्शन में निष्काम भक्ति को महत्त्व दिया गया है। जैनधर्म में ईश्वर या परमात्मा सृष्टिकर्त्ता नहीं है। जैन स्तोत्रों के रचना के मूल मे जिनेश्वर-भक्ति प्रमुख है। इन रचनाओं में भगवन्, परमेष्ठी या देवी-देवताओं की स्तुति की गयी है लेकिन इनमें निहित भक्ति अन्य भक्ति से भिन्न है इसमें भक्त वीतराग प्रभु को प्रसन्न कर लौकिक या अलौकिक कार्य को सफल करने का उद्देश्य नहीं रखता है। क्योंकि वीतरागी किसी की स्तुति से प्रसन्न या निंदा से कुपित नहीं होते हैं। प्रत्येक जीव को अपने किये कर्मों का फल स्वयं भोगना पड़ता है। कर्मो का कर्त्ता और भोक्ता स्वयं जीव ही है हाँ यह बात अलग है कि भक्ति करके मानव अपने अस्थिर मन को एकाग्र करता है और वीतराग-प्रभु के गुणों का स्मरण कर उन जैसा बनने की प्रेरणा लेता है। एक आत्मिक शांति

का अनुभव करता है। 'वीतरागी भगवान भले ही कुछ न देते हों, किन्तु उनके सान्निध्य में वह प्रेरक शक्ति है जिससे भक्त स्वयं सब कुछ पा लेता है।[1]

विद्वानों ने स्तोत्रों की 'पूजा कोटिसमं स्तोत्रं' कहा है। एक करोड़ बार पूजा करने से जो फल मिलता है वही फल एक बार स्तोत्र-पाठ करने से मिलता है। यत: पूजन करने वाले व्यक्ति का मन पूजन सामग्री एवं अन्य बाह्य क्रियाओं की ओर रहता है पर स्तोत्र का पाठ करने वाला भाव से भगवान के गुणों का स्मरण करता है।

आचार्य मानतुंग कृत 'भक्तामर स्तोत्र' दिगम्बर-श्वेताम्बर आदि और सभी जैन सम्प्रदायों में समान रूप से मान्य है। श्रमण वर्ग और श्रावक वर्ग दोनों ही इसका प्रतिदिन पाठ करते हैं। यहाँ तक कि अनेक श्रावकों का नियम ही होता है कि वह प्रतिदिन इसे पढ़ें या सुन लें। स्तोत्र का पहला शब्द 'भक्तामर' होने के कारण इसका नाम भक्तामर पड़ा। यह भी कहा जाता है कि यह स्तोत्र अपने भक्तों को अमर बनाने वाला है अर्थात परम्परा से मुक्ति देने वाला है इसीलिए भक्त+अमर=भक्तामर कहते हैं।

'भक्तामर स्तोत्र' के रचयिता आचार्य मानतुंग के जीवन-परिचय के सम्बन्ध में अनेक विचारधारायें प्रचलित हैं। कुछ इतिहास वेत्ताओं ने इन्हें हर्षवर्धन के समकालीन बताया है तो कुछ ने भोजकालीन। इनके सम्बन्ध में अनेक कथानक भी प्रचलित हैं।

'प्रभावक चरित' में मानतुंग के सम्बन्ध में लिखा है-'ये काशी निवासी धनदेव के पुत्र थे। पहले इन्होंने एक दिगम्बर मुनि से दीक्षा ली थी और इनका नाम चारूकीर्ति महाकीर्ति रखा गया था। अनन्तर एक श्वेताम्बर सम्प्रदाय की अनुयायिनी श्राविका ने उनके कमण्डलु के जल में त्रस जीव बतलाये, जिससे उन्हें दिगम्बर चर्या से विरक्ति हो गयी और जितसिंह नामक श्वेताम्बराचार्य के निकट दीक्षित होकर श्वेताम्बर साधु हो गये और उसी अवस्था में भक्तामर की रचना की।[2]

भट्टारक सलकचन्द के शिष्य ब्रह्मचारी 'पायमल्ल' कृत 'भक्तामर वृति' में, जोकि विक्रम संवत् 1667 में समाप्त हुई है, लिखा है कि 'धाराधीश भोज की राजसभा में कालिदास, भारवि, माघ आदि कवि रहते थे। मानतुंग ने 48 सांकलों को तोड़कर जैनधर्म की प्रभावना की तथा राजा भोज को जैनधर्म का उपासक बनाया।[3]

आचार्य प्रभाचन्द ने क्रियाकलाप की टीका के अन्तर्गत भक्तामर स्तोत्र टीका की उत्थानिका में लिखा है 'मानतुंगनामा सिताम्बरो महाकविः निर्ग्रन्थाचार्यवर्यैरपनीतमहाव्याधिप्रतिपन्ननिर्ग्रन्थमार्गो भगवन् किं क्रियतामिति ब्रुवाणो भगवता परमात्मनो गुणगणस्तोत्रं विधीयतामित्यादिष्टः भक्तामरेत्यादि।'

अर्थात् मानतुंग श्वेताम्बर महाकवि थे। एक दिगम्बराचार्य ने उनको महाव्याधि से मुक्त कर दिया, इससे उन्होंने दिगम्बर मार्ग ग्रहण कर लिया और पूछा-भगवन् अब मैं क्या करूँ? आचार्य ने आज्ञा दी कि परमात्मा के गुणों का स्तोत्र बनाओ, फलतः आदेशानुसार भक्तामर स्तोत्र का प्रणयन किया गया।[4]

भट्टारक विश्वभूषण कृत 'भक्तामर चरित' में भोज, भर्तृहरि, शुभचन्द, कालिदास, धनञ्जय, वररुचि और मानतुंग आदि को समकालीन लिखा है। बताया है आचार्य मानतुंग ने भक्तामर स्तोत्र के प्रभाव से अड़तालीस कोठरियों के तालों को तोड़कर अपना प्रभाव दिखलाया।[5]

वि.सं. 1361 के मेरुतुंगकृत 'प्रबन्ध चिंतामणि' ग्रन्थ में लिखा है कि मयूर और बाण नामक साला बहनोई पंडित थे। वे अपनी विद्वता से एक दूसरे के साथ स्पर्धा करते थे। एक बार बाण पंडित अपने बहनोई से मिलने गया और उसके घर जाकर रात में द्वार पर सो गया। उसकी मानवती बहन रात में रूठी हुई थी और बहनोई रात भर मनाता रहा। प्रातः होने पर मयूर ने कहा-'हे तन्वंगी प्रायः सारी रात बीत चली, चन्द्रमा क्षीण सा हो रहा है, यह प्रदीप मानों निद्रा के आधीन होकर झूम रहा है और मान की सीमा तो प्रणाम करने तक होती है। अहो! तो भी तुम क्रोध नहीं छोड़ रही हो?'

काव्य के तीन पाद बार-बार कहते सुनकर बाण ने चौथा चरण बनाकर कहा-हे चण्डि! कुंचों के निकटवर्ती होने से तुम्हारा हृदय भी कठिन हो गया है।

'गतप्राया रात्रिः कृशतनुः शशिः शीर्यत इव
प्रदीपोऽयं निद्रावशमुपगत घूर्णित इव।
प्रणामान्ते मानस्त्यजसि न तथापि क्रुधमहो
कुचप्रत्यासत्या हृदयमपि ते चण्डि! कठिनम्।।

भाई के मुख से चौथा चरण सुनकर बहन लज्जित हो गयी और अभिशाप दिया कि तुम कुष्ठी हो जाओ। बाण पतिव्रता के शाप से तत्काल कुष्ठी हो गया। प्रात:काल शाल से शरीर ढककर राजसभा में आया। मयूर ने 'वरकोढ़ी' कहकर उसका स्वागत किया। बाण ने देवताराधन का विचार किया और सूर्य के स्तवन द्वारा कुष्ठरोग दूर किया मयूर ने भी अपने हाथ पैर काट लिये और चण्डिका का 'मां भाक्षी विभ्रमम्' स्तुति द्वारा अपना शरीर स्वस्थ कर चमत्कार उपस्थित किया।

इन चमत्कारों के अनन्तर किसी जैन धर्मद्वेषी ने राजा से कहा कि यदि जैनों में कोई ऐसा चमत्कारी हो तभी जैन यहाँ रहें, अन्यथा इन्हें नगर से निर्वासित कर दिया जाय। मानतुंग आचार्य को बुलाकर राजा ने कहा कि आप अपने देवताओं के कुछ चमत्कार दिखलाइये। आचार्य ने कहा हमारे देवता वीतरागी हैं उनमें क्या चमत्कार हो सकता है। जो मोक्ष चला गया है वह चमत्कार दिखलाने क्या आयेगा? उनके किंकर देवता ही अपना प्रभाव दिखलाते हैं। अत: यदि चमत्कार देखना है तो उनके किंकर देवता से अनुरोध करना होगा। इस प्रकार कहकर अपने शरीर को 44 हथकड़ियों और बेड़ियों से कसवाकर उस नगर के श्री युगादिदेव के मन्दिर के पिछले भाग में बैठ गये। भक्तामर स्तोत्र के प्रभाव से उनकी बेड़ियां टूट गयीं और मन्दिर अपना स्थान परिवर्तित कर उनके सम्मुख उपस्थित हो गया। इस प्रकार मानतुंग ने जिनशासन का प्रभाव दिखलाया।

श्वेताम्बरचार्य गुणाकर ने भक्तामर स्तोत्र वृत्ति, जिसकी रचना वि.सं. 1426 में हुई है, में प्रभावक चरित के अनुसार मयूर और बाण को श्वसुर और जमाता बताया है तथा इनके द्वारा रचित सूर्यशतक और चण्डीशतक का निर्देश किया है। राजा का नाम वृद्धभोज है, जिसकी सभा में मानतुंग उपस्थित हुए थे।[6]

संस्कृत साहित्य के प्रसिद्ध इतिहासज्ञ विद्वान डॉ. ए.वी. कीथ ने मानतुंग को बाण का समकालीन अनुमान किया है।[7] उन्होंने भक्तामर की कथा के संबंध में अनुमान किया है कि कोटरियों के ताले या पाशबद्धता संसार बन्ध न का रूपक है। इस प्रकार के रूपक छठीं-सातवीं शताब्दी में अनेक लिखे गये हैं। डॉ. कीथ का अनुमान यदि सत्य है तो इसका रचनाकाल छठी शताब्दी का उत्तरार्द्ध या सातवीं का पूर्वार्द्ध होना चाहिये।

पं. पन्नालाल जी साहित्याचार्य ने महापुराण की प्रस्तावना पृ. 22 में आचार्य मानतुंग को 7वीं शताब्दी का लिखा है।[8] अगर यही समय है तो आदिपुराण पर्व 7 श्लोक 293 से 311 का जो वर्णन भक्तामर स्तोत्र से मिलता हुआ है वह संभव है आचार्य जिनसेन ने भक्तामर स्तोत्र से लिया हो।

सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ पं. गौरीशंकर हीराचन्द ने अपने 'सिरोही का इतिहास' नामक ग्रन्थ में मानतुंग का समय हर्षकालीन माना है।

सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ पं. नाथूराम प्रेमी, जिन्होंने विश्वभूषण भट्टारक के भक्तामर चरित को प्रमाणभूत मानकर धाराधीश भोज, कालिदास, धनंजय मानतुंग, भर्तृहरि आदि भिन्न-भिन्न समयवर्ती विद्वानों को समकालीन बताने का प्रयत्न किया था। परन्तु जब भट्टारकों द्वारा निर्मित कथा साहित्य की ऐतिहासिकता पर सन्देह होने लगा तब आठ-दस वर्ष बाद उन्होंने अपनी ही बातों का प्रतिवाद कर दिया। ''प्रेमीजी ने मानतुंग आचार्य को हर्षकालीन माना है।''[10]

इस प्रकार हम देखते हैं कि परस्पर विरोधी आख्यानों के कारण आचार्य

मानतुंग का समय विवादास्पद है। इस समय को उलझाने में उन मनगढ़ंत कथाओं का योगदान है जो इस स्तोत्र के संबंध में प्रचलित हैं। भट्टारकादिकों ने इस सरल और वीतराग स्तोत्र को भी मंत्रतंत्रादि और उनकी कथाओं के जाल में फंसाकर दिया। ये मनगढ़ंत कथायें कितनी असंगत परस्पर विरोधी है यह स्पष्ट दिखाई देता है। किसी कथा में मानतुंग को राजा भोज के समय का बताया, तो किसी में कालिदास के, किसी में बाण मयूर के समय में बता दिया गया। यह कथा भी वीतरागता के विपरीत लगती है कि राजा ने कुपित होकर मानतुंग को ऐसे कारागृह में बंद करवा दिया जिसमें 48 कोठे थे प्रत्येक कोठे में एक एक ताला था। एक वीतरागी साधु को जिसके पास कोई शस्त्रादि नहीं कैसे कोई राजा ऐसा दंड दे सकता है और 48 श्लोक इसीलिये 48 कोठे, 48 ताले। यदि कम श्लोक होते तो? श्वेताम्बर सम्प्रदाय तो 44 श्लोक ही मानते हैं। इस तरह अनेक विरोधाभास इन कथाओं में है।[10]

श्री जिनेन्द्र वर्णी ने भक्तामर का समय 11वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना है।[11]

आचार्य मानतुंग कृत भक्तामर स्तोत्र एक प्राचीनतम स्तोत्र है। यह आचार्य मानतुंग की एक मात्र रचना है। यह आदिनाथ स्तोत्र भी कहलाता है। इस स्तोत्र की यह विशेषता है कि इसे किसी भी तीर्थंकर की भक्ति में मनन किया जा सकता है। काव्य की दृष्टि से इसके 48 काव्य, भक्ति एवं दर्शन को प्रकट करते हैं। समस्त स्तोत्र वसन्ततिलका छन्द में लिखा गया है। पद्यों में उपमा, उत्प्रेक्षा और रूपक अलंकारों का समावेश दर्शनीय है। भक्तामर स्तोत्र पर अनेक संस्कृत टीकायें लिखी गयी हैं। हिन्दी एवं अनेक भाषाओं में इसके गद्य एवं पद्यानुवाद उपलब्ध हैं। दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायों ने इसे अपने-अपने रूप में प्रतिष्ठा दी है।

प्राय: हस्तलिखित ग्रन्थों में भक्तामर स्तोत्र के 48 काव्य ही मिलते हैं। श्वेताम्बर सम्प्रदाय स्तोत्र के 32 से 35 तक के चार श्लोक नहीं मानते हैं। क्योंकि इन पद्यों में दुन्दुभि, पुष्प-वृष्टि, भामण्डल और दिव्यध्वनि का वर्णन

हुआ है। श्वेताम्बर सम्प्रदाय में आठ प्रातिहार्य स्वीकार किये गये हैं, फिर इन चार प्रातिहार्यों वाले श्लोकों को स्वीकार क्यों नहीं किया गया यह विचारणीय है।

श्वेताम्बर स्थानकवासी कविवर 'मुनि अमरचन्द जी' ने पूरे 48 श्लोक मानकर ही भक्तामर का हिन्दी पद्यानुवाद किया है।

इधर दिगम्बर सम्प्रदाय ने चार नये पद्य जोड़कर इनकी संख्या 52 गढ़ ली है। 'अनेकान्त' वर्ष 2 किरण-1 के अनुसार बाद में जोड़े गये चार पद्य निम्न हैं-

'नातः परः परमवचोभिधेयो
लोकत्रयेऽपि सकलार्थविदस्ति सार्वः।
उच्चैरितीव भवतः परिघोषयन्त-
स्तेदुर्गभीरसुरदुन्दुभयः सभायाम्॥1॥
वृष्टिर्दिवः सुमनसां परितः परात्
प्रीतिप्रदा सुमनसां च मधुव्रतानाम्।
राजीवसा सुमनसा सुकुमारसारा
सामोदसम्पदमदाज्जिन ते सुदृश्यः॥2॥
पूष्मामनुष्य सहसामपि कोटिसंख्या
भाजां प्रभाः प्रसरमन्वहया वहन्ति।
अन्तस्तयः पटलभेदयशक्तिहीनं
जैनी तनुद्युतिरशेषतमोऽपि हन्ति॥3॥
देवत्वदीयसकलामल केवलाय
बोधांतिगाधनिरूप।
घोषः स एव इति सज्जनतानुमेते
गम्भीरभारभरितं तव दिव्यघोषः॥4॥

किन्तु इन श्लोकों में भी प्रातिहार्यों का वर्णन होने से ये पुनरुक्त हैं, अतः असंगत है। लगता है कि लेखक ने बिना देखे ही, केवल यह सुनकर कि

श्वेताम्बर परम्परा में चार प्रातिहार्यों वाले चार श्लोक कम कर दिये गये हैं।' इन चार श्लोकों की रचना कर दी। जबकि अड़तालीसवें काव्य में काव्य समाप्ति की सूचना स्पष्ट है।

प्रसिद्ध जैन विद्वान् श्री मिलापचन्द्र कटारिया के पास उपलब्ध गुटकों में उक्त चार श्लोकों के अतिरिक्त अन्य प्रकार के चार श्लोक उल्लिखित हैं। यही चार श्लोक जैन मित्र फाल्गुन सुदी 6 वीर सं. 2486 के अंक में छपे थे। श्लोक निम्न हैं -

'यः संस्तुवे गुणभृतां सुमनो विभाति,
यः तस्करा विलयतां विबुधाः स्तुवन्ति।
आनन्दकन्द हृदयाम्बुजकोशदेशे,
भव्या व्रजन्ति किल या भर देवताभिः॥1॥
इत्थं जिनेश्वर सुकीर्तयतां जिनोति,
न्यायेन राजसुखवस्तुगुणा स्तुवन्ति।
प्रारम्भभार भवतो अपरापरां या,
सा साक्षणी शुभवशो प्रणमामि भक्त्या॥2॥
नानाविधं प्रभुगुणं गुणरत्न गुण्या
रामा रमन्ति सुरसुन्दर सौम्यमूर्तिः।
धर्मार्थकाम मुनयो गिरिहेमरत्नाः
उध्यापदो प्रभुगुणं विभवं भवन्तु॥3॥
कर्णौ स्तुवेन नभवानभवत्यधीश
यस्य स्वयं सुरगुरु प्रणतोसि भक्त्या
शर्माधिनोक यशसा मुनिपद्मरंगा
मायागतो जिनयतिः प्रथमो जिनेशाः॥4॥[12]

पर ये भी मूलग्रन्थाकार कृत नहीं है, क्योंकि 48वें पद्य में ही स्तोत्र का फल बताकर समाप्त कर दिया गया है। ये अतिरिक्त श्लोक भी, जो बाद में बनाये गये, असंगत प्रतीत होते हैं।'

इनके सिवाय श्री मिलापचन्द कटारिया के पास ही उपलब्ध, गुटकों में चार श्लोक और अतिरिक्त हैं, जिन्हें 'बीज काव्य' लिखा गया है, पर ये भी मूल स्तोत्रकार कृत नहीं हैं क्योंकि प्रथमतः ये 48 श्लोकों के अतिरिक्त हैं। द्वितीयतः स्वयं लेखक ने ही इन्हें बीजकाव्य कह दिया है। 'बीजकाव्य' श्लोक निम्न हैं -

बीजकं काव्यम् -

ओं आदिनाथ अर्हन्सुकुलेवतंसः
श्रीनाभिराज निजवंश शशि प्रतापः।
इक्ष्वाकुवंश रिपुमर्दन श्रीविभोगी
शाखा कलापकलितो शिव शुद्धमार्गः॥1॥
कष्ट प्रणाश दुरिताप समावनाहि-
अंभोनिधौ दुरवय तारक विघ्नहर्ता।
दुःखाविनारि भय भग्नति लोह कष्टं
तालोर्द्धघाट भयभीत समुत्कलापाः॥2॥
श्रीमानतुंगगुरुणा कृतबीजमंत्रः
यात्रा स्तुतिः किरण पूज्य सुपादपीठः।
भक्तिभरो हृदयपूर विशाल यात्रा-
कौ धौ दिवाकर समांवनितांजनार्हीं॥3॥
त्वं विश्वनाथ पुरुषोत्तम वीतरागः
त्वं नैनंरागकथिता शिवशुद्धमार्गा।
त्वौच्चाट भंजनवपुःखल दुःखहाब्जान्
त्वं मुक्तिरूप सुदया पर धर्मपालान्॥4॥[13]

समस्यापूर्ति साहित्य की पुरानी विधा है। परवर्ती काल में भक्तामर काव्य इतना प्रसिद्ध हुआ कि मुनि रत्नसिंह ने भक्तामर के प्रत्येक पद्य की चौथी पंक्ति लेकर 'प्राणप्रिय काव्य' की रचना की। इस प्रकार प्राणप्रिय काव्य में अड़तालीस श्लोक हैं। प्रत्येक श्लोक की तीन पंक्तियां मुनि रत्नसिंह रचित हैं

और चतुर्थ पंक्ति भक्तामर की है।

मुनि रत्नसिंह दिगम्बर सम्प्रदाय के मुनि हैं क्योंकि उन्होंने 48 पद्यों की समस्यापूर्ति की है। इनका समय क्या है अभी निश्चित नहीं है। इसका पहला पद्य 'प्राणप्रियं नृप सुता' से प्रारम्भ होता है इसीलिये इसे 'प्राणप्रिय' काव्य कहा गया है। पं. नाथूराम प्रेमी ने इसके तीन पद्य जैन साहित्य और इतिहास में दिये हैं जिन्हें हम साभार यहां दे रहे हैं।

प्राणप्रियं नृपसुता किलं रैक्ताद्रि
श्रंगाग्रसंस्थितमवोचदिति प्रगल्भ्यम्।
अस्मादृशामुदितनील-वियोगरूपेऽ-
वालम्बनं भवजले पततां जनानाम्॥
तत्किं वदामि रजनीसमये समेत्य
चन्द्रांशवो मम तनुं परितः स्पृशन्ति।
दूरे धवे सति विभो परदारशक्तान्
कस्तान्निवारयति संचरतो यथेष्टम्॥

पूर्वे मया सह विवाहकृते सभागाः
मुक्तिस्त्रियास्त्वमधुना च समक्षतोऽसि।
चेच्चञ्चलं तव मनोऽपि वभूव हा तत्
किं मन्दराद्रिशिखरं चलितं कदाचित्॥

अन्तिम 49वें पद्य में मुनि रत्नसिंह ने अपना परिचय देते हुये लिखा है कि-'सिंह संघ के अनुयायी धर्मसिंह के चरण कमलों में भ्रमर के समान अनुरक्त मुनि रत्नसिंह ने यह नेमिनाथ का वर्णन करने वाला काव्य बनाया -

श्रीसिंहसंघसविनेयक-धर्मसिंह
पादारबिन्दमधुलिङ्मुनिरत्नसिंहः।
भक्तामरस्तुति चतुर्थपदं गृहीत्वा,
श्री नेमिवर्णनमिदं विदधे कवित्वम्॥[14]

यह तो एक बानगी मात्र मैंने प्रस्तुत की है, वस्तुतः भक्तामर पर इतनी टीकायें और अनुवाद लिखे गये हैं इनकी चर्चा कर पाना इस छोटे से लेख में असंभव नहीं, तो कठिन अवश्य है। एक अनुमान के अनुसार लगभग डेढ़ सौ संस्कृत, हिन्दी टीकायें और अनुवाद इस स्तोत्र पर हुये हैं। कुछ प्रमुख टीकाओं के नाम यहाँ प्रस्तुत कर रही हूँ।

'भक्तामर स्तोत्र टीका' नाम से गुणरत्नसूरि, कनककुशल, अमरप्रभसूरि, शान्तिसूरि, मेघविजयोपाध्याय, रत्नचन्द्र, समयसुन्दरोपाध्याय, इन्द्ररत्न मणि, चन्द्रकीर्तिसूरि, हरितिलक गणि, क्षेमदेव आदि ने इस स्तोत्र पर टीकायें लिखी हैं। इसी प्रकार मेरुसुन्दरोपाध्याय, शुभवर्धनगणि, लक्ष्मीकीर्ति ने 'भक्तामर स्तोत्र बालावबोध' नाम से अपनी टीकायें लिखी हैं।

इस स्तोत्र के चमत्कार एवं प्रसिद्धि को ध्यान में रखकर कथा, चरित्र या माहात्म्य को प्रकट करने वाली कथायें भी लिखी गयी हैं। इनमें प्रसिद्ध हैं-ब्रह्मरायमल्ल की 'भक्तामर स्तोत्र कथा' श्री भूषण की 'भक्तामर स्तोत्र पूजा' शुभशील का 'भक्तामर स्तोत्र माहात्म्य', ज्ञानभूषण, सुरेन्द्रकीर्ति और सोमसेन के 'भक्तामर स्तोत्र व्रतोद्यापन' अज्ञात कवि कृत 'भक्तामर स्तोत्र पंचांग विधि'।

इस स्तोत्र पर लिखे गये 'पादपूर्ति स्तोत्र' और 'छाया स्तवनों' की संख्या भी कम नहीं है। कुछ प्रमुख हैं-भावप्रभसूरि कृत 'नेमिभक्तामर स्तोत्र', समयसुन्दरोपाध्याय कृत 'ऋषभ भक्तामर स्तोत्र', लक्ष्मीविनल कृत 'शान्तिभक्तामर स्तोत्र', विनयलाभ कृत 'पार्श्व भक्तामर स्तोत्र' धर्मवर्धनोपाध्याय कृत 'वीर भक्तामर स्तोत्र' धर्मसिंह सूरि कृत 'सरस्वती भक्तामर स्तोत्र' पं. हीरालाल कृत 'भक्तामर पाद पूर्ति' पं. गिरधर शर्मा कृत 'भक्तामर पादपूर्ति स्तोत्र' माल्लिषेण कृत 'भक्तामर पादपूर्ति स्तोत्र' माल्लिषेण कृत 'भक्तामर स्तोत्र छाया स्तवन' आदि हिन्दी भाषा में 'भक्तामर स्तोत्र' के गद्यमय और पद्यमय शताधिक अनुवाद हुये है। आज स्थिति यह है कि लोगों को संस्कृत भाषा में भक्तामर स्तोत्र आता हो या न आता हो। हिन्दी भक्तामर को कंठस्थ किये हुये अनेक

भक्त सर्वत्र मिल जायेंगे।

सन्दर्भ

1. डॉ. प्रेमसागर जैन, जैन भक्ति काव्य की पृष्ठभूमि, पृ. 29।
2. प्रभावक चरितं के अन्तर्गत मानतुंगसूरिचरितम्, पृ. 112-117 (संस्कृत काव्य के विकास में जैन कवियों का योगदान पृ. 500)।
3. तीर्थकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, द्वितीय खंड पृष्ठ 268।
4. वही पृ. 268।
5. भक्तामर चरित्र की उत्थानिका में शुभचन्द्र और भर्तृहरि की एक लंबी कथा दी है यह कथा ज्ञानार्णव के प्रारंभ में प्रकाशित हुई है (देखे-जैन साहित्य और इतिहास, पं. नाथूराम प्रेमी, पृ. 440)।
6. इस कथा का संकेत संस्कृत के प्रसिद्ध काव्य शास्त्री आचार्य मम्मट के 'काव्य प्रकाश' में भी पाया जाता है। प्रथम उल्लास में काव्य के प्रयोजन बतलाते हुये 'शिवेतरक्षतये' के उदाहरण में लिखा है-'आदित्यादेर्मयूरादीना- मिवानर्थनिवारणम्' अर्थात् जैसे सूर्य शतक से मयूर के अनर्थ का निवारण हुआ था वैसे ही काव्य से अनर्थ का निवारण होता है। व्याख्या ग्रन्थों में बाणभट्ट को बहनोई और मयूरभट्ट को साला बतलाया गया है। मयूरभट्ट को सूर्य शतक की रचना करते हुये दिखाया गया है। (देखें-'काव्यप्रकाश' ज्ञानमण्डल लि. वाराणसी प्रथम उल्लास)।
7. ए हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर पृ. 214-215।
8. महापुराण (आदिपुराण) अनु. पं. पन्नालाल साहित्याचार्य पृ. 22।
9. देखें-जैन साहित्य और इतिहास पृ. 451 पर प्रेमी जी का नोट।
10. जैन निबंध रत्नावली, श्री मिलाप चन्द कटारिया पृ. 342।
11. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष भाग 3, पृ. 208।

12. जैन निबंध रत्नावली पृ. 340।

13. वही पृ. 341।

14. जैन साहित्य और इतिहास पृ. 524।

-कुन्दकुन्द जैन (पी.जी.) कालेज
खतौली (उ.प्र.)

रात्रि-भोजन पाप है

- डॉ. सुषमा अरोरा

प्राचीन भारतीय परम्परा में हितायु और सुखायु से सम्पन्न दीर्घायुष्य की कामना सदा की गयी है। वैदिक परम्परा में दीर्घ जीवन के साथ अदीन रहने की कामना भी निरन्तर की गयी है।[1] दैन्यरहित जीवन जीने के लिए स्वास्थ्य का सर्वाधिक महत्त्व है। चरक के अनुसार स्वास्थ्य में हानि का कारण मुख्यत: तृष्णा, प्रज्ञापराध एवं आहार-विहार की अनियमितता है और वहाँ स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि प्रज्ञापराध से बचकर तथा नियमित आहार-विहार करके ही मनुष्य आरोग्य को प्राप्त करता है।[2] श्रीमद्भगवद्गीता में भी समुचित आहार-विहार एवं सुप्रज्ञता से प्रसूत प्रशस्त कर्मो के द्वारा मनुष्य दु:खों से मुक्त होता है, ऐसा स्वीकार किया गया है। जैन परम्परा में भी सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूप रत्नत्रय को सुखायुष्य और हितायुष्य के लिए ही नहीं, कैवल्य की प्राप्ति के लिए भी आवश्यक माना गया है, जिसका प्रतिफलन युक्त आहार-विहार के रूप में ही होता है और उसका ही अति प्रशस्त रूप विविध व्रतों के रूप में सम्यक् चारित्र में परिगणित है।

जैन परम्परा में सम्यक् चारित्र की प्रतिष्ठा हेतु जिन अनेक व्रतों की चर्चा हुई है. उनमें पाँच अणुव्रत या महाव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त वहाँ ग्यारह प्रतिमाओं का भी उल्लेख हुआ है, जो व्रतों से बहुत दूर नहीं है। जैन आचार्यों में कुछ ने ग्यारह प्रतिमाओं के अन्तर्गत और कुछ ने महाव्रतों के साथ रात्रि-भोजन के त्याग को भी अनिवार्य व्रत के रूप में स्वीकार किया है। रात्रि भोजन-त्याग के मूल में अनेक दृष्टियाँ विद्यमान हैं, जिनमें अहिंसा महाव्रत अथवा अणुव्रत के समग्र निर्वाह के साथ-साथ स्वास्थ्य-रक्षा भी अन्यतम है। चिकित्साशास्त्र के अनेक ग्रन्थों में सूर्यास्त से पूर्व भोजन की प्रशंसा की गयी है। स्वास्थ्य-रक्षा के लिए आवश्यक मानकर ही कनाडा जैसे कुछ सुविकसित देशों में सायंकाल छ: बजे अनिवार्य रूप से सायंकालीन भोजन ले लेने की परम्परा प्रचलित है। ग्रहण किये गये आहार के

पाचन के लिए सूर्य की किरणों का विशेष महत्त्व है। स्वरयोग के परम्परागत ग्रन्थों में सूर्यनाड़ी में श्वास-प्रश्वास के प्रवाहित रहने पर ही भोजन लेने की व्यवस्था सूर्य से पाचन का सम्बन्ध प्रमाणित करती है।

पद्मनन्दि के अनुसार प्रत्येक गृहस्थ को आठ मूलव्रतों (गुणों), अहिंसा आदि पांच अणुव्रतों, शील आदि तीन गुणव्रतों और चार शिक्षाव्रतों के साथ रात्रिभोजन-निषेध का सम्पूर्ण शक्ति से पालन करना चाहिए। ऐसा करने से ही विविध पुण्यों का परिणाम श्रावक को मिल पाता है।[4] रात्रिभोजन निषेध का कारण बताते हुए श्रावकाचार सारोद्धार के लेखक पद्मनन्दि मुनि ने स्वीकार किया है कि सूर्य तेजोमय है, उसकी किरणें निरन्तर भौतिक और अभौतिक जगत् को पवित्र करती रहती हैं, इसलिए भोजन ही नहीं, अपितु समस्त शुभ कर्मों का सम्पादन सूर्य की किरणों के प्रसार के समय ही करना चाहिए।[5] इस तथ्य को ही और अधिक स्पष्ट करते हुए कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा है कि रात्रि में स्नान, दान, देवपूजन, भोजन, खदिर अथवा ताम्बूल का प्रयोग नहीं करना चाहिए।[6] इतना ही नहीं, बुद्धिमान् लोग तो किसी भी प्रकार के शुभकर्म दिन-समाप्ति के बाद नहीं किया करते। रात्रि तो वस्तुतः दोष-निलय है।[7] सम्भवतः इसी कारण रात्रि को 'दोषा' नाम से भी स्मरण किया जाता है।[8] जैन परम्परा में यह भी माना गया है कि यति जनों के साथ संसर्ग अथवा सत्संग तथा गुरुदेव पूजन भी रात्रि में नहीं करना चाहिए। ऐसी स्थिति में रात्रि में भोजन-ग्रहण तो संयम का विनाशक ही होगा। रात्रि में भोजन का निषेध अथवा शुभकार्यों के निष्पादन का निषेध इसलिए भी उचित प्रतीत होता है कि सूर्य के अभाव में अनेक सूक्ष्म जीव-जन्तु, जो अन्धकार में ही विचरण करते हैं, कि हिंसा अथवा भोजन के साथ उनका भक्षण भी सम्भावित बना रहता है।[9] एक स्थान पर कुन्दकुन्दाचार्य ने संकेत किया है कि रात्रि में सूर्यकिरणों का संचार न होने पर नभोमंडल में प्रेतगण संचरण करते हैं। सूक्ष्म जीव-जन्तु उस समय ही विहार करते हैं। अतः रात्रि का भोजन विविध रोगों को उत्पन्न करने वाला हो सकता है।[10] इस काल में भोजन ही नहीं, सामान्य जल का पीना भी हानिकर होता है।[11] यही कारण है कि मुनिजनों ने दिन में भोजन करने और रात्रि में विश्राम करने का निर्देश किया है।[12]

जैन परम्परा में यह स्वीकार किया गया है कि देव, ऋषि, पितर, दैत्य और दानव इनके आहार का समय प्राय: अलग-अलग है। देवगण पूर्वाह्न में आहार ग्रहण करते हैं, ऋषिगण मध्याह्न में और पितर अपराह्न में। सन्ध्या समय अथवा उसके बाद तो दैत्य-दानव ही आहार लेते हैं। अत: उत्तम लोग देवताओं के सदृश केवल एक बार पूर्वाह्न में भोजन लेते हैं। मध्यम जन दिन में किसी समय एक या अनेक बार भोजन ग्रहण कर सकते हैं, किन्तु सायांह्न और रात्रि में तो अधम जन ही भोजन ग्रहण करते हैं।[13]

जैन परम्परा के अनुसार प्रात:काल सूर्योदय के उपरान्त दो घड़ी तक और सायंकाल सूर्यास्त से पूर्व दो घड़ी तक का समय सन्ध्या तक सूर्यास्त से लेकर सूर्योदय पर्यन्त का समय रात्रि माना जाता है।[14]

रात्रि-भोजन-निषेध के क्रम में अहिंसाव्रत पालन को मूलबिन्दु के रूप में रखा गया है और इसी कारण कहीं-कहीं उसे (रात्रिभोजन को) मांसभोजन के समान निन्दित कहा गया है,[15] तो कहीं रात्रिभोजन के समय हिंसा की सम्भावना का अनुभव किया गया है।[16] समाज में कुछ लोग भोजन के प्रसंग में दिन और रात्रि में कोई अन्तर नहीं समझते। आचार्य अमितगति के अनुसार ऐसे लोग मानो प्रकाश और अन्धकार का भी अन्तर नहीं समझते।[17] ब्राह्मण परम्परा में शिवभक्त त्रयोदशी तिथि में प्रदोषव्रत करते हैं। इस व्रत में दिनभर उपवास करके रात्रि के प्रथम प्रहर (प्रदोषकाल)[18] में भोजन-ग्रहण करते है और इससे अतिशय पुण्य की आशा करते हैं। इस प्रसंग में अमितगति की मान्यता है कि उनका यह कार्य (व्रत) पुण्य नहीं, पाप देने वाला है। उनका यह कार्य ऐसा है, मानों वृक्ष लगाकर उसकी वृद्धि के लिए उसके चारों ओर अग्नि प्रज्वलित की जा रही हो।[19]

आचार्य पद्मनन्दि मुनि सूर्यास्त के बाद के समय की तुलना उस सृतक से करते हैं, जिसे प्रत्येक परिवार में किसी स्वजन की मृत्यु के बाद माना जाता हैं। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार किसी स्वजन की मृत्यु हो जाने पर परिवार में सूतक-काल मानकर कोई भी पुण्य कार्य नहीं किये जाते, यहाँ तक कि दूसरों को भोजन भी नहीं कराया जाता, उसी प्रकार लोक-लोकान्तर के स्वामी दीनानाथ के अस्तंगत होने पर भी सूतक अर्थात् अपुण्यकाल मानना चाहिए

और उस काल में भोजन अथवा समस्त पुण्यकर्मों का त्याग करना चाहिए।[20]

इस्लाम में रमजान के महीने में रोज़ा रखने की परम्परा है, जिसमें पूरे महीने भर दिन में भोजन नहीं किया जाता और सूर्यास्त के बाद रात्रि में तथा सूर्योदय से कुछ समय पूर्व तक भोजन ग्रहण करने का नियम है। जैन परम्परा में इस पर कठोर कटाक्ष किया गया है। उनकी दृष्टि से ऐसा काना मानो जल को विपरीत दिशा में अर्थात् ऊपर की ओर प्रवाहित करना है। चिन्तामणि को छोड़कर खली (मिट्टी) का टुकड़ा उठा लेना है। अथवा समस्त सुख-साध न देने वाले कल्पवृक्ष को अग्नि में समर्पित कर देना है।[21]

रात्रि-भोजन-निषेध के प्रसंग में गम्भीरतापूर्वक विचार करते हुए दो स्थितियों की सम्भावना की गयी है। प्रथम यह कि स्वास्थ्यरक्षा की कामना से चिकित्सक के निर्देश पर प्रतिदिन सूर्यास्त से पूर्व भोजन करना अथवा रात्रि मे प्रकाश आदि की व्यवस्था का सर्वथा अभाव होने से सुविधा की दृष्टि से सन्ध्या से पूर्व भोजन करना दूसरी स्थिति है कि दोनों सन्ध्या समयों को सम्मिलित करते हुए रात्रि में भोजन-त्याग का व्रत लेकर रात्रि में भोजन न करना। इन दोनों स्थितियों मे व्रतपूर्वक रात्रि-भोजन-त्याग ही पुण्य फलदायी होता है, विवशतापूर्वक रात्रिभोजन-निवृत्ति का कोई पुण्यफल नहीं मिलता।[22] रात्रिभोजन त्याग में खाद्य, स्वाद्य, लेह्य और पेय चारों प्रकार के भोज्य पदार्थो का उपयोग सम्मिलित किया जाता है।[23]

मुनि अभ्रदेव ने रात्रिभुक्ति अर्थात् रात्रिभोजन निषेध को रात्रिकाल मे चतुर्विध (खाद्य, स्वाद्य, लेह्य और पेय) भोज्य के त्याग तक ही सीमित नही रखा है। उन्होंने परस्त्रीविमुखता, दिवा-मैथुन-निषेध एवं स्वदार सन्तुष्टि को भी इसकी सीमा में सम्मिलित करना चाहा है।[24] यद्यपि इन्हें (परस्त्रीविमुखता आदि को) ब्रह्मचर्य अणुव्रत के मध्य गिनना अधिक उचित है।

रात्रि-भोजन क्यों न किया जाए, इस संदर्भ में श्रावकाचार सम्बन्धी ग्रन्थों में एक ही तर्क दिया गया है, वह है व्रत-रक्षा। भव्य धर्मोपदेश उपासकाध्ययन के लेखक महामुनि जिनदेव के अनुसार रात्रिभोजन के परिहार से सागार और अनगार अर्थात् श्रावक और मुनिजन दोनों के ही समस्त व्रतों की रक्षा होती है।

यत: मुनिजन अन्य विविध नियमों में बंधे रहते हैं, अत: उनके व्रतों की रक्षा तो अन्यथा भी हो सकती है; परन्तु श्रावकों के अणुव्रत की रक्षा के लिए रात्रिभोजन-निषेध तो अत्यन्त आवश्यक है।[25] जिनदेव मुनि के अतिरिक्त अन्य अधिकांश आचार्यों ने भी स्वीकार किया है कि रात्रिभुक्ति परिहार से मुख्यत: अहिंसाव्रत का पालन होता है।[26] रात्रिभोजन-निषेध से अहिंसा की निवृत्ति कैसे होती है, इस प्रसंग में जैन आचार्यो ने दो तर्क दिये हैं-प्रथम तो यह है कि सूर्य के प्रकाश के अभाव में भोजनकर्ता यह नहीं देख पाता कि भोजन में अभक्ष्य पदार्थ पड़ गये हैं अथवा जीव-जन्तुओं का प्रवेश हो गया है। फलत: अनजाने ही उनके द्वारा भोजन में प्रविष्ट हो गये कीट-पतंगों की हिंसा हो जाती है।[27] यदि प्रकाश के लिए दीपक आदि का प्रयोग किया जाता है, तो सर्वत्र अन्धकार की स्थिति में दीपक पर कीट-पतंगों का आगमन अनायास ही अत्यधिक होता है, वर्षा ऋतु में तो वह और भी अधिक बढ़ जाता है। इस प्रकार दीपक-प्रकाश में हिंसा के बढ़ने की ही सम्भावना है, घटने की नहीं।[28] रात्रिभोजन-परिहार से हिंसा की निवृत्ति का दूसरा कारण है रागादि मनोभावों पर विजय प्राप्त करने का प्रयास। भोजन के प्रति राग के कारण ही मनुष्य दिन-रात की परवाह किये बिना चाहे जब चरता रहता है। रात्रिभोजन-निषेध का व्रत लेने के अनन्तर वह (व्रती) सामान्यत: 34 घड़ी अर्थात् 14 घंटे भोजन के प्रति अपने राग को नियंत्रित करने का प्रयास करता ही है। अत: रागादि पर विजय पाने से अहिंसा की रक्षा अनायास होने लगती है।[29] भोजन विषयक राग पर नियंत्रण न होने पर सामान्य मनुष्य अन्न आदि भोज्य पदार्थो के साथ ही मांसाहार के प्रति भी भगवान् हो जाता है और उस स्थिति में अहिंसा की साध ना कैसे चल सकती है।[30] इस प्रकार रात्रिभोजन-परिहार श्रावक को हिंसाओं की सम्भावनाओं से सुरक्षित रखता है।

रात्रिभोजन-परिहार की महत्ता देखते हुए जैन आचार्यों ने इस पर बहुत अधिक बल दिया है। महामुनि अमितगति के अनुसार जो व्यक्ति दिन-रात चरता रहता है अर्थात् रात्रिभोजन-परिहार का व्रत नहीं करता, वह सींग, पूंछ और खुर रहित पशु ही है।[31] आचार्य वसुनन्दि के अनुसार इस व्रत का पालन न करने से सर्वत्र परिभव और चतुर्दिक संसार-सागर के दु:खों की पीड़ा भोगनी पड़ती है।[32] मुनि पूज्यपाद के अनुसार संसार में जो लोग पुत्र, पति आदि

से रहित दुर्भाग्यग्रस्त दिखायी पड़ते हैं, जो अंगहीन हैं अथवा जिनके दास भी कठोर और कटुभाषी हैं, उनकी ये सब पीड़ाएं रात्रिभुक्ति परिहार के अभाव के कारण ही होती हैं। इतना ही नहीं, उन्हें विविध व्याधियों की पीड़ा, बन्धु जन-वियोग, दरिद्रता आदि अनेक कष्ट भोगने पड़ते हैं।[33] आचार्य अमितगति की भी प्रायः यही मान्यता है। उनका कथन है कि शारीरिक व्यसनों की पीड़ा, सर्पादि से भय, निर्धनता, नीचकुल में जन्म अथवा नीच व्यक्तियों की संगति, संकुचित मनोवृत्ति का होना, चरित्र में शील, शौच आदि का अभाव, विविध रोग, दुर्जनों से प्राप्त पीड़ा आदि बहुविध पीड़ाएं रात्रिभोजन परिहार व्रत का पालन न करने के कारण होती हैं।[34] उनका यह भी कहना है कि रोग-शोक से युक्त, कलहकारिणी, राक्षसी के समान भय उत्पन्न करने वाली पत्नी अथवा दुःखी, दुश्चरित्र और रोगी कन्या का होना आदि कष्ट भी इस व्रत का पालन न करने के कारण ही प्राप्त होते हैं।[35] जैन आचार्यों की यह भी मान्यता है कि जो व्यक्ति रात्रिभोजन परिहार-व्रत का पालन नहीं करता, उसे कौआ, उल्लू, गिद्ध, सांप, बिच्छू, बिल्ली, सुअर आदि नीच योनियों में जन्म लेना पड़ता है। यदि कदाचित् कुछ पूर्व पुण्य से मनुष्ययोनि भी मिली तो नीचकुलों में जन्म, पुत्रहीनता, निर्धनता आदि दुःखों को भोगना पड़ता है।[36]

श्रावकाचार सम्बन्धी ग्रन्थों में रात्रिभोजन-परिहार व्रत की अत्यधिक प्रशंसा की गयी है। उनके अनुसार जो व्यक्ति दिनारम्भ और दिनावसान दोनो की दो-दो घड़ी और रात्रि में भोजन का परिहार करता है, वह मोह-पाश को भंग करता हुआ भवसागर को अनायास पार कर लेता है। वह जब तक संसार में रहता है, उसे सर्वाधिक सुख प्राप्त होते हैं। कमलनयनी, प्रियवादिनी, मनोरमा, लक्ष्मी सदृश प्रियतमा उसे जीवन भर सुख देती है। उसकी सर्वांग सुन्दरी कन्यायें कुलमर्यादा को निर्वाह करती हुई उसे पुण्य जन्म की पंक्ति में प्रतिष्ठित करती हैं।[37] महामुनि पूज्यपाद के अनुसार रात्रिभोजन परिहार-व्रत के पालन के फलस्वरूप ही सर्वविध सौंदर्य और स्वास्थ्य से युक्त, दिव्य वस्त्राभूषणों से सुसज्जित होकर सांसारिक सुख-भोग का अवसर मनुष्यों को मिलता है। वे यह भी मानते हैं कि इस लोक में जो समादरणीय नृपति जन हैं, उन्हें भी यह सौभाग्य रात्रिभोजन परिहार के कारण ही प्राप्त हुआ है।[38] जीवन में धनसम्पत्ति, पदप्रतिष्ठा, मोहमार्ग की अनुगामिता और मुनिभाव की

प्राप्ति भी इस व्रत के पालन से ही मिलती है, यह भी जैन आचार्य स्वीकार करते हैं।[39] जैन आचार्यों के अनुसार आज लोक में जो स्त्रियां बन्धु-बान्धवों से समादृत, पुत्रों से वन्दित, सर्वविध वस्त्राभूषणें से भूषित, व्याधियों से वर्जित, श्रीमती, लज्जावती, बुद्धिमती, धर्मपरायणा और सदा सुख भोगने वाली हैं, जिन्हें पति से बहुविध सम्मान और प्रेम प्राप्त है, यह सब सौभाग्य रात्रिभोजन-परिहार-व्रत के पालन से ही उनको मिलता है, सह समझना चाहिए।[40] रात्रिभोजन-परिहार की महिमा के प्रसंग में जैन आचार्यो की मान्यता है कि इस व्रत के पालन से न केवल प्रतिमास एक पक्ष पर्यन्त अर्थात् जीवन के आधे भाग में व्रत-उपवास करने का फल प्राप्त होता है, अपितु बहुविध व्रत-दान आदि असंख्य पुण्यों का फल उन्हें मिलता है।[41] एक स्थान पर महामुनि अमितगति यह भी कहते हैं कि इस महिमाशाली व्रत के पालन से उत्पन्न पुण्यराशि का वर्णन करना, सामान्य मनुष्य के सामर्थ्य से बाहर है, उसका वर्णन तो जिननाथ ही कर सकते हैं-

रात्रिभोजनविमोचिनां गुणा ये भवन्ति भवभागिनां परे।
तानपास्य जिननाथमीषते वक्तुमत्र न परे जगत्त्रये।।[42]

कहने का तात्पर्य यह है कि जैन-परम्परा में रात्रि-भोजनपरिहार की महिमा का बारम्बार गान किया गया है और इस व्रत को अहिंसा आदि व्रतो के पालन में अनिवार्य मानते हुए उनके समान ही समादृत किया गया है।

सन्दर्भ

1. पश्येम शरदः शतम् जीवेम शरदः शतम्
   शृणुयाम शरदःशतम प्रब्रवाम् शरदः शतम्
   अदीनाः स्याम शरदः शतम्, भूयश्च शरदःशतात्। यजुर्वेद 36/24

2. उपधाहि परोहेतुः दुःख दुःखाश्रयप्रदः।
   त्यागः सर्वोपधानां च सर्वदुःखव्यापोहकः।। (उपधा=भावदोष)
   यस्त्वग्नि कल्यानर्थान् ज्ञो ज्ञात्वा तेभ्यो निवर्तते।
   अनारम्भादसंयोगस्तं दुःखं नोपतिष्ठते।।
   धीधृतिस्मृति विभ्रष्टः कर्मयत्कुरुतेऽशुभम्।

प्रज्ञापराधं तं विधात्सर्वदोषप्रकोपणम्।।

चरकसंहिता शरीरस्थान 1.94, 96, 101

3. युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दु:खहा।। गीता 6/17

4. पद्मनन्दिपंचविंशतिकागत श्रावकाचार में देशव्रतोद्योतन-श्लोक 52

5. श्रावकाचार सारोद्धार (भाग 3) श्लोक 103, पृष्ठ 341

6. कुन्दकुन्दश्रावकाचार (भाग 4) 5/5, पृ. 43

7. (क) अमितगतिश्रावकाचार-5/42
(ख) श्रावकाचार सारोद्धार श्लोक 104

8. अथ दोषा च नक्तं च रजनाविति। अमरकोष, 3/6, पृष्ठ 444

9. अमितगति श्रावकाचार 5/41

10. कुन्दकुन्दश्रावकाचार 4/4, 4/7

11. श्रावकाचार सारोद्धार श्लोक 110।

12. अमितगति श्रावकाचार 5/45।

13. (क) श्रावकाचार सारोद्धार, श्लोक 106-107
(ख) अमितगति श्रावकाचार 5/4

14. (क) श्रावकाचार सारोद्धार, श्लोक 105, 113
(ख) पूज्यपाद श्रावकाचार, श्लोक 94
(ग) पुरुषार्थानुशासन, श्लोक 47

15. पुरुषार्थानुशासनगतश्रावकाचार, श्लोक 45

16. (क) वसुनन्दिश्रावकाचार, 315-316
(ख) पुरुषार्थानुशासन, 46
(ग) पूज्यपाद श्रावकाचार, श्लोक 86

17. प्रदोषो रजनीमुखम्-अमरकोष।

18. (क) अमितगतिश्रावकाचर 5/54
    (ख) श्रावकाचार सारोद्धार, श्लोक 116
19. श्रावकाचार सारोद्धार, श्लोक 109
20. (क) अमितगतिश्रावकाचार, 5/51
    (ख) श्रावकाचार सारोद्धार 115, 116
21. (क) अमितश्रावकाचार, 5/50।
    (ख) श्रावकाचार सारोद्धार, 114
22. (क) स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, श्लोक 81
    (ख) व्रतोद्यान श्रावकाचार, श्लोक 143
23. भव्यधर्मोपदेश उपासकाध्ययन, श्लोक 89
24. पुरुषार्थ सिद्धयुपाय-134 एवं 129, यशस्तिलकचम्पू-310, स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा-80, रत्नकरण्डश्रावकाचार 142, श्रावकाचारसारोद्धार-111
25. अमितगतिगवकाचार, 5/40, भव्यधर्मोपदेश उपसकाध्ययन, 87
26. पुरुषार्थसिद्धयुपाय-133
27. पुरुषार्थसिद्धयुपाय-130
28. पुरुषार्थसिद्धयुपाय-132
29. (क) अमितगतिश्रावकाचार 5/44
    (ख) श्रावकाचार सारोद्धार-112
30. वसुनन्दिश्रावकाचार-317
31. पूज्यपादश्रावकाचार 87-91
32. अमितगतिश्रावकाचार 5/58-60
33. अमितगतिश्रावकाचार 5/57

34. (क) अमितगति श्रावकाचार 5/65
(ख) श्रावकाचार सारोद्धार, श्लोक 118

35. अमितगतिश्रावकाचार 5/47-61

36. पूज्यपाद श्रावकाचार, श्लोक 88-93

37. पुरुषार्थानुशासन, श्लोक 48।

38. श्रावकाचार सारोद्धार, श्लोक-120-121, अमितगतिश्रावकाचार, 5/62-66

39. श्रावकाचार सारोद्धार, श्लोक 108, अमितगतिश्रावकाचार, 5/49, पुरुषार्थानुशासन, श्लोक 49

40. अमितगतिश्रावकाचार, 5/67

पूर्व रीडर-संस्कृत विभाग
एस.डी. कालेज, मुजफ्फरनगर

●●

जैन संस्कृति सम्पन्न भव्य प्राचीन केन्द्र फतेहपुर सीकरी

- सुरेशचन्द्र बारोलिया

उत्तर प्रदेश भारतीय संस्कृति का आदि स्रोत रहा है। यहीं पर भारतीय संस्कृति और सभ्यता की नींव रखी है। यहाँ पर श्रमण जैन धर्म की स्थापना हुई और अहिंसा का प्रथम उद्घोषणा हुई। मानव सभ्यता की आधार शिला यहीं रखी गयी समाज कल्याण, राज व्यवस्था, विवाह व्यवस्था, धर्म व्यवस्था का आरम्भ यहीं से हुआ, यह लिपि और विधाओं के आविष्कार का केन्द्र बिन्दु रहा है। उत्तर प्रदेश जनपद का आगरा प्रमुख जैन केन्द्र है। आगरा के आस-पास नगरों ग्रामों, कस्बों में जैन मूर्तियाँ हैं। तीर्थक्षेत्रों तथा अतिशय क्षेत्रों के अलावा यहाँ किसी समय जैनियों की अच्छी बस्ती थी। आज उनमें से कुछ तो समय की गति के साथ ही जन शून्य स्थानों के रूप में परिवर्तित हो गये हैं तथा कहीं-कहीं पर उनके स्मारक ही शेष रह गये हैं। वर्तमान में जैन पुरातत्व की बहुत ही वस्तुयें जो खुदाई में प्राप्त हो रही हैं उनके शिला लेख, ताम्रपत्र, प्रतिमाएँ आदि अब भी अवशिष्ट खण्डहरों में उनके पूर्व वैभव का स्मरण करा रही है। आज ये ध्वंशावशेष समाज के विद्वानों का ध्यान उनके पुरातत्व के उद्घाटन व इतिहास के संकल्प की ओर आकृष्ट कर रहे हैं। आज न जाने कितने ऐसे स्थान होंगे जिनके ऐतिहासिक विवरण समय की काली चादर में लिपटे हुये पृथ्वी पर सिमटे पड़े होंगे। न जाने धरती के गर्भ मे कौन-कौन से रहस्य छिपे हुये हैं।

अभी कुछ माह पूर्व आगरा जनपद से 36 किलोमीटर दूरी पर पुरातत्व विभाग द्वारा फतेहपुर सीकरी में वीर छबीले टीले पर खुदाई के दौरान भूगर्भ से अनेकों मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। उत्खनन में जहाँ महत्वपूर्ण कड़ियाँ जुड़ रही हैं वहीं आने वाली पीढ़ी के लिये नये इतिहास का सृजन हो रहा है। उत्खनन से प्राप्त सामग्री के आधार पर अनुमान है कि फतेहपुर सीकरी देश का पहला

हेरिटेज सिटी होगा तथा पर्यटकों का प्रवाह ताजमहल से भी अधिक प्रभावकारी होगा। जिस प्रकार रोम और पोम्मई हेरिटेज सिटी है उसी तरह दुनिया के लोग सीकरी देखने आया करेंगे।

सीकरी का प्राचीन वैभव :

सीकरी क्षेत्र पुरातात्विक सर्वेक्षण के आधार पर ई.पू. 15वीं और 12वीं शताब्दी पूर्व की अपने वैभव की कहानी बता रहा है। यह मत वहाँ से प्राप्त धूसर भॉड, वहाँ उपलब्ध प्राकृतिक मानव गुफाओं में चित्रित है। ईसा की प्रथम शताब्दी, सम्राट कनिष्क के काल में सीकरी थी। कुषाणकाल की ब्राह्मी लिपि का एक अवशेष भी सीकरी के निकट किरावली क्षेत्र से प्राप्त हुआ है तथा गंधार शैली की मूर्तियाँ तथा अबिंका की मूर्ति भी प्राप्त हुई हैं। चौथी सदी की गुप्त काल की मिट्टी की दीवार और मूर्तियाँ भी उत्खनन से प्राप्त हुई हैं। शिला लेखों के आधार पर यह सिद्ध होता है कि ईसा की प्रथम से चौथी शताब्दी में भी फतेहपुर सीकरी एक समृद्धशाली तथा वैभव सम्पन्न नगरी थी। सन् 1871-72 में भी कई क्षेत्रों की खुदाई में प्राचीन प्रतिमाएं मिली थीं। सम्भव है कि उन दिनों आगरा कलात्मक मूर्तियाँ बनाने का केन्द्र रहा हो। आगरा गजेटियर सन् 1884 पृष्ठ 482-83 में उल्लेख करते हुए लिखा है कि सीकरी क्षेत्र बहुत प्राचीन था तथा इसको सन् 815 ई. में चन्द्रराज ने सीकरी को बसाया था। सीकरी पर सिकरवार (शिखरवार) जैन तथा राजपूत राजाओ का प्रभुत्त्व था इस क्षेत्र में हिन्दू व जैन मन्दिर के भग्नावशेष आज भी बताये जाते हैं। राजपूत काल के मन्दिरों के खम्भों व विष्णु के चक्र आदि के अवशेष अब भी उपलब्ध बताये जाते हैं।

10वीं सदी में सीकरी का नाम सैंकरिक्य-जैन आचार्यों की बस्ती थी

भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण विभाग द्वारा फतेहपुर सीकरी में विगत कुछ पूर्व खुदाई करवाई गयी थी, उनसे जो मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं तथा उन पर लिखा हुआ शिलालेख संस्कृत भाषा में है। 10वीं शताब्दी की संस्कृत भाषा व्याकरण शाब्दिक दृष्टि से कमजोर थी। कई शब्द अपभ्रंश के थे लेकिन इनका प्राचीन भारतीय इतिहास शोध परिषद्, नई दिल्ली के डॉ. विरजानंद तथा डॉ. देवकरण जी ने संयुक्त रूप से अनुवाद किया है। डॉ. देवकरण जी प्राचीन पांडुलिपियो

के विशेषज्ञ माने जाते हैं। वैसी भी पुरातत्त्व विभाग की (एपिग्राफी शाखा) प्राचीन लेख मुद्रा शाखा ने भी इन शिलालेखों का गहन अध्ययन किया है तथा जैन पक्षिणी की चतुर्भुज प्रतिमा पर संस्कृत में अंकित हैं, जिसका अर्थ है ओम विक्रम संवत् 1067 (1010 ईसवी) बैशाख शुक्ला पक्ष नवमी को श्री वज्राम के राजा सीकरी नगर- जो शान्ती विमलाचार्य की बस्ती है में संचाभर और मल्लिक्या वाणी सेठों ने श्री सरस्वती प्रतिमा की स्थापना कराई। साथ में शिल्पकार का नाम आदिल भी अंकित है तथा उसका नाम अन्य शब्दों में बड़ा है-हो सकता है कि आदिल मूर्तिकला में काफी प्रभावशाली रहा हो। इसी प्रकार द्वितीय लेख ऋषभदेव जैन तीर्थकर की प्रतिमा, जो उत्खनन में प्राप्त हुई है उस पर लिखा शिला लेख का अर्थ है विक्रम संवत् 1079 ज्येष्ठ मास शुक्ल पक्ष एकादशी (1022 ईसवी) रविवार के दिन स्वाति नक्षत्र में श्री ऋषभदेव प्रथम जैन तीर्थकर की प्रतिमा की स्थापना, श्री विमलाचार्य की संतान परम श्रद्धेय देवराज और उनकी पत्नी धनपति इन दोनों ने करवाई। तृतीय जैन तीर्थंकर सम्भवनाथ की प्रतिमा के साथ शिलालेख पर लिखा है कि विक्रम संवत 1079 ज्येष्ठ मास शुक्ल पक्ष एकादशी रविवार (1022 ई.) के दिन स्वाति नक्षत्र में श्री सम्भवनाथ तृतीय जैन तीर्थकर की प्रतिमा की स्थापना श्री विमलाचार्य की संतान परम श्रावक देवराज और उनकी पत्नी धनपति इन दोनों ने करवाई। प्रतिमा में लिखे संतान शब्द से अभिप्राय अपने निजी पुत्र अथवा परम्परा से प्राप्त शिष्य दोनों ही सम्भव है। इस प्रकार तीन शिला लेख यह सिद्ध करते हैं कि यहाँ जैन आचार्यो की बस्ती थी तथा वेदी प्रतिष्ठा हुआ करती थी। यहाँ पर खुदाई के दौरान जो जैन सरस्वती की मूर्ति मिली है वह कला की दृष्टि से अद्वितीय है विश्व में इससे सुन्दर सरस्वती की कोई मूर्ति नहीं है। उस भव्य सरस्वती मूर्ति के शीर्ष पर दोनों ओर दिगम्बर जैन तीर्थकरो की मूर्तियाँ धारण किये हुये अंकित है। मूर्ति की केश सज्जा, हार, कानों के कुण्डल आभूषण एवं पैरों की पैजनियों की छवि अति विमुग्धकारी एव सर्वश्रेष्ठ सुन्दरता को सिद्ध करती है। मुकुट मण्डल में भी तीर्थंकर की प्रतिमा विराजित है। ऋषभदेव के प्रतिहारों द्वारा मूर्ति के दोनों ओर चँवर ढोले जा रहे हैं तथा कमर में बंधी करदोनी भी श्रृंगार का अद्वितीय रूप लिये है। इसी प्रकार संभवनाथ की मूर्ति पर दोनों ओर तीर्थंकरों की चौबीसी भव्य रूप में उत्कीर्ण

है। इसमे प्रमाणित होता है कि यह क्षेत्र काफी भव्य था जिस स्थान पर सरस्वती की मूर्ति मिली है वहाँ बहुत भव्य विशाल जैन मन्दिर होगा। ऐसी प्रतिमा विशाल भव्य जिन मन्दिरों में ही विराजमान की जाती है।

यहाँ की गुफाओं में रंगीन शैल चित्र विद्यमान हैं महाभारत में सीकरी का उल्लेख शौक के नाम से मिलता है। शौक का अर्थ जल से घिरा क्षेत्र होता है यहाँ एक बहुत बड़ी झील थी। उत्खनन से प्राप्त सरस्वती की प्रतिमा पर लिखे लेख में सीकरी का नाम सैकरिक्य है। प्रतिमा पर लिखे श्लोक से ज्ञात होता है सीकरी एक भव्य विशाल प्राचीन नगरी थी तथा यहाँ विशाल जैन मन्दिर थे। यहाँ मानव निवास का प्रमाण भी मिलता है। मध्य युगीन शहर सीकरी भारत की साझी संस्कृति का प्रतीक है। खोजबीन ने यह पाया है कि भारत का कोई शहर स्मारकों की दृष्टि से इतना अमीर नहीं है जितना सीकरी है। यह क्षेत्र जैन संस्कृति एवं मन्दिरों का प्रमुख गढ़ है। सीकरी में 92 स्मारको का समूह था। भारतीय इतिहास में सीकरी अपनी अद्वितीय विशेषताओं के लिये प्रसिद्ध था इसलिये यूनेस्को ने विश्व के प्रमुख स्मारकों की श्रेणी मे सीकरी को रखा है।

सीकरी का विनाश एवं पतन :

महान् आत्माओं की स्मृति में राजाओं, धनी व्यापारियों तथा जन सामान्य ने अपनी श्रद्धा व सामर्थ्य के अनुसार सीकरी नगर में तथा आसपास अनेको स्मारक जैन मन्दिर, मठ आदि का 10वीं सदी तक समय-समय पर निर्माण करवाये थे। 11वीं सदी में बर्बर विदेशी आक्रमणों से वे प्राचीन मन्दिर ध्वस्त होकर टीले के रूप में परिवर्तित हो गये। सन् 1126 तथा 1136 में महमूद गजनवी ने आगरा तथा सीकरी पर आक्रमण किया। मन्दिरों को तहस-नहस किया; उनको ढहा दिया गया और मूर्ति के साथ क्रूरता से पेश आया गया। उनको सिर से अलग कर मुख को नष्ट कर दिया गया। सीकरी नगरी को उजाड़ दिया गया। जैन मूर्तियों को टूटी अवस्था में एक गड्ढे में दबाकर दीवार खड़ी कर दी गयी। इसके बाद 13वीं सदी में अलाउद्दीन खिलजी भी सीकरी आया उसने भी मन्दिरों को नष्ट किया। महमूद गजनवी ने तो आगरा सीकरी में कत्लेआम भी किया और उजाड़ कर तुच्छ गांव के रूप में छोड़ गया।

मोहम्मद गौरी तो आगरा व आसपास के स्थानों को लूटकर 1500 सौ ऊंटों पर लूट का माल ले गया था। 6 जुलाई सन् 1505 में आगरा व आसपास एक भयंकर भूकम्प आया था, जिससे अनेकों इमारतें नष्ट हो गयीं तथा आगरे का प्राचीन बादलगढ़ का किला भी नष्ट हो गया। एक उल्लेख के अनुसार सन् 1501 में सिकन्दर लोदी आगरा आया और उसने इसे अपनी राजधानी बनाया। सिकन्दर लोदी का व्यवहार भी हिन्दुओं तथा जैनों के साथ असहिष्णुता का था। बताते हैं कि एक ब्राह्मण ने इतना कहा कि हिन्दू और मुसलमान दोनों का मत सच्चा है इस बात पर उसने उसकी जान ले ली और मन्दिरों को नष्ट कर डाला तथा तीर्थ यात्राओं पर रोक लगा दी। सन् 1526 में मुगल सम्राट बाबर भारत आया 'बाबरनामा' में उल्लेख है कि बाबर को भारत में जिन विरोधियो की शक्ति का भय था उसमें प्रमुख थे उदयपुर नरेश राणा सांगा। उसने मुकाबला करने के लिये सीकरी को ही चुना और 25 फरवरी 1527 को बाबर राणा सांगा का युद्ध खानवा के मैदान में सीकरी में हुआ जिसमें बाबर की विजय हुई। उस समय भी मूर्तियों को नष्ट किया गया। बाबर की आत्मकथा 'बाबरनामा' पुस्तक जो विश्व की 20 प्रसिद्ध पुस्तकों में गिनी जाती है उसमें भी मन्दिरों को तोड़ने, नष्ट करने की जानकारी दी गयी है। उसी समय एक मुसलमान सन्त शेख सलीम चिश्ती भी दिल्ली से आकर सीकरी की गुफाओं में धर्म ध्यान में लीन रहने लगा। 26.12.1530 को बाबर का निधन हो गया। हुमायूँ गद्दी पर बैठा लेकिन उसका ध्यान सीकरी की ओर नहीं गया तथा 30.10.1558 को अकबर सम्राट आगरा आ गया उसने अपना निवास स्थान प्रथम आगरा में बनाया।

सीकरी का उत्थान एवं विकास :

सीकरी के इतिहास में एक नया मोड़ आया। उन्नति एवं विकास के शुभ लक्षण नजर आने लगे। कहा जाता है कि मुगल सम्राट् अकबर की दो संतानें बाल्यकाल में मृत्यु को प्राप्त हो गयी, जिससे उत्तराधिकारी की चिन्ता में सम्राट् अकबर दुखी रहने लगा। उसकी भेंट सीकरी की पहाड़ी गुफा में उस युग के प्रसिद्ध सलीम चिश्ती से (जो साधना में लीन रहता था) हो गयी। उसने अकबर के 3 संतान होने का वचन दिया। आमेर की हिन्दू राजपूत रानी की गर्भावस्था के दिन पूर्ण होने के थे। उसने रानी के शेख सलीम के पास भेज

दिया जहाँ 30 अगस्त 1569 को शहजादे सलीम (जहांगीर) का जन्म सीकरी में हुआ। दूसरा पुत्र मुरादमी 1570 में सीकरी में पैदा हुआ। शेख साहब का आशीर्वाद व कृपा मानकर उसने आगरा को अशुभ जानकर तथा शेख सलीम जहाँ निवास करता था उसे शुभ और मंगलकारी मानकर एक नवीन नगर के निर्माण के रूप में सीकरी का विकास किया और सीकरी को अपनी राजधानी बनाया। सन् 1569 से 1584 तथा 15 वर्ष की अल्पकाल तक राजधानी रही। अकबर के राज्य में राजधानी सीकरी होने के कारण अनेकों महल, भव्य इमारतों का निर्माण कार्य 1957 से शुरू होकर तथा 6-7 वर्ष तक चला। राजधानी सीकरी में 13 सरकारें जिले तथा 203 परगने थे। आगरा का क्षेत्र 1864 वर्ग मील था। अकबर द्वारा बनाये गये भव्य भवन उस समय की अपनी भव्यता को मूक शब्दों में आज भी कहते हैं।

मुगल सम्राट् अकबर पर जैन धर्म का प्रभाव :

जैन संत अपने आचार-विचार एवं चरित्र शुद्धता के कारण विश्व में जाने जाते हैं। समय समय पर अनेकों राजाओं को विभिन्न जैन संतों से प्रतिबोध पाकर अपने जीवन को धन्य ही नहीं किया, बल्कि जनहित में ऐसे कार्य भी किये हैं जो इतिहास के पन्नों में स्वर्ण अक्षरों में अंकित हो गये हैं। मुगल काल में आचार्य हरिविजय सूरी उपाध्याय, संगम सुन्दर, शान्ति चन्द्रजी, कल्याण सागर सूरि आदि अनेकों मुनियों ने मुगल बादशाहों पर अपना प्रभाव डालकर उनका जीवन परिवर्तित कर जैन धर्म की प्रभावना की है। इनका वर्णन जगद्गुरु काव्य नामक ग्रन्थ में मिलता है। एक दिवस अकबर सम्राट् अपने राजमहल की छत पर बैठा था उसने राजमार्ग की ओर देखा कि एक महिला पालकी में बैठकर गाजे-बाजे तथा सैकड़ों श्रद्धालुओं के जय-जयकार के साथ जिन मन्दिर की ओर जा रही है। जानकारी करने पर ज्ञात हुआ कि इस महिला ने 6 महीने का उपवास किया है केवल रात्रि के पूर्व गर्म जल लेती है इसके 5 माह व्यतीत हो गये हैं तथा आज जैन समाज का कोई विशेष पर्व होने के कारण मंदिर में पूजा-अर्चना करने हेतु जा रही है तथा इस महिला का नाम चम्पा बहिन है। सम्राट् को विश्वास नहीं हुआ। यद्यपि उसका तेज मुख मुद्रा को देखकर तपस्या, कठोर साधना के विषय में काफी कुछ सत्यता प्रतीत होती थी। फिर भी; इसकी परीक्षा करनी चाहिये। इस विचार से राजा ने एक

माह तक अपने एकान्त महल के अन्दर रहने की व्यवस्था के साथ आज्ञा दी तथा सुरक्षा तथा गुप्तचरों को भी सावधान कर दिया। चम्पा अहिन को एक माह समय निकालना कोई बड़ी बात नहीं थी। अकबर को उसके पवित्र आचरण, कठिन तपस्या, कठोर साधना की सत्यता मालूम होने पर राजा आश्चर्य चकित रह गया। उसने अनेकों प्रश्न किये, कहा इतनी कठोर साधना क्यों और किसके प्रभाव से करती हो उत्तर था-तपस्या आत्म-कल्याण हेतु की जाती है जैन सन्तों के मंगलकारी उपदेश के प्रभाव से जीवन के कल्याण हेतु साधना, कठोर व्रत धारण करते हैं। अकबर के मन में जैन सन्तों के दर्शन की अभिलाषा जागृत हो गयी है। उस समय अहमदाबाद के पास खम्मात के प्रवास कर रहे हरिसूरिजी को राजा से भेंट करने का आमंत्रण भेजा गया। विचार विमर्श के बाद अकबर से भेंट करने का निर्णय लिया तथा ज्येष्ठ सुदी 13 सम्वत् 1639 सन् 1582 में जैन आचार्य अपने 13 विद्वानों सहित सीकरी पहुँच गये। बादशाह ने विनय आदर पूर्वक रत्न जड़ित सिंहासन पर बैठने का अनुरोध किया। संत ने कहा अहिंसावादियों के लिये वस्त्रों पर बैठना, ग्रहण करना, उनको छूना भी निषेध है। किसी जीव की हत्या तो क्या दुख देना भी नही चाहिए। ऐसा हमारे धर्मशास्त्र कहते हैं तथा आवागमन में भी जीवों की हत्या न हो किसी प्रकार के वाहनों का प्रयोग नहीं करते हैं तथा 4 हाथ आगे देखकर चलते हैं जिससे किसी की हत्या न हो। तथा पाँच महाव्रतों का पालन करते हैं। गृहस्थो को भी श्रावक धर्म का पालन करना पड़ता है। गृहस्थों के लिये जो भूषण हैं वह साधुओं के लिये दूषण है। इस प्रकार अनेकों प्रश्न चर्चा करने पर तथा उनका सटीक उत्तर मिलने पर अकबर के ऊपर काफी प्रभाव पड़ा। अहिंसा से प्रभावित होकर जैन धर्म के पर्वो पर पर्यूषण पर्व, जीव हिंसा बन्द कराने के आदेश दिये। सन् 1582 में उसने पिजड़ों में बंद सभी पक्षियो को छुड़वा दिया तथा सीकरी के पास डाबर के तलाब में मछली न मारने का भी आदेश जारी कर दिया। इनका उल्लेख हरिति जय सरिदास तथा जैन ऐतिहासिक गुर्जर काव्य संचय में भी मिलता है। जैन संतों का उसके ऊपर बहुत प्रभाव पड़ा तथा सुरिगों से प्रभावित होकर उसने एक भव्य समारोह का आयोजन करके उनको जगद्गुरु की उपाधि से सम्मानित किया। सन् 1583 मे अकबर के अनुरोध पर जैन सन्तों ने सीकरी में चातुर्मासकर धर्म की प्रभावन

को भी बढ़ाया था।

अकबर ने सम्वत् 1640 में आगरे का प्रसिद्ध चिन्तामणि पार्श्वनाथ के मन्दिर का निर्माण कराकर उसकी वेदी प्रतिष्ठा का भव्य आयोजन किया। सन् 1585 में उसने जजिया कर जो तीर्थयात्रियों पर लगता था बन्द करा दिया तथा जैन तीर्थ सम्मेदशिखर पावापुरी गिरनार शत्रुंजय (पालीताना) केसरिया जी आदि अनेकों तीर्थ जैन समाज को दे दिये गये तथा जीव हत्या न करने के आदेश भी जारी कर दिये। जैन सन्तों के उपदेश से एक मुसलमान शासक जो सवासेर चिड़ियों की जीभ प्रतिदिन खाया करता था। उसने मांसाहार का त्याग कर दिया तथा साल में 6 महीने पशुवध का निषेध करवा दिया तथा हत्या करने पर दण्ड का विधान रखा गया।

सीकरी के स्मारकों पर जैन स्थापत्य का प्रभाव :

अकबर ने वर्ष 1569 से 1584 ई. तक सीकरी को राजधानी बनायी थी। इस स्थान पर बनाये गये भव्य महल विश्व प्रसिद्ध बुलन्द दरवाजा, जोधाबाई का महल, दीवाने खास, पंच महल तथा पहाड़ी टीले पर स्थित खण्डहर, भव्य स्मारक, उस समय की गाथा अपने मूक शब्दों में कहते हैं। सन् 1573 मे गुजरात प्रान्त के विजय के उपलक्ष्य में इस स्थान का नाम फतेहपुर सीकरी रखा गया तथा सीकरी की प्राचीनता का अस्तित्व अक्षुण्ण बना रहे तथा इसकी पहचान के लिये पुराना नाम भी साथ में रखा। यह स्थान अब फतेपुर सीकरी के नाम से जाना जाता है। अकबर ने हिन्दू तथा जैन मन्दिरों का निर्माण किया तथा अपने महलों में भी पूरा का पूरा खंड जैन स्थापत्य के अनुरूप बनवाया गया। दीवाने आम को देखकर ऐसा लगता है कि पश्चिमी राजस्थान तथा गुजरात के जैन मन्दिरों तथा हवेलियों में प्रयुक्त होने वाले जैन स्थापत्य के खंड को फतेहपुर सीकरी में स्थापित कर दिया गया है। पंच महल के शीर्ष भाग में उत्तीर्ण विभिन्न अलंकरण जैन प्रतीकों से ही ग्रहण किये गये हैं। उदाहरण स्वरूप वृक्ष, घट, पल्लव, नंद्यावर्त आदि हैं। जोधाबाई के महल के गवाक्षों पर भी जैन स्थापत्य तथा तोरणों का प्रयोग भी सजावट के लिये किया गया है। सम्पूर्ण महल की सजावट राजस्थान शैली की तथा जैन प्रतीकों के प्रयोग यहां अलंकरण के रूप में किया है। जैन चिन्ह व स्वास्तिक, कलश,

नंद्यावर्त यहां तक की तीर्थंकरों के लांक्षन सम्बन्धित तथा यक्ष यक्षिणी केवाहन और आयुध आदि स्मारकों में साज-सज्जा के लिये स्वीकार किये गये हैं। निश्चय ही इस प्रकार की सज्जा अलंकरण मुस्लिम वास्तुकला के नियम के अनुकूल नहीं है जहां किसी प्राणी के रूप में प्रस्तुति करना वर्जित है। दीवाने-आम की बनावट शुद्ध भारतीय शैली की है।

यहाँ के समारकों में अलंकारिता के चित्रण में बहुत योगदान जैन आचार्यो के प्रभाव से उत्पन्न सहिष्णुता का हाथ होने के साथ-साथ अपनी अवधारणा के योगदान में इन स्मारकों की बनावट तथा सजावट पर जैन कला की एक अमिट छाप है।

विदेशी यात्री तथा इतिहासकारों का कथन :

सीकरी के स्मारकों, महलों, चबूतरों आदि के बारे में कुछ प्रमुख विदेशियों ने सीकरी के बारे में अपने विचार निम्न प्रकार से प्रस्तुत किये हैं--

श्री ई.वी. हैवले का कहना है कि सीकरी में मुख्य ज्योतिषी का आसन निश्चय जैन स्थापत्य का एक विशुद्ध प्रतीक है। यह चौकोर चबूतरा जिसके चारों ओर कोनों पर स्तम्भ बने हैं जिनके शीर्ष पर एक गुम्बद टिका हुआ है। गुम्बद के वजन को समान रूप में वितरित करने के लिये प्रत्येक स्तम्भ के मध्य भाग से मकर मुख से निकलती कमल लता ऊपर जाकर दोनों ओर से धारण कर केन्द्र से मिलकर आधार बनाती है। वन्दनवार युक्त तोरण का रूप धारण करती है इसलिये इसे मकर तोरण नाम दिया है जो कि जैन मन्दिरों में बहुलता से मिलता है। इसी प्रकार जोधाबाई के महल की बनावट-सजावट राजस्थानी जैन शैली की है इसके प्रत्येक द्वार से लेकर गवाक्ष वाले स्तम्भ जालियां छतरियां आदि तथा जंजीरों में लटकते हुए घन्टे का चित्रण जैन शैली की ओर आकर्षित करता है। यहां सोने चांदी के सिक्के ढाले जाते थे।

अंग्रेजयात्री शल्फ फिच :

यह यात्री 1585 में भारत आया था। उसने कहा है कि आगरा और फतेहपुर सीकरी दोनों बड़े शहर हैं उनमें से हरेक लन्दन (इंग्लैंड) से बड़ा है तथा निवासी सकुशल हैं।

पुर्तगाली जेसुईट पादरी पिन्हेरी :

यह पादरी 1595 में आया, उसने लिखा है कि अकबर जैन धर्मनुयायी हो गया था। अहिंसा उसके जीवन का मनन-चिन्तन बन गया था। मद्य, मांस, जुआ के लिये निषेध कर दिया गया था फरमान जारी किये उसका जीवन शाकाहारी, जीव-दया, सामाजिक नैतिकता आदि गुणों से भरपूर था।

आधुनिक इतिहासकार डॉ. स्मिथ :

अकबर की जैन धर्म पर बड़ी श्रद्धा थी। उसने उपदेशों से प्रभावित होकर अपने शासनकाल में जहां जैन मन्दिर तोड़े गये थे पुन: मन्दिर स्थापित करवा दिये। मन्दिर तोड़कर जो मस्जिद बनी उनको तुड़वाकर जैन मन्दिर की स्थापना करवायी। सहारनपुर का प्रसिद्ध सिधवान का जैन मन्दिर के विषय में ऐसी ही कथा प्रचलित है।

धार्मिक अनुष्ठान में अकबर का योगदान :

बादशाह अपने जीवन में जैन धर्म की शिक्षाओं को उतारने का प्रयास निरन्तर करता रहता था। धार्मिक अनुष्ठान, वेदी प्रतिष्ठा विधान आदि क्रियाओ का राजा के जीवन पर भारी प्रभाव पड़ा था। धार्मिक क्रियाओं के बारे में एक घटना प्रचलित है कि अकबर के बेटे सलीम के घर कन्या का जन्म हुआ तो ज्योतिषियों ने इसे बहुत ही अनिष्ट कारक बताया और ग्रह शान्ति हेतु उसने एक विशाल जैन धार्मिक अनुष्ठान- शान्तिनाथ विधान का भव्य आयोजन किया। प्रतिष्ठाचार्य के रूप में बीकानेर के कर्मचन्द वच्छावत को जैन धर्मानुसार विधि-विधान एवं धार्मिक क्रिया हेतु सम्मान सहित आमंत्रण दिया और शान्ति विधान चैत्र शुक्ला पूर्णिमा के दिन भगवान सुपार्श्वनाथ का अभिषेक स्वर्ण रजत कलशों से बड़े समारोह पूर्वक सम्पन्न किया। इस धार्मिक अनुष्ठान में सम्राट् अपने पुत्रों और दरबारियों सहित सम्मिलित हुआ तथा अभिषेक का गन्धोदक को विनय पूर्वक मस्तक पर लगाया तथा बेगमों के लिए उनके महल में गन्दोधक लगाने हेतु भिजवाया। उसने मन्दिर को 10 हजार स्वर्ण मुद्रायें भेंट की। अकबर के शासन में 1579 में हुई बिम्ब-प्रतिष्ठा सर्व प्रथम प्रतिष्ठा थी। सम्राट् ने आष्टान्हिका के दिनों में पशुवध बंद कर दिया। साल के 365 दिन में 175 दिन पशुवध बन्द करवा दिया था। जैन सिद्धान्तों के प्रति अनुराग तथा

जैन धर्म का पालन करने वाला वह सर्वश्रेष्ठ मुगल सम्राट् माना जाता था। इसके समय में हिन्दी ग्रन्थ लेखन तथा जैन साहित्य लेखन के कार्य को भी अधिक महत्व दिया जाता था श्री लालदास ने 1586 में इतिहास भाषा ग्रन्थ लिखा तथा कविवर बनारसीदास ने भी अनेकों ग्रन्थ लिखे। उस समय जैन पंच पुरुषों में आध्यात्म ज्ञानी वासू शाह ओसवाल प्रमुख थे। अकबर की पुस्तकालय में 24000 हजार पुस्तकें थीं। अनेकों प्राचीन पुस्तकों तथा संस्कृति की किताबों का तथा उस समय प्रचलित लोकप्रिय साहित्य का अरबी फारसी भाषा में अनुवाद कराया था।

इस प्रकार फतेहपुर सीकरी में किये गये पुरातात्त्विक उत्खनन एवं खोजों से यह सिद्ध होता है कि मानव का विकास प्रागैतिहासिक पाषाण युग में होता आया है और अजैन पौराणिक व अन्य साहित्यिक साक्ष्यों तथा मौखिक अनुश्रुतियों ऐतिहासिक पुरावशेषों से बहुत कुछ प्राचीनता पर प्रकाश पड़ता है। वर्तमान में मिली हुई जैन पुरातत्त्व की बहुत-सी वस्तुयें तथा शिलालेख प्रतिमायें आदि अवशिष्ट खण्डहरों में उसके पुरातत्त्व के उद्घाटन व इतिहास के संकलन की ओर आकृष्ट कर रहे हैं।

आशा है समाज के श्रीमन्तों एवं पुरातत्त्व के द्वारा काल तथा अवशिष्ट ध्वंसावशेषों की खोज करने उनके इतिहास व अपनी संस्कृति का ज्ञान प्राप्त करने की ओर अभिमुख होंगे।

सन्दर्भ

1. आगरानामा पेज-9, 18, 45, 50, 54
2. ऋषभ सौरभ-1998, 1992
3. भारत का इतिहास पेज 414
4. अर्धकथानक पेज 99
5. मुगल सम्राटों की धार्मिक नीति पर जैन संतों का प्रभाव-डॉ. नीना जैन
6. प्रमुख अखबार अमर उजाला 3 फरवरी तथा 30 दिसम्बर 2000

7. पंचायत राज 23 अक्टूबर
8. जैन गजट 2 मार्च 2000
9. जैन विचार सरिता 9 अक्टूबर
10. संस्कृति के चार अध्याय, दिनकर पेज 330
11. शहनशाह जहांगीर का नाकाबिले फरामोश।

वी-677, कमलानगर, आगरा

पण्डितप्रवर आशाधर के सागारधर्मामृत की प्रमुख विशेषतायें

- **डॉ. रमेश चन्द जैन**

पण्डितप्रवर आशाधर तेरहवीं शताब्दी के जैनागम में निष्णात सुप्रसिद्ध विद्वान् थे। उनका सागारधर्मामृत उनके वैदुष्य का परिचायक तो है ही, साथ ही उनके विस्तृत स्वाध्याय और निपुणमति को द्योतित करता है। उन्होंने अपने समय तक लिखे गए सभी श्रावकाचार परक ग्रन्थों का अध्ययन किया था। वे ब्राह्मण साहित्य के भी गवेषी विद्वान् थे, तत्कालीन समाज की आवश्यकता का भी उन्हें ध्यान था। अतः उनका सागारधर्मामृत एक ऐसी रचना बन गई, जिसका अध्ययन करने पर पूर्ववर्ती श्रावकाचारों का अध्ययन अपने आप हो जाता है। इसके अतिरिक्त उनके कथनों की अपनी विशेषतायें भी हैं, जिन पर प्रकाश डाला जाता है-

भद्र का लक्षण

पण्डित आशाधर जी के समय तक ज्ञान का ह्रास हो चुका था। सच्चे उपदेश देने वाले दुर्लभ थे। अपनी पीड़ा को वे इन शब्दों में व्यक्त करते है -

कलिप्रावृषि मिथ्यादिङ्मेघच्छन्नासु दिक्ष्विह।
खद्योतवत्सुदेष्टारो हा द्योतन्ते क्वचित् क्वचित्।। सा.ध. 1/7

बड़े दुखः की बात है, इस भरतक्षेत्र में पंचम काल रूपी वर्षाकाल में सदुपदेश रूपी दिशाओं के मिथ्या उपदेश रूपी बादलों से व्याप्त हो जाने पर सदुपदेश देने वाले गुरु जुगनुओं के समान कहीं-कहीं पर दीखते हैं। अर्थात् सब जगह नहीं मिलते हैं।

इस पंचमकाल में भरतक्षेत्र में भद्रपरिणामी मिथ्यादृष्टि को भी अच्छा मानते अर्थात् उपदेश देने योग्य मानते हैं, सम्यग्दृष्टियों के मिलने पर तो कहना

ही क्या; क्योंकि सुवर्ण के नहीं प्राप्त होने पर सुवर्ण पाषाण की प्राप्ति के लिए कौन पुरुष इच्छा नहीं करेगा? अपितु इच्छा करेगा ही[1]।

कुधर्म में स्थित होने पर भी मिथ्यात्व कर्म की मन्दता से समीचीन धर्म से द्वेष नहीं करने वाला भद्र कहा जाता है। वह भद्र द्रव्यनिक्षेप की अपेक्षा अर्थात् भविष्यकाल में सम्यक्त्व गुण की प्राप्ति के योग्य होने से उपदेश देने योग्य है, परन्तु भविष्य में सम्यक्त्व गुण की प्राप्ति के योग्य नहीं होने से अभद्र उपदेश देने के योग्य नहीं है[2]।

जिस प्रकार छिद्र करने वाली वज्र की सूची से छेद को प्राप्त कर कान्तिहीन मणि डोरे की सहायता से कान्तियुक्त मणियों में प्रवेश कर जाती है तो कान्तिहीन होते हुए भी कान्तिमान् मणियों की संगति से कान्तिमान मणि के समान मालूम पड़ती है। उसी प्रकार सद्गुरु के वचनों के द्वारा परमागम के जानने के उपाय स्वरूप सुश्रुषादि गुणों को प्राप्त होने वाला भद्र मिथ्यादृष्टि जीव यद्यपि अंतरंग में मिथ्यात्व कर्म के उदय के कारण यथार्थ श्रद्धान से हीन है तो भी कान्तिमान् मणिरूपी सम्यग्दृष्टियों के मध्य में सांव्यवहारिक जीवों को सम्यग्दृष्टि के समान प्रतिभासित होता है[3]।

गृहस्थ धर्म का धारक

सागार धर्मामृत में गृहस्थ धर्म को धारण करने वाले के जो लक्षण निधरित किए गए हैं, उनमें पहला लक्षण है-न्यायोपात्तधन-अर्थात् उसे न्याय से धनोपार्जन करने वाला होना चाहिए। आज के श्रावक प्राय: इस लक्षण को भूलकर येन केन प्रकारेण धनोपार्जन कर अपने को सुखी मानना चाहते हैं, किन्तु अन्यायोपार्जित धन से कोई व्यक्ति सुखी नहीं हो सकता।

सद्गृहस्थ के अन्तिम लक्षण में उसे अधमी[4]-पाप से डरने वाला कहा गया है। आज लोग पाप से भय नहीं मानते हैं। अनेक ऐसे हैं, जो पाप को पाप ही नहीं मानते हैं। ऐसे लोगों के लिए यह लक्षण बहुत उपयोगी है। पाप को पाप नहीं मानेंगे तो भविष्यत् काल में पाप के डण्डे खाने पड़ेंगे।

पक्ष, चर्या और साधन के स्वरूप

पण्डितप्रवर आशाधरजी ने पक्ष, चर्या और साधन का जो स्वरूप निर्धारित

किया है, वह उनका अपना मौलिक चिन्तन है, तथापि जैनागम के साथ उसकी किसी प्रकार की विसंगति नहीं है। धर्मादि के लिए मैं संकल्पपूर्वक त्रस प्राणियों का घात नहीं करूंगा, इस प्रकार की प्रतिज्ञा करके मैत्री, प्रमोद आदि भावनाओं से वृद्धि को प्राप्त हो सम्पूर्ण हिंसा का त्याग करना पक्ष कहलाता है। अनन्तर कृषि आदि से उत्पन्न हुए दोषों को विधिपूर्वक दूर कर अपने पोष्य धर्म तथा धन को अपने पुत्र पर रखकर घर को छोड़ने वाले के चर्या होती है और चर्यादि में लगे हुए दोषों को प्रायश्चित्त के द्वारा दूर करके मरण समय में आहार, मन, वचन, काय सम्बन्धी व्यापार और शरीर से ममत्व के त्याग से उत्पन्न होने वाले निर्मल ध्यान से आत्मा के राग-द्वेष को दूर करना साधन होता है[5]।

श्रावक के तीन भेद

पाक्षिक, नैष्ठिक और साधक के भेद से श्रावकों का तीन भागों में विभाजन आशाधरजी की मौलिक विशेषता है। श्रावक धर्म को ग्रहण करने वाला पाक्षिक है तथा उसी श्रावक धर्म में जिसकी निष्ठा है, वह नैष्ठिक श्रावक कहलाता है और आत्मध्यान में लीन होकर समाधिमरण करने वाला साधक कहलाता है[6]।

अष्टमूल गुण

रत्नकरण्ड श्रावकाचार में पञ्च अणुव्रतों को धारण करने के साथ-साथ मद्य, मांस, मधु के त्याग को अष्टमूल गुण कहा है[7]। आशाधरजी का कहना है कि जिनेन्द्र भगवान का श्रद्धालु श्रावक हिंसा को छोड़ने के लिए मद्य, मांस और मधु को तथा पांच उदम्बर फलों को छोड़े[8]। कोई आचार्य स्थूल हिंसादि का त्याग रूप पांच अणुव्रत और मद्य, मांस, मधु के त्याग को अष्टमूल गुण कहते हैं अथवा इन्हीं मूल गुणों में मधु के स्थान में जुआ खेलने का त्याग करना मूलगुण कहा है[9]।

मद्य, मांस, मधु का त्याग, रात्रि भोजन का त्याग और पञ्चेदुम्बर फलों का त्याग ये पांच और त्रैकालिक देववन्दना, जीवदया और पानी छानकर पीना ये कहीं-कहीं अष्ट मूलगुण माने गये हैं[10]।

इस प्रकार आशाधरजी ने अपने समय तक प्रचलित सभी मतों का अष्टमूल गुण के सन्दर्भ में उल्लेख कर सबका समाहार किया है। इन अष्टमूल गुणों का पालन करने वाला व्यक्ति ही जिनधर्म सुनने के योग्य[11] होता है। इन गुणों का पालन जिन परम्परानुसार करने वाले तथा मिथ्यात्वकुल में उत्पन्न हो करके भी जो इन गुणों के द्वारा अपनी आत्मा को पवित्र करते हें, वे सब समान ही होते हैं, उनमें कोई अनतर नहीं होता है[12]।

मांस और अन्न दोनों प्राणी के अंग होने पर भी मांस त्याज्य क्यों है?

कुछ लोगों का कहना है कि जिस प्रकार मांस प्राणी का अंग है, उसी प्रकार अन्न भी प्राणी का अंग है, अत: दोनों के खाने में दोष है। ऐसे व्यक्तियों के प्रति आशाधरजी ने एक सुन्दर दृष्टान्त दिया है-

प्राण्यङ्गत्वे समेऽप्यननं भोज्यं मांसं न धार्मिकौ।
भोग्या स्त्रीत्वाविशेषेऽपि जनैजीयैवनाम्बिका॥ सा.ध. 2/10

प्राणी के अंग की अपेक्षा मांस और अन्न में समानता होते हुए भी धर्मात्मा के द्वारा अन्न खाने योग्य है, किन्तु मांस खाने योग्य नहीं है, क्योंकि स्त्रीत्व रूप सामान्य धर्म की अपेक्षा स्त्री और माता में समानता होने पर भी पुरुषों के द्वारा स्त्री भोग्य है, माता भोग्य नहीं है।

शूद्र भी श्रावकधर्म धारण करने का अधिकारी है

उपकरण, आचार और शरीर की पवित्रता से युक्त शूद्र भी ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के समान जिनधर्म सुनने का अधिकारी है, क्योंकि जाति से हीन भी आत्मा कालादि लब्धि के आने पर श्रावक धर्म की आराधना करने वाला होता है[13]।

गृहस्थ को चिकित्साशाला, अन्न तथा जल का वितरण करने का स्थान तथा वाटिकादि बनवाने का विधान

पाक्षिक श्रावक चिकित्साशाला के समान दया के विषयभूत दु:खी प्राणियों का उपकार करने की इच्छा से अन्न और जल के वितरण करने के स्थान को भी बनवाने तथा जिनेन्द्र भगवान की पूजा के लिए बगीचा आदि का बनवाना भी दोषदायक नहीं है[14]।

जिनदेव और जिनवाणी में कोई अन्तर नहीं है

जो भक्तिपूर्वक जिनवाणी की पूजा करते हैं वे मनुष्य वास्तव में जिनेन्द्र भगवान् की पूजा करते हैं; क्योंकि (गणधर देव ने) जिनवाणी और जिनेन्द्रदेव में कुछ भी अन्तर नहीं कहा है[15]।

जैनों के चार भेद

नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव की अपेक्षा जैन चार प्रकार के होते हैं। नाम से और स्थापना से भी जैन इतरों की अपेक्षा उत्कृष्ट पात्र के समान आचरण करते हैं। द्रव्य से वह जैन पुण्यवान् पुरुषों को ही प्राप्त होता है। परन्तु भाव से जैन तो महाभाग्यवान् पुरुषों के द्वारा ही प्राप्य है[16]।

कन्यादान किसे करना चाहिए?

गृहस्थ अपने समान धर्म वाले गृहस्थाचार्य के लिए अथवा उसके अभाव में मध्यम गृहस्थ के लिए कन्या, भूमि, सुवर्ण, हाथी, घोड़ा, रथ, रत्न और मकानादि को दें[17]। गर्भादानादि क्रियाओं के, तत्सम्बन्धी मन्त्रों के तथा व्रत, नियमादिकों के नष्ट नहीं होने की आकांक्षा से गृहस्थ को साधर्मी भाईयों के लिए यथायोग्य कन्यादिक पदार्थो को देना चाहिए[18]। उत्तम कन्या को देने वाले साधर्मी गृहस्थ ने साधर्मी गृहस्थ के लिए त्रिवर्ग सहित गृह दिया है; क्योंकि विद्वान् लोग गृहिणी को ही घर कहते हैं, किन्तु दीवाल और बांसों के समूह को घर नहीं कहते हैं[19]।

गृहस्थ सुकलत्र के साथ विवाह करें

धर्मसन्तति को, संक्लेशरहित रति को, वृत्त कुल की उन्नति को और देवादि की पूजा को चाहने वाला श्रावक यत्नपूर्वक प्रशंसनीय उच्चकुल की कन्या को धारण करे अर्थात् उसके साथ विवाह करे[20]। योग्य स्त्री के बिना पात्र में पृथ्वी सोना आदि का दान देना व्यर्थ है। जड़ में कीड़ों के द्वारा खाए हुए वृक्ष में जल के सींचने से क्या उपकार है अर्थात् कुछ नहीं[21]।

वर्तमान युग के मुनियों में पूर्वकाल के मुनियों की स्थापना

सद्गृहस्थ प्रतिमाओं में स्थापित किए गए अर्हन्तों की तरह वर्तमान काल के मुनियों में पूर्वकाल के मुनियों को नामादिक विधि को द्वारा स्थापित करके

भक्तिपूर्वक उनकी पूजा करे। क्योंकि अत्यन्त क्षोदक्षेम करने वालों के कहां से पुण्य हो सकता है[22]।

ज्ञानी और तपस्वी दोनों की पूजा करें

तप का कारण होने से ज्ञान पूज्य है। ज्ञान के अतिशय में कारण होने से तप पूजनीय है। मोक्ष का कारण होने से दोनों ही पूज्य हैं। गुणानुसार ज्ञानी और तपस्वी भी पूजनीय है[23]।

मुनियों को पैदा करने का यत्न करें

सद्गृहस्थ पुत्र के समान जगत् के बन्धु जिनधर्म की सत्प्रवृत्ति चलाने के लिए मुनियों को पैदा करने का प्रयत्न करें तथा जो वर्तमान में मुनि हैं इनका श्रुतज्ञानादिक गुणों के द्वारा उत्कर्ष बढ़ाने का प्रयत्न करें[24]।

जब तक विषय सेवन में नहीं आए तब तक के लिए उसका त्याग करें

जब तक विषय सेवन करने में नहीं आते हैं, तब तक उन विषयों का अप्रवृत्ति रूप से नियम करें अर्थात् जब तक मैं इन विषयों में प्रवृत्ति नहीं करूंगा तब तक मुझे इनका त्याग है, ऐसा नियम करें। यदि कर्मवश व्रतसहित मर गया तो परलोक में सुखी होता है[25]।

भलीभांति सोच विचार कर नियम लेना चाहिए

देश, कामादिक को देखकर व्रत लेना चाहिए। ग्रहण किए हुए व्रतों का प्रयत्नपूर्वक पालन करना चाहिए। मदावेश से अथवा प्रमाद से व्रतभंग होने पर शीघ्र ही प्रायश्चित्त लेकर पुनः व्रत ग्रहण करना चाहिए[26]।

हिंसक सुखी अथवा दुःखी प्राणी का घात न करे

कोई अज्ञानी जन कहते हैं कि एक हिंसक सर्पादि का घात करने से बहुत से जीवों की रक्षा होती है, यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि जो हिंसक जीव को मारता है, वह भी हिंसक है, उसको भी मारने वाला हिंसक है, इस प्रकार अतिप्रसंग दोष प्राप्त होता है।

कोई अज्ञजन कहते हैं कि सुखी को मारना चाहिए; क्योंकि सुखी मरकर परभव में भी सुखी होता है। ऐसा कहना ठीक नहीं है; क्योंकि सुखी को मारने

से वर्तमान में तो प्रत्यक्ष सुख का नाश होता है अथवा दुर्ध्यति से मरकर दुर्गति में भी जा सकता है। अतः सुखी को नहीं मारना चाहिए।

कोई कहते हैं कि दुःखी जीवों का मार देना चाहिए, जिससे वह दुःख से मुक्त हो जायेगा; ऐसा विचार कर दुःखी जीवों को मारना भी ठीक नहीं है। क्योंकि तिर्यञ्च मानुष सम्बन्धी दुःख तो अल्प हैं। उन स्वल्प दुःख का नाश करने के विचार से दुःखी जीव का घात किया और वह मरकर नरक में गया तो महादुःखी होगा, अतः दुःखी को भी नहीं मारना चाहिए। पं. आशाधरजी ने कहा है-

हिंस्रदुःखिसुखि प्राणिघातं कुर्यान्न जातुचित्।
अतिप्रसङ्गश्वभ्रार्ति सुखोच्छेदसमीक्षणात्।। सा.ध.83

अतिप्रसंग, नरक सम्बन्धी दुःख तथा सुख का उच्छेद देखा जाता है, इसलिए कल्याणेच्छुक मानव कभी भी हिंसक, दुःखी तथा सुखी किसी भी प्राणी का घात न करे।

देशसंयमी के तीन भेद

देशसंयमी तीन प्रकार का होता है-प्रारब्ध, घटमान और निष्पन्न[27]। प्रारब्ध का अर्थ उपक्रान्त है अर्थात् शुरू किया है, जिसने ऐसा होता है। घटमान का अर्थ है-ग्रहण किए हुए व्रतों का निर्वाह करने वाला और निष्पन्न का अर्थ पूर्णता को प्राप्त। सारांश यह कि पाक्षिक श्रावक व्रतों का अभ्यास करता है, इसलिए प्रारब्ध देश संयमी है। नैष्ठिक प्रतिमाओं के व्रतों का क्रम से पालन करता है अतः घटमान है और साधक आत्मलीन होता है अतः निष्पन्न देश संयमी है।

धर्म के विषय में धर्मपत्नी को सबसे अधिक व्युत्पन्न करना चाहिए

दर्शन प्रतिमाधारी श्रावक उत्कृष्ट प्रेम को करता हुआ अपनी धर्मपत्नी को धर्म में अपने कुटुम्ब की अपेक्षा अतिशय रूप से व्युत्पन्न करे; क्योंकि मूर्ख अथवा विरुद्ध वह स्त्री धर्म से पुरुष को परिवार के लोगों की अपेक्षा अधि क भ्रष्ट कर देती है[28]।

स्त्री की उपेक्षा नहीं करना चाहिए

स्त्रियों को पति की उपेक्षा ही उत्कृष्ट वैर का कारण होता है, इसलिए इस लोक और परलोक में सुख को चाहने वाला पुरुष कभी भी स्त्री को उपेक्षा की दृष्टि से न देखें।

स्त्रियां पति के अनुकूल आचरण करें

कुलीन स्त्रियों को हमेशा पति के चित्त के अनुकूल ही आचरण करना चाहिए; क्योंकि पतिव्रता स्त्रियां ही धर्म, लक्ष्मी, सुख और कीर्ति का एक स्थान है[30]।

नैष्ठिक श्रावक गो आदि जानवरों से जीविका छोड़ें

नैष्ठिक श्रावक गो, बैल आदि जानवरों द्वारा अपनी आजीविका छोड़ें। यदि ऐसा करने में असमर्थ हो तो उन्हें बन्धन, ताड़न आदि के बिना ग्रहण करें। यदि ऐसा करने में असमर्थ हो तो निर्दयतापूर्वक उस बन्धनादिक को न करें।

मुनियों को दान देने के प्रभाव से गृहस्थ पंचसूलजन्य पाप से मुक्त हो जाता है

पीसना, कूटना, चौकाचूली करना, पानी रखने के स्थान की सफाई और घर, द्वार को बुहारना ये गृहस्थों की पञ्चसूत्र क्रियायें हैं। इनसे गृहस्थ जो पाप संचय करता है, वह मुनियों को विधिपूर्वक दान देने से अवश्य धो डालता है अर्थात् उसके पाप नष्ट हो जाते है[32]।

श्रावक की दिनचर्या

पण्डितप्रवर आशाधरजी ने श्रावक की प्रतिदिन की क्या चर्या होनी चाहिए, इसका सुन्दर निरूपण सागार धर्मामृत के छठे अध्याय में किया है। यह वर्णन अन्य श्रावकाचारों में विरल है। प्रातःकाल ब्रह्ममुहूर्त में उठकर पहिले नमस्कार मन्त्र पढ़ना चाहिए, तदन्तर मैं कौन हूं, मेरा धर्म क्या है और क्या व्रत है, इस प्रकार चिन्तन करना चाहिए। अनादि काल से भयंकर संसार में भ्रमण करते हुए मैंने अर्हन्त भगवान् के द्वारा कहे हुए इस श्रावक धर्म को कष्ट से प्राप्त किया है। इसलिये इस धर्म में प्रमादरहित प्रवृत्ति करना चाहिए। इस प्रकार प्रतिज्ञा करके शय्या से उठकर स्नानादि से पवित्र होकर एकाग्र मन से अरहंत

भगवान् की जल गंधादि अष्ट प्रकार की पूजा करके देव-वन्दना करे। अवश्य करने योग्य कार्यों की निवृत्ति हो जाने के बाद शान्तिभक्ति बोलकर अपनी शक्ति के अनुसार भोगोपभोग सामग्री का नियम करके भगवान् पुनः दर्शन मिले, समाधिमरण हो ऐसी प्रार्थना करके जाने के लिए प्रभु को नमस्कार करे। समता परिणाम रूपी अमृत के द्वारा विशुद्ध हुए अन्तरात्मा में विराजमान है परमात्मा की मूर्ति जिसके ऐसा श्रावक ऐश्वर्य और दरिद्रपना पूर्वोपार्जित कर्मानुसार होते हैं ऐसा विचार करता हुआ जिनालय जावे।

अपनी शक्ति के अनुसार भगवान् की पूजा सामग्री को लेकर चार हाथ जमीन देखकर जाता हुआ देशव्रती श्रावक मुनि के समान आचरण करता है। जिनेन्द्र भगवान् के मन्दिर के मस्तक पर लगी ध्वजा के देखने से उत्पन्न हुआ आनन्द बहिरात्मा प्राणियों की मोहनिद्रा को दूर करने वाले श्रावक के पाप को नाश करने वाला होता है। नाना प्रकार के तथा आश्चर्य को पैदा करने वाले वादित्र तथा स्वाध्यायादिक शब्द से माला, धूपपूर्ण आदि गन्ध से तथा द्वारतोरण और शिखर पर बने हुए चित्रों द्वारा वृद्धि को प्राप्त हुआ है, धर्माचरण सम्बन्धी उत्साह जिसको, ऐसा श्रावक निःसही इस शब्द का उच्चारण करता हुआ उस मन्दिर में प्रवेश करे। क्षालित किया है पैर जिसने, आनन्द से व्याप्त है सर्वांग जिसका, ऐसा श्रावक निःसही इस वाक्य का उच्चारण करता हुआ जिनभवन के मध्य प्रदेश में प्रवेश करके जिनेन्द्र भगवान को नमस्कार कर पुण्य के आस्रव को करने वाली स्तुतियों को पढ़ता हुआ तीन बार प्रदक्षिणा करे। यही आगम में प्रसिद्ध समवसरण है। यह प्रतिमार्पित जिनेन्द्र भगवान् ही साक्षात् जिनराज हैं, यह आराधक भव्य वे ही आगम प्रसिद्ध सभसद हैं, इस प्रकार चिन्तन करता हुआ श्रावक उस चैत्यालय में प्रदक्षिणा करते समय बार-बार धार्मिक पुरुषों की प्रशंसा करे। इसके बाद ईर्यापथ शुद्धि करके जिनेन्द्र भगवान् की, शास्त्र की और आचार्य की पूजा करके आचार्य के सामने गृह चैत्यालय में ग्रहण किए नियम को प्रकाशित करे। इसके बाद यह श्रावक यथायोग्य सम्पूर्ण जिनभगवान की आराधना करने वाले भव्य जीवों को प्रसन्न करे तथा अरहन्त भगवान् के वचनों को व्याख्यान करने वालों को तथा पढ़ने वालों को बार-बार प्रोत्साहित करे। इसके बाद वह श्रावक विधिपूर्वक स्वाध्याय करे और विपत्रि से आक्रान्त दीन पुरुषों को विपत्ति से छुड़ावे; क्योंकि परिपक्व ज्ञान

और दया वाले पुरुषों के ही सम्पूर्ण गुण सिद्धि देने वाले होते हैं। जिनगृह के मध्य हंसी, श्रृंगारादि चेष्टा को, चित्त को कलुषित करने वाली कथाओं को, कलह को, निद्रा को, थूकने को तथा चार प्रकार के आहार को छोड़ें। पूजादि क्रियाओं के अनन्तर हिताहित विचारक श्रावक द्रव्यादि के उपार्जन योग्य दुकानादि में जाकर अर्थोपार्जन में नियुक्त पुरुषों की देखभाल करे अथवा ध र्म के अविरुद्ध स्वत: व्यवसाय करे।

यह श्रावक पुरुषार्थ के निष्फल, अल्पफल तथा विपरीत फल वाला हो जाने पर भी न विषाद करे तथा लाभ हो जाने पर हर्षित भी न हो; क्योंकि सब भाग्य की लीला है। मेरे लिए वह मुनि के समान वृत्ति कब होगी, इस प्रकार भावना करता हुआ जैसा भी व्यापार में लाभ हुआ, उससे सन्तुष्ट होता हुआ शरीर की स्थिति के लिए उठे। श्रावक को अपने ग्रहण किए हुए सम्यक्त्व तथा व्रतों का घात न करते हुए मूल्य देकर लाए हुए जल, दूध, दही, धान्य, लकड़ी, शाक, फूल, कपड़ा आदि के द्वारा अल्प पाप हो, ऐसी स्वास्थ्यानुवृत्ति करनी चाहिए। निर्वाह के प्रयोजन से साधर्मी भाईयों के भी घर में तथा विवाहादिक में भी भोजन करने वाला यह व्रती श्रावक रात्रि में बनाए हुए भोजन को छोड़े और हीन पुरुषों के साथ व्यवहार न करे।

वह व्रती श्रावक उद्यान में भोजन करना, प्राणियों को परस्पर लड़ाना, फूलो को तोड़ना, जलक्रीड़ा, झूले में झूलना आदि क्रिया को छोड़ दे तथा इनके समान हिंसा की कारणभूत दूसरी क्रियाओं को भी छोड़ दे। मध्याह्न काल में दोषानुसार किया है स्नान जिसने ऐसा और धुले हुए दो वस्त्र को धारण करने वाला वह श्रावक पापों का नाश करने के लिए आकुलता रहित होता हुआ देवाधिदेव की आराधना करे अर्थात् माध्याह्निक सामायिक करे। अभिषेक करने की प्रतिज्ञा करके जहां पर भगवान् का अभिषेक करना है। वहां की भूमि की शुद्धि करके चतुष्कुंभ से युक्त है कोण जिनकी ऐसी तथा कुश रखा हुआ है ऐसी पीठिका पर अर्थात् सिंहासन पर जिनेन्द्र भगवान् को स्थापित करके आरती उतार कर इष्ट दिशा में दिशा में स्थित होकर जल, फलरस, घृत, दुग्ध, दधि के द्वारा अभिषेक करके किया है, उद्धर्तन जिसने अर्थात् चन्दन का अनुलेपन करके चारों कोण के कलशों से तथा सुगन्धित जल से अभिषेक करे

तथा जलचन्दनादिक अष्टद्रव्य से पूजा करके और नित्य वन्दनादि विधि से नमस्कार करके करे अपने हृदय में भगवान को विराजमान करके अपनी शक्ति अनुसार भगवान् का ध्यान करे। इसके बाद वह श्रावक सच्चे गुरु के उपदेश से सिद्धचक्र पार्श्वनाथ यंत्रादि की और शास्त्र की तथा गुरुचरणों की पूजा करे क्योंकि कल्याण कार्यो में कौन तृप्त होता है। इसके बाद अपनी शक्ति और भक्ति के अनुसार मुनि आर्यिकादिक पात्रों को तथा सर्व अपने आश्रितों को सन्तुष्ट करके काल में जिससे अजीर्ण आदि न हो ऐसा अपनी प्रकृति के अविरुद्ध भोजन करे। वह श्रावक इसलोक और परलोक का विरोध नहीं करने वाले द्रव्यों को सदा सेवन करे। व्याधि की उत्पत्ति न होने देने में तथा उत्पन्न हो गई हो तो उसके नाश करने के लिए प्रयत्न करे; क्योंकि वह व्याधि ही संयम का घात करने वाली है। भोजन करने के बाद श्रावक थोड़ी देर विश्रांति लेकर गुरु, सहपाठी और अपना चाहने वालों के साथ जिनागम के रहस्य का विनयपूर्वक विचार करे।

सन्ध्याकालीन आवश्यक कर्मो को करके देव और गुरु का स्मरण कर वह श्रावक उचित समय में थोड़ी देर शयन करे तथा अपनी शक्ति अनुसार मैथुन को छोड़ दे। वह श्रावक रात्रि में निद्रा के भंग हो जाने पर फिर वैराग्य के द्वारा श्री तत्क्षण मन को संस्कृत करे; क्योंकि भली प्रकार अभ्यास किया हुआ वैराग्य का जिसने ऐसा आत्मा शीघ्र ही प्रशम सुख का अनुभव करता है। बड़े दु:ख की बात है कि दु:ख ही है लहरें जिसमें ऐसे संसार रूपी समुद्र में मोह से शरीर को आत्मबुद्धि से निश्चय करने वाले मैंने यह आत्मा बार-बार अनादि काल से कर्मो से बन्धित किया है। इसलिए इस मोह को ही लष्ट करने क लिए मैं सदैव प्रयत्न करता हूं। क्योंकि उस मोह के नष्ट हो जाने पर क्षीण हो गए हैं राग द्वेष जिसके ऐसी यह आत्मा स्वयमेव कर्मो से छूट जाती है।

पुण्य-पाप कर्म के विपाक से शरीर होता है। शरीर में इन्द्रियां होती हैं और इन इन्द्रियों से विषयों का ग्रहण होता है और स्पर्शादि विषय को ग्रहण करने से पुन: बन्ध होता है। इसलिए मैं इस बन्ध के कारणभूत विषयग्रहण को मूल से नाश करता हूँ। ज्ञानियों की संगीत तप और ध्यान के द्वारा भी जो असाध्य है अर्थात वश में नहीं किया जाने वाला काम शत्रु शरीर और आत्मा का

भेदज्ञान से उत्पन्न हुए वैराग्य के द्वारा ही वश में किया जाता है।

जिन्होंने शरीर और आत्मा के भेदज्ञान के लिए उस प्रकार के ऐश्वर्यादि युक्त राज्य को छोड़ दिया था वे भरतादि चक्रवर्ती धन्य हैं। किन्तु मेरे जैसे स्त्री की इच्छा की पराधीनता से दु:खी गृहस्थों को धिक्कार है।

सन्दर्भ

1. सागार धर्मामृत 1/8, 2. सागार धर्मामृत 1/9 3-6-
3. वही 1.10, 4. वही 1.11, 5. वही 1.19, 6. वही 1.20
7. रत्नकरण्ड श्रावकाचार-66, 8. सा.ध. 8-26, सागर धर्मामृत-2 2, 3, 18, 19, 20, 22, 40, 44, 54, 56, 59, 60, 61, 64, 65, 71, 77, 79,
9. वही 2/3, 10. वही 2/18, 11. वही 2/19, 12. वही 2/20
13. वही 2/22, 14. वही 2/40, 15. वही 2/44, 16. सा.ध. 2/54
17. वही-56, 18. वही 2/56, 19. वही 2/59, 20. वही 2/60
21. वही 2/61, 22. वही 2/64, 23. वही 2/65, 24. वही 2/71
25. सा.ध. 2/77, 26. वही 2/79, 27. सा.ध. 3/6, 28. वही 3/26
29. वही 3/27, 30. वही 3/28, 31. वही 4/16, 32. वही 5/49

- जैन मंदिर के पास, बिजनौर (उ.प्र.)

जैन दर्शन में जीवद्रव्य

- डॉ.श्रेयांस कुमार जैन

प्राचीन काल से भारत वर्ष में प्रधान रूप से आचार और विचार सम्बन्धित दो परम्पराएं विद्यमान हैं। आचार पक्ष का कार्य धार्मिकों ने सम्पादित किया और विचार पक्ष का बीड़ा भारतीय चिन्तक-मनीषियों ने उठाया। आचार का परिणाम धर्म का उद्‌भव और विचार का परिणाम दर्शन का उद्‌भव है।

दर्शन शब्द का सामान्य अर्थ है–देखना, साक्षात्कार करना तथा प्रत्यक्ष ज्ञान से किसी वस्तु का निर्णय करना।

भारतीयों के सामने "दु:ख से मुक्ति पाना" यही प्रधान प्रयोजन था। इसी प्रयोजन की सिद्धि हेतु विभिन्न दार्शनिक विचारधाराओं ने जन्म लिया। दु:ख से छुटकारा कराने वाली प्रमुख विचारधाराएं इस प्रकार हैं–चार्वाक, जैन, बौद्ध, सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा (वेदान्त) इन्हे विद्वानों ने आस्तिक और नास्तिक दो शाखाओं में विभाजित किया है। उत्तरवर्ती षड्वैदिक दर्शनों (सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, पूर्वमीमांसा, उत्तरमीमांसा) को आस्तिक और प्रथम तीन (चार्वाक, बौद्ध, जैन) को नास्तिक संज्ञा दी है।

वस्तुत: उक्त वर्गीकरण निराधार है। आस्तिक और नास्तिक शब्द अस्ति नास्ति दिष्टं मति:- पा. 4/4:30 इस पाणिनीय सूत्र के अनुसार बने हैं। मौलिक अर्थ उनका यही था कि परलोक-सत्ता को मानने वाला आस्तिक और न मानने वाला नास्तिक कहलाता है। स्पष्टत: इस अर्थ में जैन और बौद्ध जैसे दर्शनों को नास्तिक कहा ही नहीं जा सकता है, क्योंकि इन दोनों में परलोक-सत्ता को दृढ़ता से स्वीकार किया गया है।

कुछ दार्शनिकों ने षड्दर्शन बौद्ध, नैयायिक, सांख्य, जैन, वैशेषिक और जैमिनीय स्वीकार किये हैं।

जैन दर्शन भारतीय दर्शनों का समन्वित स्वरूप है। इसमें द्रव्य का महत्वपूर्ण स्थान है। द्रव्य उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक[2] होता है। गुणपर्याय वाला द्रव्य

भी कहा गया है।[3] अनेक गुण और पर्याय युक्त द्रव्य के मूल षड्भेद हैं–जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल[4]।

प्रथम जीव-द्रव्य का जैन दर्शन में स्वतन्त्र द्रव्य के रूप में विशद विवेचन प्राप्त होता है। उसी का संक्षिप्त निर्देशन किया जा रहा है–

जीव का सामान्य स्वरूप उपयोग[5] है। उपयोग का अर्थ है–ज्ञान और दर्शन।

ज्ञानोपयोग दो प्रकार का है–स्वभावज्ञान और विभावज्ञान। जो केवल-निरुपाधिरूप, इन्द्रियातीत तथा असहाय अर्थात् प्रत्येक वस्तु में व्यापक है, वह स्वभावज्ञान है और उसी का नाम केवलज्ञान है।[6] विभावज्ञान सज्ज्ञान और असज्ज्ञान के भेद से दो तरह का है। सज्ज्ञान चार प्रकार का है–मति, श्रुत, अवधि और मन:पर्यय। कुमति, कुश्रुत और विभंगावधि के भेद से असज्ज्ञान तीन प्रकार का है। इसी प्रकार दर्शनोपयोग भी दो प्रकार[7] का है–स्वभावदर्शनोपयोग और विभावदर्शनोपयोग। जो इन्द्रियरहित और असहाय है, वह केवल दर्शन स्वभावदर्शनोपयोग। जो इन्द्रियरहित और असहाय है, वह केवल दर्शन स्वभावदर्शनोपयोग है। चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन और अवधिदर्शन ये तीनों विभाव दर्शनोपयोग हैं।

ज्ञानदर्शनरूप उपयोगमय जीव ही आत्मा है। चेतयिता है। अकलंकदेव ने कहा है कि दशसु प्राणेषुयथापात्तप्राणपर्यायेण त्रिषु कालेषु जीवनानुभवनात् जीवति अजीवीत् जीविष्यति वा जीव:, राजवार्तिक 9/47/25।

जैन दर्शन में जीव (आत्मा) के स्वरूप का प्रतिपादन सभी दर्शनों को दृष्टि में रखकर किया गया है। इसके स्वरूप से सम्बन्धित प्रत्येक विशेषण किसी न किसी दर्शन से सम्बन्ध रखता है–जैसा कि नेमिचन्द्र सिद्धान्तदेव की गाथा से स्पष्ट है–

जीवो उवओगमओ अमुत्ति कत्ता सदेहपरिमाणो।
भोत्ता संसारत्थो सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई।। - द्रव्यसंग्रह, 2

जीव, उपयोगमय है, अमूर्तिक है, कर्त्ता है, स्वदेहपरिणामी है, भोक्ता है,

संसारी है, सिद्ध है, और स्वभाव से उर्ध्वगमन करने वाला है।

चार्वाक आत्मा का स्वतन्त्र न मानकर शरीर को आत्मा मानता है।

जीव सदा जीता है, वह अमर है- कभी नहीं मरता है। उसका वास्तविक प्राण चेतना है जो उसी की तरह अनादि और अनन्त है। उसके व्यावहारिक प्राण भी होते हैं, जो पर्याय के अनुसार परिवर्तित होते रहते हैं। पांच ज्ञानेन्द्रियां, मनोबल, वचनबल, कायबल, श्वासोच्छ्वास और आयु से दस प्राण संज्ञी पशु, पक्षी, मनुष्य, देव, नारकियों में होते हैं। असंज्ञी पंचेन्द्रिय के नव प्राण, चार इन्द्रिय वाले के आठ, तीन इन्द्रिय वाले के सात, दो इन्द्रिय वाले के छः और एकेन्द्रिय के चार प्राण होते हैं। योनियों के चैतन्य नष्ट नहीं होता। अतएव शरीर की अपेक्षा जीव (आत्मा) भौतिक है और चेतना की अपेक्षा अभौतिक है।

नैयायिक और वैशेषिक आत्मा को ज्ञान का आधार मानते हैं। जैन दर्शन में आत्मा को आधार और ज्ञान को आधेय नहीं माना गया, किन्तु जीव (आत्मा) ज्ञानस्वभाव वाला माना गया है जैसे कि अग्नि ऊष्णस्वभावात्मक है। अपने से सर्वथा भिन्न ज्ञान से आत्मा कभी ज्ञानी नहीं हो सकता है।[8]

भाट्टमतानुयायी मीमांसक और चार्वाक आत्मा को मूर्त पदार्थ मानते हैं, किन्तु जैन दर्शन की मान्यता है कि पुद्गल में जो गुण विद्यमान है, आत्मा उनसे रहित है जैसा कि कहा गया है--

अरसरुवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं।
जाण अलिंग्गहणं जीवमणिदिट्ठसंठाणं।।[9]

-जीव को रसरहित, रूपरहित, गन्धरहित, स्पर्शरहित, शब्दरहित, पुद्गल रूप लिंग (हेतु) द्वारा नहीं ग्रहण करने योग्य, जिसके किसी खास आकार का निर्देश नहीं किया जा सकता ऐसा और चेतना गुण वाला जानो।

इस प्रकार यह अमूर्त है तो अनादिकाल से कर्मो से बंधा हुआ होने के कारण व्यवहार दृष्टि से उसे कथंचित् मूर्त भी कहा जा सकता है। शुद्ध स्वरूप की अपेक्षा मूर्त। यदि उसे सर्वथा मूर्त माना जायेगा, तो उसका अस्तित्व खतरे में पड़ जायेगा। पुद्गल और उसमें भेद नहीं रहेगा। अतएव कथंचित् की दृष्टि से निर्धारित किया गया है।

भारतीय दर्शनों में आत्मा के आकार के सम्बन्ध में मतान्तर प्रचलित है। न्याय वैशेषिक, सांख्य, मीमांसक आदि आत्मा का अनेकत्व स्वीकार करते हुए आत्मा को सर्वव्यापक मानते हैं। उनका कहना है कि जिस प्रकार आकाश सर्वव्यापक है उसी प्रकार आत्मा (जीव) भी सर्वव्यापक है। उपनिषद् में आत्मा के सर्वगत और सर्वव्यापक होने का उल्लेख है।[10] अगुंष्ठमात्र[11] तथा अणुमात्र[12] होने का भी निर्देश है।

जैन दर्शन में कहा गया है कि आत्मा प्रदेशों का दीपक के प्रकाश की भांति संकोच और विस्तार होने से वह (जीव) अपने छोटे-बड़े शरीर के परिमाण का हो जाता है। अर्थात् हाथी के शरीर में उसी जीव के प्रदेशों का विस्तार और चींटी के शरीर में संकोच हो जाता है।

जह पउमरायरणं खित्त खीरे पभासयदि खीरं।
तह देही देहत्थो सदेहमित्तं पभासदि।। -पंचास्तिकाय, ३३

-जैसे दूध में डाली हुई पद्मरागमणि उसे अपने रंग से प्रकाशित कर देती है, वैसे ही देह में रहने वाला आत्मा भी अपनी देहमात्र को अपने रूप से प्रकाशित कर देता है। अर्थात् वह स्वदेह में ही व्यापक है देह के बाहर नहीं, इसीलिए जीव स्वदेह परिमाण वाला है। यह स्थिति समुद्घात दशा के अतिरिक्त समय की है। समुद्घात में तो उसके प्रदेश शरीर के बाहर भी फैल जाते हैं। यहां तक कि सारे लोक में व्याप्त हो जाते हैं। इसीलिए जैन दर्शन में आत्मा (जीव) को कथंचित् व्यापक तथा कथचिंत् अव्यापक माना गया है।

सांख्य दर्शन में आत्मा के कर्तृत्व को स्वीकार न कर भोक्तृत्व को स्वीकार किया है।[13] कर्तृत्व तो केवल प्रकृति में है, पुरुष (जीव) निष्क्रिय है। जैन दर्शन के अनुसार जीव (आत्मा) व्यवहार नय से पुद्गल कर्मो, अशुद्ध निश्चय नय से चेतन कर्मों का और शुद्ध निश्चय नय से अपने ज्ञानदर्शन आदि शुद्ध भावों का कर्त्ता है।

कत्तासुहासुहाणं कम्माणं फलभोयओ जम्हा।

जीवो तप्फलभोया भोया सेसा ण कत्तारा।। -वसुनन्दि श्रावकाचार 35

जीव अपने शुभ और अशुभ कर्मों का कर्त्ता है क्योंकि वही उनके फल

का भोक्ता है। इसके अतिरिक्त कोई भी द्रव्य न कर्मों का भोक्ता है और न कर्त्ता है। कर्तृत्व और भोक्तृत्व का कोई विरोध नहीं। यदि भोक्ता मानता है तो कर्त्ता अवश्य मानना होगा। इस प्रकार एक दृष्टि से कर्त्ता और दूसरी दृष्टि से अकर्त्ता है।

बौद्धदर्शन क्षणिकवादी है। अत एव वह आत्मा के कर्त्ता और भोक्ता के रूप का ऐक्य स्वीकार नहीं करता है। यदि आत्मा को कर्मफल का भोक्ता नहीं माना जायेगा, तो जो कर्म करेगा उसे फल प्राप्त न होकर अन्य को फल प्राप्त होगा। इससे अव्यवस्था हो जाएगी। इसलिए आत्मा अपने कर्मों के फल का भोक्ता अवश्य है। इतना अवश्य है कि आत्मा सुख-दुःख रूप पुद्गल-कर्मो का व्यवहार दृष्टि से भोक्ता है और निश्चय दृष्टि से वह अपने चेतन भावों का ही भोक्ता है। अतएव वह कथचिंत् भोक्ता और कथचिंत् अभोक्ता है।

सदाशिवदर्शन में कहा गया है कि आत्मा कभी भी संसारी नहीं होता, वह हमेशा शुद्ध बना रहता है। कर्मो का उस पर कोई असर नहीं पड़ता, कर्म उसके हैं ही नहीं। जैन दर्शन का इस सम्बन्ध में भिन्न दृष्टिकोण है कि प्रत्येक जीव पहले संसारी होता है, तदनन्तर मुक्तावस्था को प्राप्त होता है। संसारी अशुद्ध जीव है। अनादि काल से जीव अशुद्ध है, वह ध्यान के बल से कर्मो का संवर-निर्जरा और पूर्ण क्षय करके मुक्त होता है। पुरुषार्थ से शुद्ध होता है। जीव यदि पहले संसारी नहीं होता तो उसे मुक्ति के उपाय भी खोजने की आवश्यकता नहीं थी। जैन दर्शन का यह भी कहना है कि जीव को संसारस्थ कहना व्यावहारिक दृष्टिकोण है। शुद्ध नय से तो सभी शुद्ध हैं। इस प्रकार जैन दर्शन जीव को एक नय से विकारी मानकर दूसरे नय से अविकारी मान लेता है।

भाट्ट-दार्शनिक मुक्ति को स्वीकार नहीं करते हैं, उसके अनुसार आत्मा का अन्तिम आदर्श स्वर्ग है। आत्मा सदा संसारी ही रहता है, उसकी मुक्ति होती ही नहीं, मुक्ति नाम का कोई पदार्थ नहीं है। चार्वाक तो जीव की सत्ता ही नहीं मानता। तब मुक्ति को भी कैसे स्वीकार करेगा, वह तो स्वर्ग को भी नहीं मानता। जैनदर्शन की मान्यता है कि आत्मा ज्ञानावरणादि अष्ट कर्मों को नष्ट करके सिद्ध हो जाता है, इसलिए सिद्ध का स्वरूप बताते हुए सिद्धान्तदेव

नेमिचन्द्र ने कहा है–

णिकम्मा अट्ठगुणा किंचूणा चरमदेहदोसिद्धा।
लोयग्गठिदा णिच्चा उप्पादवएहिं संजुत्ता।। – द्रव्यसंग्रह,14

जो ज्ञानावरणादि आठ कर्मो से रहित हैं, सम्यक्त्व आदि आठ गुणों के धारक है और अन्तिम शरीर से कुछ कम आकार वाले हैं, वे सिद्ध है और उर्ध्वगमन स्वभाव के कारण लोक के अग्रभाग में स्थित हैं, नित्य हैं तथा उत्पाद-व्यय से युक्त हैं।

जीव के संसारी और मुक्त दोनों विशेषण तर्कसंगत है। हां, जैन दर्शन में कुछ जीव अभव्य होते हैं, जिनको मुक्ति नहीं मिलती।

माण्डलिक का कहना है कि जीव निरन्तर गतिशील है वह कहीं भी नहीं ठहरता, चलता ही रहता है। जैन दर्शन क उसे उर्ध्वगमन वाला मानकर भी वहीं तक गमन करने वाला मानता है, जहां तक धर्म द्रव्य है। वास्तविक स्वभाव उर्ध्वगमन है। अशुद्ध दशा में कर्म जिधर ले जाते हैं, वहां जाता है, किन्तु कर्मरहित जीव उर्ध्वगमन करता है और लोक के अग्रभाग में ठहर जाता है। इसके आगे द्रव्य की गति नही होती है इसलिए जीव उर्ध्वगामी होकर भी निरन्तर उर्ध्वगामी नहीं है, यह जैन दर्शन की मान्यता है।

जीव द्रव्य के लिए प्रयुक्त सभी विशेषण सार्थक हैं तद् तद् दर्शनों की मान्यताओं के प्रतिपक्ष के रूप में उल्लिखित हैं।

यह जीवद्रव्य दो प्रकार के हैं 1. संसारी 2. मुक्त[14]। जो अपने संस्कारों के कारण नाना योनियों में शरीरों को धारण कर जन्म-मरण रूप से संसरण करते हैं, वे संसारी हैं। जो मन, वचन और कायरूप दण्ड अर्थात् योगों से रहित हैं, जिसे किसी प्रकार का आलम्बन नहीं, जो रागरहित, द्वेषरहित, मूढ़तारहित और भयरहित हैं वही आत्मा सिद्धात्मा[15] हैं।

इन्द्रिय की अपेक्षा से जीव के भेद– एकेन्द्रिय जीव के केवल स्पर्शनेन्द्रिय होती है।[16] पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय से पांच प्रकार के स्थावर एकेन्द्रिय है। दो, तीन, चार और पंचन्द्रिय वाले सभी जीव त्रस होते हैं। दो इन्द्रिय के स्पर्शन और रसना इन्द्रिय होती है जैसे लट

आदि। तीन इन्द्रिय के स्पर्शन, रसना और घ्राणेन्द्रियां होती हैं जैसे पिपीलका आदि। चार इन्द्रिय के स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु इन्द्रिय होती है जैसे भ्रमर आदि। पंचेन्द्रिय के भी दो भेद हैं, संज्ञी और असंज्ञी। मनसहित मानव, पशु, देव, नारकी संज्ञी हैं।[17] मनरहित तिर्यंच जाति के जलचर, सर्प आदि असंज्ञी हैं।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है जैन दर्शन में व्यापक रूप से जीव द्रव्य का आख्यान किया गया है जब कि अन्य दर्शनों में एक-एक अंश का अवलम्बन किया गया है। प्रस्तुत लेख में जीव-द्रव्य की महत्ता को बतलाते हुए जैन दर्शन में इसके स्वतन्त्र अस्तित्व और बहु-व्यापकता पर संक्षिप्त प्रकाश मात्र डाला गया है।

1. "दर्शनानि षडेवात्रमूलभेदापेक्षया–
   बौद्धं नैयायिकं सांख्यं, जैनं वैशेषिकं तथा।
   जैमिनीयं च नामानि, दर्शनानामभूत्यहो।।", षड्दर्शनसमुच्चय, 3
2. "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्, तत्वार्थसूत्र, 5/30
3. "गुणपर्ययवद्द्रव्यम्" वही, 5/38
4. "जीवापोग्गल काया धम्माधम्मा य काल आयासं।
   तच्चत्था इदि भणिदा णाणगुणपज्जएहिं संजुत्ता।।", नियमसार, गा.9
5. "जीवो उवओगमओ उवओगो णाणदंसणो होई।
   पाणुवओगी दुविहो सहावणाणं विभावणाणत्ति।।" वही, गा. 13
6. वही, 11-12
7. नियमसार, 13-14
8. "जीवो णाणसहावो जह अग्गी उह्वो सहावेण।
   अत्थंतरभूदेण हि णाणेण ण सो हवे णाणी।।" कार्तिकेयानुप्रेक्षा, 178
9. समयसार, 49
10. "सर्वव्यापिनमात्मानम्" श्वेता., 1/16
11. "अंगुष्ठमात्रपुरुषः।", वही, 3/13
12. कठोपनिषद् 9/2/20
13. सांख्यकारिका, 17-19
14. "संसारिणोमुक्ताश्च", तत्वार्थसूत्र, 10

15. "णिद्दंडो णिद्द्वन्द्वो णिम्ममो णिक्कलो णिरालंबो।
णीरागो णिद्दोसो णिम्मूढो णिब्भयो अप्पा।।", नियमसार, 43
16. "एइंदियस्य फसणं एक्कं चिय होइ सेस जीवाणं।
एयाहिया य तत्तो जिब्भाघाणक्खि सोत्ताइं।।", पंचास्तिकाय, 1/67
17. "संज्ञिन: समनस्का:।", तत्वार्थसूत्र, 2/24

- प्रवक्ता-संस्कृत दि० जैन कॉलेज, बड़ौत

उपादान एक और सहकारी अनेक

उपादान एक और सहकारी अनेक होते हैं। जैसे घट की उत्पत्ति में उपादान कारण मृत्तिका और सहकारी कारण दण्ड-चक्र-चीवर-कुलालादि हैं। यद्यपि घट की उत्पत्ति मृत्तिका में होती है, अत: मृत्तिका ही उसका उपादान कारण है, फिर भी कुलालादि कारण कूट के अभाव में घट रूप पर्याय मृत्तिका में नहीं देखी जाती, अत: ये कुलालादि घटोत्पत्ति में सहकारी कारण माने जाते हैं। इसीलिए प्राचीन आचार्यों ने जहाँ कारण के स्वरूप का निर्वचन किया है, वहाँ **'सामग्री जनिका कार्यस्य नैकं कारणं'** अर्थात् सामग्री ही कार्य की जनक है, एक कारण नहीं, यही तो लिखा है। अत: इस विषय में कुतर्क करना विद्वानों को उचित नहीं। यहाँ पर मुख्य गौण न्याय की आवश्यकता नहीं। वस्तु स्वरूप जानने की आवश्यकता है, **'अन्वय व्यतिरेकगम्यो हि कार्य कारणभाव:'** अर्थात् कार्यकारण भाव अन्वय व्यतिरेक दोनों से जाना जाता है, अत: दोनों ही मुख्य है। जब उपादान की अपेक्षा कथन करते हैं तब घट का उपादान मिट्टी है और निमित्त की अपेक्षा निरूपण किया जाए तो कुलालादि कारण हैं।

-पूज्य गणेशप्रसाद जी वर्णी,
मेरी जीवन गाथा-भाग 2, 195-196

अनेकांतवाद का मर्म

—कैलाश बाजपेयी

इंद्रभूतिगणधर ने भगवान महावीर से प्रश्न किया:-

'तत्त्व क्या है? भगवान ने उत्तर दिया– 'यही कि पदार्थ उत्पन्न होता है।

इंद्रभूति– 'भंते! पदार्थ यदि उत्पत्तिधर्मा है तो वह लोक में समाएगा कैसे?

भगवान– 'पदार्थ नष्ट होता है।'

इंद्रभूति– 'पदार्थ विनाश धर्मा है तो वह उत्पन्न होगा और नष्ट हो जाएगा, तब फिर शेष क्या रहेगा?'

भगवान– 'पदार्थ ध्रुव है।'

इंद्रभूति– 'भगवान! जो उत्पाद व्ययधर्मा है वह ध्रुव कैसे होगा? क्या उत्पाद, व्यय और ध्रुवता में विरोधाभास नहीं है?'

भगवान– यह विरोधाभास नहीं, सापेक्ष दृष्टिकोण है।

कुटिया में अंधेरा था। दीप जला कि प्रकाश हो गया। वह बुझा कि फिर अंधेरा हो गया। प्रकाश और अंधकार पर्याय हैं। इसका परिवर्तन होता रहता है। परमाणु ध्रुव हैं। उनका अस्तित्व तामस और तेजस दोनों पर्यायों में अखंड है और अबाध रहता है।

इसे भगवान महावीर की त्रिपादी की त्रिपथगा कहते हैं। दर्शन के इतिहास में, जैन चिंतन शैली को अनेकांतवाद नाम से जाना जाता है जिसका प्रतिपादन जैनाचार्य स्याद्वाद नाम से करते हैं। यह तो सभी मानेंगे कि ज्ञान अपरिमित है मगर ज्ञान को वाणी द्वारा अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता। ज्ञान अनंत, ज्ञेय भी अनंत, मगर वाणी सांत! हम जो कह पाते हैं वह परिमित है फिर उसे जो सुनने वाला है यह बिल्कुल आवश्यक नहीं कि वह उतना ही जानकार हो। हमारे आसपास यह जो कुतर्क और तर्क के बीच घमासान है उसका कारण

यही है कि हम जाने कुछ और, और कह कुछ और जाते हैं। इसी तरह सुनने वाला भी नहीं सुन पाता है कि जो वह जानता है। यही स्याद्‌वाद की जड़ है। स्याद्‌वाद यानी अनेकांतात्मकता। स्याद्‌वाद, का आधार है अपेक्षा। अपेक्षा वहा होती है जहां हम चाहें कुछ और जबकि वास्तविकता कुछ और हो। जाहिर है तब वहां विरोध होगा। विरोध वहीं होगा जहां एक पक्ष का आग्रह 'अ' हो और उभयपक्ष का 'ब'। विरोध तब नहीं होगा जब दोनों अपने-अपने पक्ष के प्रति कुछ कुछ और जानने के इच्छुक हों।

डॉ. देवराज ने लिखा है:- 'स्याद्‌वाद का अर्थ है शायदवाद। अपने अतिरंजित रूप में स्याद्‌वाद संदेहवाद का भाई है। 'स्याद्‌वाद का उद्‌गम अनेकांत वस्तु है। जो वस्तु सत् है वही असत् भी है। मगर जिस रूप से सत् है उसी रूप से असत् नहीं है। जैनाचार्यो के आधार पर वस्तु-तत्व का प्रतिपादन करने वाला वाक्य संशयात्मक हो ही नहीं सकता।

भगवान महावीर ने इसी स्याद्‌वादी पद्धति के आधार पर अनेक प्रश्नों के उत्तर दिए हैं। उदाहरण के लिए:-

द्रव्य-दृष्टि से सांत है।
क्षेत्र-दृष्टि से सांत है। किंतु
काल-दृष्टि से अनंत है!
भाव दृष्टि से अनंत है!

एक अन्य स्थल पर, प्रश्न किए जाने के बाद तीर्थकर महावीर स्पष्ट करते हैं- 'जीव शाश्वत है। वह कभी भी नहीं था, नहीं है और नहीं होगा- ऐसा नहीं होता। वह था, है और आगे भी होगा, रहेगा। इसलिए वह ध्रुव, नित्य, अक्षय, शाश्वत और अव्यय है।' आगे भगवान महावीर कहते हैं जीव अशाश्वत है- वह नैरयिक होकर तिर्यंच हो जाता है एक दिन देव योनि में आ जाता है फिर भव-बाधाओं को पार कर, आत्मपरिष्कार करता हुआ एक दिन सिद्ध हो जाता है-संसार बंधन से छूट जाता है। क्योंकि उसका अवस्था-चक्र बदलता रहता है इसलिए जीव अशाश्वत भी है। सिद्ध होने के बाद शाश्वत।

अनेकांतवाद के अनुसार, यह जो चेतना और अचेतन का मिला जुला रूप

है द्विनियत्व (दुनिया शब्द इसी से बना है) इसे ही परमार्थ सत्य मानना अनेकांत की विशेषता है। सत्य की एक विशेषता यह है, बल्कि नियम, कि दुनिया में कुछ भी एक सा नहीं है सर्वथा समान भी नहीं और असमान भी नहीं। अम्तित्व विपरीत का जोड़ है। एक तरह से देखें तो सब कुछ सब कुछ के विरोध में है। मगर अगर थोड़ी तटस्थतता आ जाए तो कहीं विरोध नही दीखता। नास्तिक भी यहां, उतना ही भयभीत है जितना आम्तिक। हर सदाशयी व्यक्ति कभी न कभी संशय से होकर गुजरता ही है और हर नास्तिक भी अक्सर घबड़ाकर प्रार्थना करता दिखाई पड़ जाता है। आदमी की हताशा का कारण ही यह है कि वह अनेकांत के नियम को नहीं जानता। वह जब स्वस्थ होता है तो यह स्वीकार ही नहीं करता कि वह कभी भी विषाणु की गिरफ्त में आ सकता है। वह यह भूल जाता है कि कोई भी पर्याय संप्रत्यय शाश्वत नहीं है। सब पर्याय बदलती रहती हैं। आज परिस्थिति यदि प्रतिकूल है तो कल अनुकूल भी हो जाएगी।

ईश्वर पर विश्वास करने वाले भी उतने ही विक्षिप्त होते हैं जितना उस पर अविश्वास करने वाले। इसलिए कि अविश्वास करने के पहले, विरोध करने के पहले, वह उपादान, वह अवधारणा भी तो चाहिए जिसके विरोध में हम निकल पड़े हैं। सर्वथा विरोध, यानि सर्वथा अविरोध, सर्वथा सहमति अथवा सर्वथा असहमति ये केवल विपर्यय हैं। अगर सब दक्षिणपंथी हो जाए तो वाम कहां जाएगा। वाम के कारण ही तो दक्षिणपंथ का अस्तित्व है। दोनों के अस्तित्व के लिए दोनों का होना जरूरी है। पता नहीं ऐसा क्यों मान लिया गया है कि अनेकांत दृष्टि केवल तत्ववाद तक ही सीमित है जिंदगी से उसका कुछ लेना-देना नहीं। जबकि जीवन स्वयं भी तो तत्व ही है, थोडे से रसायनों का घोल फिर इतनी मारामारी क्यों?

-डी०-203 **साकेत, नई दिल्ली**-110017

शिक्षाव्रतों में अतिथिसंविभाग व्रत का महत्त्व

–डॉ.सुरेन्द्रकुमार जैन 'भारती'

बचपन में पढ़ा था कि "सांई इतना दीजिये, जामें कुटुम समय मैं भी भूखा न रहूँ, साधु न भूखा जाय।" जब जैनधर्म के अध्ययन के प्रति उन्मुख हुआ तो शिक्षाव्रतों के अन्तर्गत अतिथिसंविभागव्रत को जाना और उपर्युक्त पंक्तियों को हृदयंगम किया कि बस मुझे इतना चाहिए कि जिसमें मेरा कुटुम्ब भली प्रकार जीवन यापन कर सके। मैं भी भूखा न रहूँ और मेरे द्वार पर आने वाला साधु भी भूखा न जाय। वास्तव में अतिथिंसविभाग इसलिए व्रत है क्योंकि इसमें सामाजिक सहअस्तित्व की भावना है जो समाज के चरित्रवान्, श्रद्धावान् एवं साधर्मीजनों के संरक्षण को नियमबद्ध करती है। यह नीति युगसापेक्ष नही अपितु कालातीत धर्म सापेक्ष भी है। जिनमें साधु बनने की भावना है, जिन्हें साधु प्रिय हैं उन्हें साधु की निकटता का लाभ हितकर ही होता है अत: शिक्षाव्रतों को आचरणीय बताया गया।

शिक्षाव्रत-

जिन व्रतों के पालन करने से मुनिव्रत धारण करने की या मुनिव्रत धारण की शिक्षा मिलती है उन्हें शिक्षाव्रत कहते हैं।[1] सागार घर्मामृत की टीका मे लिखा है कि "शिक्षायै अभ्यासाय व्रतम्"।[2] ये चार माने गये हैं– सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोप-भोगपरिमाण तथा अतिथिसंविभागव्रत।[3] शिक्षाव्रतों को सप्तशील के अन्तर्गत समाहित किया गया है। आचार्य अमृतचन्द्र के अनुसार–

परिधय इवनगराणि व्रतानि किल पालयंति शीलानि।
व्रत पालनाय तस्माच्छीलान्यपि पालनीयानि॥[4]

अर्थात् जिस प्रकार नगरों की रक्षा परकोंट से करते हैं उसी प्रकार निश्चय से व्रतों की रक्षा शील करते हैं। इसलिये अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य रूप पाँच व्रतों की रक्षा एवं पालन करने के लिये शीलों का भी पालन

करना चाहिये। ये सात शील हैं— तीन गुणव्रत (दिग्व्रत, देशव्रत और अनर्थदण्डत्यागव्रत) तथा चार शिक्षाव्रत (सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोग परिमाण और अतिथिसंविभागव्रत)।

'अतिथिसंविभागव्रत' जानने से पूर्व यह जानना आवश्यक है कि अतिथि कौन है?

अतिथि–

'सर्वार्थसिद्धि' में आचार्यपूज्यवाद स्वामी ने लिखा है कि– "संयमविनाशयन्नततीत्यतिथिः। अथवा नास्य तिथिरस्तीत्यतिथिः अनियतकालागमन इत्यर्थः।"[6] अर्थात् संयम का विनाश न हो, इस विधि से जो आता है वह अतिथि है या जिसके आने की कोई तिथि नहीं है उसे अतिथि कहते हैं। तात्पर्य यह है कि जिसके आने का कोई काल निश्चित नहीं है उसे अतिथि कहते हैं। 'सागार धर्मामृत' के अनुसार–

तिथिपर्वोत्सवाः सर्वे त्यक्ता येन महात्मना।
अतिथिं तं विजानीयाच्छेषमभ्यागतं विदुः॥

अर्थात् जिस महात्मा ने तिथि, पर्व, उत्सव आदि सब का त्याग कर दिया है अर्थात् अमुक पर्व या तिथि में भोजन नहीं करना, ऐसे निमय का त्याग कर दिया है, उसको अतिथि कहते हैं शेष व्यक्तियों को अभ्यागत कहते हैं।

चारित्रपाहुड़ टीका के अनुसार– "न विद्यते तिथिः प्रतिपदादिका यस्य" सोऽतिथिः। अथवा संयमलाभार्थमतति गच्छति उदद्ण्डचर्या करोतीत्यतिथिर्यतिः।[7] जिसको प्रतिपदा आदिक तिथि न हों वह अतिथि है अथवा संयम पालनार्थ जो विहार करता है, जाता है, उद्दण्डचर्या करता है ऐसा यति अतिथि है।

अमितगति श्रावकाचार के अनुसार–

"अततिः स्वयंमेव गृहं संयमविराधयन्ननाहूतः।
यः सोऽतिथिरुछिष्टः शब्दार्थ विचक्षणे साधुः॥–95

अर्थात् जो संयमी बिना बुलाये ही संयम की विराधना किये बिना गृहस्थ के घर आता है वह अतिथि कहलाता है।

अतिथि संविभाग व्रत–

'सर्वार्थसिद्धि' के अनुसार– "अतिथिये संविभागोऽतिथि संविभागः। स चतुर्विधः भिक्षोपकरणौषधप्रतिश्रय भेदात्। मोक्षार्थमभ्युद्यतायातिथये संयमपरायणामय शुद्धाय शुद्धचेतसा निरवद्या भिक्षा देया। धर्मोपकरणानि च सम्यग्दर्शनाद्युपबृंहणानि दातव्यानि। औषधमपियोग्यमुपयोजनीयम्। प्रतिश्रयश्च परमधर्म श्रद्धया प्रतिपादयितव्य इति। 'च' शब्दो वक्ष्यमाण गृहस्थधर्मसमुच्चयार्थः।"[8] अर्थात् अतिथि के लिए विभाग करना अतिथि संविभाग है। यह चार प्रकार का है– भिक्षा, उपकरण, औषध और प्रतिश्रय अर्थात् रहने का स्थान। जो मोक्ष के लिए बद्धकक्ष है, संयम के पालन करने में तत्पर है और शुद्ध है, उस अतिथि के लिए शुद्धमन से निर्दोष भिक्षा देनी चाहिए। सम्यग्दर्शन आदि के बढ़ाने वाले धर्मोपकरण देने चाहिए। योग्य औषध की योजना करनी चाहिए तथा परम धर्म का श्रद्धापूर्वक निवास स्थान भी देना चाहिए। सूत्र में 'च' शब्द है वह आगे कहे जाने वाले गृहस्थ धर्म के संग्रह करने के लिए दिया गया है।

'कार्तिकेयानुप्रेक्षा' के अनुसार–

तिविहे पत्तह्मि सया सद्धाइ-गुणेहि संजुदो णाणी।
दाणं जो देदि सयं णव-दाण-विहोहि संजुत्तो॥
सिक्खावयं च तिदियं तस्स हवे सव्वसिद्धि-सोक्खयरं।
दाणं चउविहं पि य सत्वे दाणाण सारयरं॥[9]

अर्थात् श्रद्धा आदि गुणों से युक्त जो ज्ञानी श्रावक सदा तीन प्रकार के पात्रों को दान की नौ विधियों के साथ स्वयं दान देता है उसे तीसरा (अतिथिसंविभाग) शिक्षा व्रत होता है। यह चार प्रकार का दान सब दानों में श्रेष्ठ है और सब सुखों का व सब सिद्धियों का करने वाला है।

'सागर धर्मामृत' के अनुसार

व्रतमतिथि संविभागः पात्र विशेषाय विधि विशेषेण।

द्रव्य विशेषवितरणं दातृ विशेषस्य फलं विशेषाय॥

अर्थात् जो विशेष दाता का विशेष फल के लिए, विशेष विधि के द्वारा, विशेष पात्र के लिए, विशेष द्रव्य का दान करना है वह अतिथि संविभाग व्रत

कहलाता है। 'तत्त्वार्थसूत्र में भी बताया है कि दान में विशेषता विधि द्रव्य, दाता, पात्र की विशेषता से आती है-''विधिद्रव्य दातृ विशेषात्तद्विशेषः-''[11]

'रत्नकरण्ड श्रावकाचार' में आचार्य समन्तभद्र ने अतिथिसंविभाग व्रत का उल्लेख 'वैय्यावृत्त्य' में किया है उनके अनुसार-गृहत्यागी, गुणनिधान तपोधन को अपना धर्मपालन करने के लिए उपचार और उपकार की अपेक्षा से रहित होकर विधिपूर्वक अपने विभव के अनुसार दान देने को वैय्यावृत्त्य कहा है।

दानं वैय्यावृत्य धर्माय तपोधनाय गुणनिधये।

अनपेक्षितोपचारोपक्रियमगृहाय विभवेन।।[12]

पात्र (अतिथि) तीन प्रकार के माने गये हैं- उत्तम, मध्यम और जघन्य उत्तम पात्र मुनि हैं, मध्यम पात्र आर्यिका, ऐलक, क्षुल्लक तथा प्रतिमाधारी व्रती श्रावक हैं और जघन्य पात्र अव्रत सम्यग्दृष्टि श्रावक श्राविका कहलाते हैं। सामान्य साधर्मी जन भी जघन्यपात्रों की कोटि में आते है। 'पद्मनन्दिपंचविंशतिका' में बताया है कि-

सत्पात्रेषु यथाशक्तिं दानं देयगृहस्थिते।

दानहीना भवेत्तेषां निष्फलैव गृहस्थिता।।[13]

अर्थात् गृहस्थों को सत्पात्रों के लिए यथाशक्ति दान देना चाहिए। दानहीन गृहस्थ का जीवन निष्फल होता है।

'पुरूषार्थ सिद्धयुपाय' में आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं कि-

विधिना दातृगुणवता द्रव्य विशेषस्य जातरूपाय।

स्वपरानुग्रह हेतोः कर्त्तव्योऽवश्यमतिथये भागः।।

संग्रहमुच्चस्थानं पादोदकमर्चन प्रणामं च।

वाक्काय मनः शुद्धिरेषण शुद्धिश्च विधिमाहुः।।

ऐहिक फलानपेक्षा क्षान्तिर्निष्कपटतानसूयत्वम्।

अविषादित्वमुदित्वे निरहंकारमिति हि दातृगुणाः।।

रागद्वेषासंयममदवु:ख भयादिकं न यत्कुरुते।
द्रव्यं तदेव देयं सुतपः स्वाध्यायवृद्धिकरम्।।
पात्रं त्रिभेदयुक्त संयोगो मोक्षकारणगुणानाम्।
अविरत सम्यग्दृष्टि विरताविरतश्च सकलविरतश्च।।
हिंसायाः पर्यायो लोभोऽत्र निरस्यते यतो दाने।
तस्माददतिथि वितरणं हिंसा व्युपरणमेवेष्टम्।।
गृहमागताय गुणिने मधुकरवृत्त्या परानपीडयते।
वितरति यो नातिथये सकथं न हि लोभवान् भवति।।
कृतमार्थाय मुनयं ददति भक्तमिति भावितस्त्याग:।
अरतिविषादविमुक्त: शिथिलितलोभो भवत्यहिंसैव।।

अर्थात् दाता के गुणों से युक्त श्रावक को स्वपर अनुग्रह के हेतु विधि -पूर्वक यथाजात रूप धारी अतिथि साधु के लिए द्रव्य विशेष का संविभाग अवश्य करना चाहिए। अतिथि का संग्रह (प्रतिग्रह, पड़गाहन) करना, उच्चासन देना, पाद प्रक्षालन करना, पूजन करना, प्रणाम करना तथा वचनशुद्धि, कायशुद्धि, मन:शुद्धि और भोजन शुद्धि, इस नवधाभक्ति को आचार्यो ने दान देने की विधि कहा है। इस लोक सम्वधी किसी भी प्रकार के फल की अपेक्षा न रखना, क्षमा धारण करना, निष्कपट भाव रखना, ईर्ष्या न करना, विषाद न करना, प्रमोदभाव रखना और अहंकार न करना ये दाता के सात गुण कहे गये हैं। जो वस्तु राग द्वेष, असंयम, मद, दु:ख और भय आदि को न करे और तप एवं स्वाध्याय की वृद्धि करे, वह द्रव्य अतिथि को देने योग्य है। जिसमें मोक्ष के कारण भूत सम्यग्दर्शनादि गुणों का संयोग हो वह पात्र कहलाता है। उसके तीन भेद कहे गये हैं- उसमें अविरतसमयग्दृष्टि जघन्य पात्र हैं। देशविरत मध्यम पात्र हैं और सकलविरत साधु उत्तम पात्र हैं। यत: पात्र को दान देने पर हिंसा का पर्यायभूत लोभ दूर होता है। अत: अतिथि को दान देना हिंसा का परित्याग ही कहा गया है। जो गृहस्थ अपने घर पर आये हुए गुणशाली मधुकरी वृत्ति से दूसरों को पीड़ा नहीं पहुँचाने वाले ऐसे अतिथि के लिए दान नहीं देता

है वह लोभवाला कैसे नहीं है अर्थात् अवश्य ही लोभी है। जो अपने लिये बनाये गये भोजन को मुनि के लिए देता है, आरति और विषाद से विमुक्त हैं और लोभ जिसका शिथिल हो रहा है ऐसे गृहस्थ का भावयुक्त त्याग (दान) अहिंसा स्वरूप है अर्थात् अतिथि के लिए उपर्युक्त नवधाभक्ति से दिया गया दान अहिंसा स्वरूप ही है। यह अतिथि संविभागव्रत नामक चौथा शिक्षाव्रत है।

'यशस्तिलक चम्पू' में दाता के सातगुण इस रूप में भी बताये हैं-

श्रद्धा तुष्टिर्भक्ति विज्ञानमलुब्धता क्षमाशक्तिः।

यत्रैते सप्तगुणास्तं दातारं प्रशंसन्ति॥[15]

अर्थात् जिस दाता में श्रद्धा, सन्तोष, भक्ति, विज्ञान, अलोभी-पना, क्षमा और शक्ति ये सात गुण पाये जाते हैं, वह दाता प्रशंसा के योग्य होता हैं। जैसे ही वह अपने सामने से किन्हीं मुनिराज को आहार मुद्रा में निकलते देखता है तो बड़े हर्ष के साथ निवेदन करता है कि हे स्वामी, नमोस्तु! नमोस्तु! आइए, आइए, ठहरिए, ठहरिए, हमारा आहार-जल शुद्ध है। यदि मुनिराज उसकी प्रार्थना सुनकर ठहर जाते हैं तो वह उनकी तीन प्रदक्षिणा देता है, वह अत्यन्त विनय के साथ उन्हें अपने घर में प्रवेश करने का निवेदन करता है, उसकी उक्त, क्रिया को प्रतिग्रह या पड़गाहन कहते है। गृहप्रवेश होने के बाद उन्हे उच्चासन पर विराजमान कर सर्वप्रथम प्रासुक जल से उनके चरणों को धोकर अहोभाव से अपने मस्तक पर लगाता है तत्पश्चात्, जल, गंध, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप और फलरूप अष्ट द्रव्यों से उनकी पूजा करता है। उसके बाद वह उन्हें प्रणाम कर निवेदन करता है कि हे स्वामी हमारा मन शुद्ध है, शरीर से भी हम शुद्ध है। हमारे द्वारा निर्मित आहार जल भी अत्यन्त शुद्ध है, कृपा कर भोजन ग्रहण कीजिए। इस प्रकार निवेदन करने पर जब मुनिराज आहार ग्रहण करते हैं तब 'सोला' की स्थिति बनती है। 'सोला' में नवधाभक्ति एंव दाता के श्रद्धा आदि सात गुणों को समाहित किया गया है। 'चारित्रसार' में आया है कि-

प्रतिग्रहोच्च स्थाने च पाद क्षालनमर्चनम्।

प्रणामो योगशुद्धिश्च ते नव॥

उक्तं हि श्रद्धा शक्तिरलुब्धत्वं भक्तिर्ज्ञानं दया क्षमा।

इति श्रद्धादयः सप्त गुणाःस्युर्गृहमेधिनाम्।।[17]

अर्थात् (1) प्रतिग्रह (पड़गाहन) (2) उच्चासन (3) पादप्रक्षालन (4) पूजन (5) प्रणाम (6) मनशुद्धि (7) वचनशुद्धि (8) कायशुद्धि (9) भोजनशुद्धि। ये नवधाभक्ति है। तथा (1) श्रद्वा (2) शक्ति (3) निर्लोभिता (4) भक्ति (5) ज्ञान (6) दया (7) क्षमा ये दाता के सात गुण हैं। इन दोनो को मिलाकर 'सोला' बनता है। यहाँ घ्यातव्य है कि मात्र वस्त्रादिकों की शुद्वि ही सोला नहीं है बल्कि उक्त नवभक्तियां एंव दाता के सात गुण ही यथेष्ट 'सोला' है।

इस प्रकार दिया गया दान परम्परा से मोक्षकारण और साक्षात् पुण्य का कारण है- 'नच्च दानं पारम्पर्येण मोक्षकारणं साक्षात् पुण्य हेतुः।

'रत्नकरण्ड श्रावकाचार' के अनुसार-

गृहकर्मणपि निचितं कर्म विमार्ष्टि खलु गृहविमुक्तानाम्।

अतिथिनाम् प्रतिपूजा रुधिरमलं धावते वारि।।[18]

इस प्रकार अतिथियों की पूजा और सत्कार करने से गृहकार्यो से अर्जित समस्त कर्म-मल धुल जाते हैं। पूज्यपाद स्वामी ने कहा है कि परोपकारः सम्यग्ज्ञानदिवृद्रिः स्वोपकारः पुण्यसंचयं।। अर्थात् जिन्हें दान दिया जाता है उनके सम्यग्दर्शन, ज्ञानादि की वृद्धि होती है, यही पर का उपकार है और दान देने से जो पुण्य का संचय होता है वह अपना उपकार है। जिन्हें स्व-पर उपकार की चाह है, उन्हें अतिथि संविभाग कर दान अवश्य देना चहिए रस व्रत के अन्तर्गत निम्नलिखित तथ्य आचरणीय हैं-

(1) संयमी साधुओं, व्रतियों एंव साधर्मियों को परम वात्यल्यभाव से आहार दान देना चाहिए।

(2) शरीर जन्य व्याधियों के शमन हेतु औषधिदान देना चाहिए ताकि नीरोग शरीर की प्राप्ति हो।

(3) आत्मा की भूख ज्ञान है जिससे हिताहित रूप विवेक की प्राप्ति होती

है। कहा भी है- ज्ञानामृतं भोजनम् अत: ज्ञान के प्रतीक शास्त्र भेंट करना चाहिए।

(4) साधुओं को उनके पद के अनुरूप पीछी (संयमोपकरण) एव कमण्डलु (शुद्धि-उपकरण) प्रदान करना चाहिए।

(5) साधुओं की यथायोग्य वैयावृत्ति करनी चाहिए।

अतिथिसंविभागव्रत के अतिचार:-

'तत्त्वार्थसूत्र' में आचार्य उमास्वामि ने अतिथिसंविभाग व्रत के पॉच अतिचार (दोष) बताये है-

सचित निक्षेपापिधान पर व्यपदेश मात्सर्यकालातिक्रमा:।।[20]

जिनका विश्लेषण सर्वार्थासिद्धि के अनुसार इस प्रकार है-

(1) सचित्तनिक्षेप - सचित कमलपत्र आदि में भोजन रखना सचित्त निक्षेप है।

(2) सचित्तापिधान - सचित्त कमलपत्र आदि मे भोजन ढॉकना सचिन्तापिधान है।

(3) परव्यपदेश - इस दान की वस्तु का दाता अन्य है, इस प्रकार कह कर दान देना पर व्यपदेश है।

(4) मात्सर्य - दान करते हुए भी आदर का न होना या दूसरे दाता के गुणों को न सह सकना मात्सर्य है।

(5) कालातिक्रम - असमय में भोजन कराना कालातिक्रम है।

उक्त अतिचारों पर नियंत्रण लगाते हुए यथायोग्य रीति से अतिथि संविभाग व्रत का पालन करना चाहिए। राजा सोम और श्रेयांस ने भगवान आदिनाथ को इक्षुरस का आहार देकर अतिथि संविभाग व्रत का पालन किया था। फलत: पंचाश्चर्य हुए थे, देवताओं द्वारा सराहना हुई थी। 'जिन घर साधु न पूजिए, हरि की सेवा नॉहि। ते घर मरघट सारिखे, भूत बसें तिन मॉहिं'। अर्थात् जिनकें घरो में साधु जनों की पूजा नहीं होती, प्रभु की भक्ति नहीं होती वे घर श्मसान के समान हैं। उनमें भूत निवास करते हैं। जिन्हें अक्षय परम्परा की चाह है,

भोगोपभोग हेतु सुखकर पदार्थो की चाह है, अतुलित बलशाली नीरोग शरीर की चाह है, संयम मार्ग पर चलने वाले संयमियों में जिनकी आस्था है, अनुराग है उन्हें नित्यप्रति अतिथि संविभाग व्रत का निर्दोष रीति से पालन करना चाहिए। आचार्य अमितगति के अनुसार-

परिकल्प्य संविभागं स्वनिमित्तकृताशनौषाधादीनाम्।

भोक्तव्यं सागारैरतिथिव्रतपालिभिर्नित्यम्॥[23]

सन्दर्भ-

(1) श्रावकाचार संग्रह भाग-4, (2) सागारधर्मामृत टीका 4-4

(3) भगवती आराधना 2082-83ए (4) पुषार्थ सिद्धयुपाय, 136

(5) सवर्थिसिद्धि 7,21,703, (6) सागार धर्मामृत 5/42

(7)चारित्त पाहुड टीका 25/45, (8) सर्वार्थ सिद्धि 7,21,703

(9) कार्तिकेयानुप्रेक्षा, 360-361, (10) सागार धर्मामृत 5/41

(11) तत्त्वार्थसूत्र 7/39, (12) रत्नकरण्डश्रावकाचार - 111

(13) पद्मनन्दिपंचविंशतिका, (14) पुरुषार्थ सिद्धयुपाय 167-174

(15) यशस्तिलक चम्पू , 746, (16) वसुनन्दि श्रावकाचार, 226-231

(17) चारित्रसार , 12-13, (18) रत्नकरण्डश्रावकाचार, 114

(19) सर्वार्थ सिद्धि 7/38/726/289/7, (20) तत्त्वार्थ सूत्र 7/36

(21) सर्वार्थ सिद्धि 7/36/723, (22) कबीर साखो

(23) अमितगति श्रावकाचार - 94

-प्रधान सम्पादक-पार्श्व-ज्योति

एल-65, न्यूइन्दिरा नगर, बुरहानपुर (म0 प्र0)

श्रमण परम्परा में प्रतिपादित षट्कर्म व्यवस्था

-डॉ.सुरेशचन्द जैन

श्रमण परम्परा एक जीवन्त परम्परा है। पुराणकाव्यों में आधुनिक कर्म व्यवस्था सम्बन्धी परम्परा के मूल स्रोत पुराणों में यत्र तत्र बिखरे पड़े हैं। यद्यपि आचार्य जिनसेन (वि0 सं0 840 शक संवत् 705) का हरिवंश पुराण बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ के चरित्र-चित्रण से सम्बद्ध माना जाता है, फिर भी, उन्होनें श्रमण परम्परा के अक्षुण्ण स्वरूप का दिग्दर्शन कराया है। अन्तिम कुलकर नाभिराय एंव तीर्थंकर ऋषभदेव से लेकर तीर्थंकर नमिनाथ की जीवन्त परम्परा का उल्लेख भी हरीवंश पुराण में हुआ है। 9वें सर्ग में तीर्थंकर ऋषभदेव के उस समय का वर्णन किया है जब भोगभूमिज कल्प-वृक्षों के अभाव से संत्रस्त प्रजा युवा ऋषभदेव के सम्मुख पहुँचती है

अथान्यदा प्रजाः प्राप्ता नाभेय नाभिनोदिताः।
स्तुतिपूर्वं प्रणम्योचुरेकी भूय महार्त्तयः॥
प्रभो कल्पद्रुमाः पूर्वं प्रजानां वृत्ति हेतवः।
तेषां परिक्षयेऽभूवन् स्वयंच्युत रसेक्षवः॥ 25.26 हरिवंशपुराण

तत्कालीन स्थिति का दिग्दर्शन कराते हुए आ0 जिनसेन वर्णन किया है कि पहले कल्पवृक्ष प्रजा के साधन थे, तदनन्तर स्वतः रसस्रतावी इक्षुवृक्ष साधन बने, जिसके कारण कल्प वृक्षों के उपकार विस्मृत से होने लगे, परन्तु यत्र-तत्र बिखरे रसहीन इक्षुवृक्ष, फल से झुके वृक्षों का सद्भाव है, गाय-भैसों के स्तनस्राव युक्त हैं। सिंहादि हिंसा के पशुओं से हम भयभीत हैं। ऐसी स्थिति में क्या भक्ष्य है, क्या अभक्ष्य, इसका मार्ग पूछने पर युवा ऋषभदेव ने धर्म-अर्थ-काम रूप साधनों का उपदेश दिया तथा सुख की सिद्धि के लिए अनेक उपायों के साथ-साथ असि, मषि, कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प रूप षड् कर्मो का भी उपदेश दिया। -हरिवंशपुराण 9.25.35.

इसी प्रकार का उल्लेख आदिपुराणकार आचार्य जिनसेन द्वारा भी

किया गया है। आदिपुराण में असि, मषि, कृषि, विद्या वाणिज्य और शिल्प ये छ: कार्य प्रजा के आजीविका के कारणरूप बताये गए हैं।--

उपर्युक्त षड्कर्मो का उल्लेख प्राय: सभी पुराणों में प्राप्त होता है। कर्मभूमिज और भोगभूमिज योग्यता का अन्तर स्पष्ट करते हुए हरिवंश पुराण में स्पष्ट किया गया है कि जहाँ भोगभूमिज मनुष्य एक समान योग्यता के धारक होते हैं वही कर्मभूमिज मनुष्यों में न्यूनाधिक योग्यता पायी जाती है। भगवान् ऋषमदेव ने षड्कर्मो का प्रणयन करके सामाजिक व्यवस्था को जन्म दिया और भगवान् ऋषभदेव इसके प्रवर्तक हुए। यही कारण है कि आद्यस्तुतिकार आचार्य समन्तभद्र ने स्वंयभूस्तोत्र में उन्हें प्रजापति के रूप में स्मरण किया है।

''**प्रजापतिर्यः प्रथमं जिजीविषुः**

शशास कृष्यादिषु, कर्मसु प्रजाः-'' स्वयम्भूस्तोत्र

(1) **असिकर्म**-आजीविका के साधनों में असिकर्म को प्रथम स्थान पर रखा गया है। असिवृत्ति का प्रधान उददेश्य सेवा के साथ-साथ शन्दि्तमय स्थिति का निर्माण करना है। प्रथमत: समाज में शन्ति व्यवस्था की स्थापना के लिए ही शस्त्र (असि) का प्रयोग किया जाना अभिप्रेत था। दूसरा कारण था दुर्बलों की रक्षा करना। असिकर्म के अन्तर्गत अन्याय का प्रतिकार और न्याय की स्थापना भी है। यही कारण है कि कालान्तर में श्रावकों के लिए (1) आरम्भी हिंसा (2) उद्योगी हिंसा (3) विरोधी हिंसा (4) संकल्पी हिसा में से मात्र संकल्पी हिंसा को त्यजनीय निरूपित किया गया है, वहीं विरोधी हिंसा को करणीय भी माना गया है। अन्याय के प्रतिकार और स्वजन, समाज, देश की रक्षार्थ उठाये जाने वाले शस्त्र अत्याचार-अनाचार के निराकरण के लिए होते हैं। इसीलिए उन्हें क्षत्रिय कहा गया है। क्षत्रिय विवेकी और शान्ति का निर्माता होता है। आचार्य सोमदेव ने यशस्तिलक में कहा है-

यः शस्त्रवृत्तिः समरे रिपुः स्यात्
यः कण्टको वा निजमण्डलस्य।
अस्त्राणि तत्रैव नृपाः क्षिपन्ति
न दीनकानानि शुभाशयेषु।।

जो रणांगण में युद्ध करने को सन्मुख हो अथवा अपने देश के कंटक हो अथवा जो उसकी उन्नति मे बाधक हो, क्षत्रिय वीर उन्हीं के ऊपर शस्त्र उठाते हैं दीन-हीन और साधु-आशय वालों के प्रति नहीं।

इससे स्पष्ट ध्वनित होता है कि दीन, हीन तथा शुभाशय वालों पर शस्त्रास्त्र जैसे अन्याय और हिंसा है वैसे ही अपने देश के कंटकों पर उसका न उठाना भी अन्याय और हिंसा है। अन्याय का हमेशा ही प्रतिरोध होना आवश्यक है अन्यथा वह वृद्धिंगत होकर भयावह रूप धारण कर लेता है। अन्याय पूर्ण स्थिति में न धर्म हो सकता है और न कर्म।

आजीविका के साधनों में न्याय का होना अपरिहार्य तत्त्व है। असि कर्म भी गृहस्थ धर्म है और गृहस्थ धर्म की पात्रता के लिए जिन गुणों को आवश्यक माना गया है उसमें न्यायोपात्त धन[2] को प्रमुख स्थान दिया गया है। आन्यायोपार्जित धन-पिपासा अनेक अनर्थ का कारण बनती है। आज के आतंक का प्रधान कारण विवेक-हीनता के साथ-साथ अन्यायोपात्त धन भी है।

-पं0 आशाधर-सागार धर्मामृत

असि कर्मी निरर्थक-विवेकहीन हिंसा में प्रवृति नही करता 'निरर्थक वधत्यागेन श्रत्रिया व्रतिनो मता' जैसे उद्‌बोधन द्वारा आचार्यो ने निरर्थक वध त्याग को ही क्षत्रियों का अहिंसा व्रत माना है। तीर्थकर ऋृषभदेव क्षत्रिय थे तथा सभी तीर्थकर क्षत्रिय ही हुए। इसके अतिरिक्त पुराणों में बारह चक्रवर्ती, नवनारायण, नव प्रतिनारायण, नव-बलभद्र त्रेसठशलाका पुरुष चौबीस कामदेव सभी-क्षत्रिय थे। सभी का आदर्श जीवन रहा है। विशेष रूप से तीर्थकर शान्तिनाथ, कुंथुनाथ, अरनाथ ने तो आर्यखण्ड तथा पाँच खण्डों की विजय की थी। जैन पुराणों की विषयवस्तु युद्धों से भरे पड़े हैं। यहाँ तक कि हरिवंशपुराण मे महाभारत युद्ध की घटना का भी वर्णन किया गया है। पद्‌मपुराण में युद्ध के लिए प्रस्थान करते हुए क्षत्रियों के लिए कहा गया है-

सम्यग्दर्शन सम्पन्न शूरः कश्चिदणुव्रती।
पृष्ठतो वीक्ष्यते पत्न्यः पुरस्त्रिदशकन्यया॥-73-168

किसी सम्यग्दृष्टि और अणुव्रती सिपाही को पीछे से पत्नी और सामने से देव कन्या देख रही है। आपाततः स्वयं, स्वकुटुम्ब के धन, और आजीविका की रक्षार्थ की जाने वाली हिंसा, संकल्पी हिंसा में गर्भित नहीं है। प्रागैतिहासिक काल से जैसे- जैसे मनुष्य ने अपने ज्ञान का उपयोग नए-नए भौतिक साधनों के दोहन और उनके उपयोग में लगाया और भौतिक समृद्धि की ओर अग्रसर हुआ है वैसे-वैसे उन उपलब्धियों की रक्षा के निमित्त उतने ही बड़ पैमाने पर रक्षा उपकरणों का आविष्कार और संग्रह भी किया है। योरोपीय अवधारणा है

कि शक्तिशाली ही जीवित रहता है और प्रत्येक व्यक्ति की यही सोच और दिशा रहती है। यही कारण है कि योरोपीय देशों ने भौतिक-समृद्धि की ओर विशेष ध्यान दिया और सामरिक शस्त्रास्त्रों का जखीरा तैयार कर दिया है। इसके विपरीत जैन परम्परा-संस्कृति से प्रभावित भारतीय संस्कृति में प्रत्येक प्राणी को जीने का अधिकार है और वह स्वतन्त्र रूप से अपने कर्तव्यों का निर्वाह कर सकता है।

2 **मषिकर्म**-लेखन कला-द्रव्य अर्थात् रुपये पैसे का आय-व्यय आदि के लेखन में निपुण मसिकर्मी व्यक्ति को मसिकर्मी कहा गया है।[3] मषी कर्मी को हम आज बैंकिग व्यवस्था के रूप में देखते है। आज विश्व की अर्थव्यवस्था का केन्द्रबिन्दु सम्मुन्नत एवं सुव्यवस्थित बैंकिग प्रणाली है। वस्तुविनिमय, द्रव्यविनिमय के रूप में मषीकर्मी देश की व्यवस्था को गति प्रदान करने में अहम् भूमिका का निर्वाह करते हैं। मषीकर्मी को भी अपनी साख का पूरा ध्यान रखना पड़ता है क्योंकि साख पर ही उसकी प्रतिष्ठा और आजीविका चलती है। साख का आधार है सत्य-व्यवहार और सद्गृहस्थ मषीकर्मी कभी असत्य व्यवहार का आश्रय नही लेता। आचार्यो ने सद्गृहस्थ को मिथ्योपदेश, रहोभ्याख्यान कूटलेख किया, न्यासापहार और साकार मन्त्र से बचने का निर्देश दिया है।[4]

3 षड्कर्म व्यवस्था का तीसरा सोपान है **कृषि कर्म**[5] देश की समृद्वि और शन्ति की अवस्था चतुर्दिक विकास का मार्ग प्रशस्त करती है। कृषि जीवन दायिनी कर्म है। भूमि को जोतना-बोना कृषि कर्म के अन्तर्गत आता है। हल, कुलि, दान्ती आदि से कृषि कर्म करने वाले को कृषिकर्मार्य कहा गया है। कृषि से आत्म निर्भरता और स्वाधीनता का भाव जाग्रत होता है। इसीलिए इसे उत्तम माना जाता है। उत्तम खती मध्यम व्यापार, की कहावत इस तथ्य को स्पष्ट करती है। कुरल काव्य में इस कर्म को सर्वोत्तम उद्यम माना गया है-

नरो गच्छतु कुत्रापि सर्वत्रान्नमपेक्षते।
तत्सिद्धिश्च कृषेस्तस्मात् सुभिक्षेऽपि हिताय सा ॥

आदमी जहाँ चाहे घूमें, पर अन्त में अपने भोजन के लिए उसे हल का सहारा लेना ही पड़ता है। इसलिए अल्पव्ययी होने पर भी सर्वोत्तम उद्यम है। श्रमण जैन संस्कृति का तो उद्घोष ही है ऋषि बनो या कृषि करो।

4 **विद्या कर्म**- चौथा सोपान है विद्या कर्म इसके अन्तर्गत आलेख्य

(चित्र) गणित आदि 72 कलायें आती है। विद्या से ही व्यक्ति लोक में सम्मान प्राप्त करता है। विद्या ही कामधेनु-चिन्तामणि आदि है, वही मित्र, धन सम्पदा है ऋृषभदेव ने अपनी पुत्रियों ब्राह्मी और सुन्दरी को अक्षरविद्या और अंकविद्या का ज्ञान कराया था। वाड्.मय के बिना कला का विकास नही हो सकता इसलिए भगवान ने सर्वप्रथम वाड्.मय का उपदेश दिया था। ऋृषभदेव ने भरतादि पुत्रों को भी अर्थशास्त्र नृत्यशास्त्र, गन्धर्वशास्त्र, चित्रकला, आदि की शिक्षा दी थी। इसी प्रकार बाहुबली के लिए कामनीति, आयुर्वेद, धनुर्वेद, रत्नपरीक्षा आदि का ज्ञान कराया था। इस प्रकार लोकोपयोगी सभी, शास्त्रों का ज्ञान ऋृषभदेव ने अपने पुत्रों को कराया। राजवार्तिककार ने इसे विद्याकर्मी आर्य के नाम से अभिहित किया है।

5 **शिल्पकर्म**- धोबी, नाई, लुहार, कुम्हार, सुनार आदि का कर्म शिल्पकर्म के अन्तर्गत आता है। प्रयोज्य उपकरणों का निर्माण करना ही शिल्पकर्म है। इन्हें शिल्पकर्मार्य कहा गया है।

6 **वाणिज्य कर्म**- चन्दनादि सुगन्ध पदार्थो का, घी आदि का रस व घन्यादि, कपास, वस्त्र, मोती आदि के द्रव्यां का संग्रह करके यथावसर उनको समूल्य देने का कर्म करने वाले वाणिज्य कर्मार्य है।

राजवार्तिककार ने असि, मसि, कृषि, विद्या, शिल्प और वाणिज्य के आधार से सावद्य कर्म-आर्य के रूप में गणना की है। मुख्य से रूप से (1) सावद्य कर्मार्य (2) अल्पसावद्य कर्मार्य (3) असावद्य कर्मार्य।[6] असि, मसि आदि कर्म करने वाले सावद्य कर्मार्य (अविरति होने से), विरति, अविरति दोनों रूप हाने से श्रावक और श्राविकायें अल्प सावद्य कर्मार्य कहे गए हैं तथा कर्मक्षय को उद्यत मुनि व्रत धारी संयत असावद्य कर्मार्य कहे गए हैं।

यद्यपि असि मसि कृषि आदि षट्कर्मो के अभाव में गृहस्थ जीवन चल नही सकता, फिर भी उसे क्रूर कर्म से बचना चाहिए। सागार धर्मामृत में स्पष्ट कहा गया है कि श्रावकों को प्राणियों को दु:ख देने वाले खर कर्म (कूरकर्म) क्रूर व्यापार अतिचार सहित छोड़ देना चाहिए। ये कर्म निम्नलिखित हैं

(1)वनजीविका (2) अग्निजीविका (3) शकटजीविका (4) स्फोटजीविका (5) भाटजीविका (6) यन्त्रपीड़न (7) निर्लोछन (8) असतीपोष (9) सर:शोष (10) दवप्रद (11) विषवाणिज्य (12) लाक्षावाणिज्य (13) दन्तवाणिज्य (14) केशवाणिज्य (15) रसवाणिज्य

वस्तुत: भारतीय संस्कृति जिसका प्रारम्भ आदितीर्थ ऋषभदेव ने किया था और जिसका सामाजिक, राजनैतिक दीर्घकालीन प्रभाव आज भी दिखाई देता है। प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों षट्कर्मव्यवस्था में अनुस्यूत है। सर्वसाधारण जो निवृति मार्ग का पूर्णत: पालन नही कर सकते उनके लिए अहिंसक जीवन यापन मार्ग प्रदर्शक की भूमिका का निर्वाह करें तो समाज व देश में सुव्यवस्था का निर्माण हो सकता है। आज जबकि सारा विश्व परमाणु बमों की परिधि में और आतंक के साये में है। आवश्यकता इस बात की है कि परस्पर वर्चस्व स्थापित करने की प्रवृति छोड़कर सर्वसमभाव और वात्सल्य भाव को प्राथमिकता प्रदान की जाय इससे न केवल समान का हित होगा वरन् देश का हित भी साघन होगा।

1. असिर्मषि: कृषिर्विद्या वाणिज्यं शिल्पमेव च।
कर्माणीमानि षोढ़ा स्यु: प्रजाजीवन हेतव:।। आदिपुराण 16-179
तत्रासिकर्मसेवायां मर्षिर्लिपि विधौस्मृता।
कृषिर्भूकर्षणे प्रोक्ता विद्या शास्त्रोपजीवने।।
वाणिज्यं वणिजाकर्म शिल्पा स्यात् करकौशलम्।
तच्च चित्र कलापत्रच्छेदादि-बहुधा स्मृतम्।। 181-182 आ0 पु0

2. न्यायोपात्त धनो: यजन् गुणगुरुन्सद्गी स्त्रिवर्ग भज:
न्नन्योन्यानुगुणं तदर्हगृहिसीस्थानालयो हीमय:।
युक्ताहारविहार आर्यसमिति: प्राज्ञ: कृतज्ञोवशी
श्रृण्वन् धर्मविधिं दयालुरधमी: सागारधर्मचरेत्।।

3. द्रव्याय व्ययादि लेखन निपुण मषीकर्मार्या:-रा. बा. 36

4. मिथ्योपदेश रहोभ्याख्यान कूटलेखक्रिया न्यासापाहार साकार मन्त्रभेदा:-तत्वार्थसूत्र -7.26

5. हल कुलि दन्तालकादिकृष्युपकरण विधान विद कृषिवला कृषिकर्मार्या: -रा. वा. -3-36

6. कर्मार्यास्त्रेघा सावद्यकर्मार्या, अल्पसावद्यकर्मार्या, असावद्यकर्मार्यापूचेति।
सावद्य कर्मार्या: षोढ़ा-असि-मसि-कृषि-विद्या-शिल्पवणिक्कर्मभेदात्।।-रा. वा. -3-36

3 11 1933–18.11 2001

श्री उम्मेदमल जैन पाण्ड्या

पिता :- श्री छगन लाल जी पाण्ड्या

माता :- श्रीमती भंवरीदेवी जी पाण्ड्या

जन्मस्थान :- कुचामन सिटी (राजस्थान)

अखिल भारतवर्षीय संस्थाओं के प्रति सक्रिय रूप से आजीवन समर्पित, मृदुभाषी, उदारमना, दानशील, देवशास्त्र गुरु के अनन्य भक्त, सभी साधु सन्तों के कृपा पात्र, श्री दिगम्बर जैन आदर्श महिला महाविद्यालय श्री महावीर जी, लूणवा, पद्मपुरा, जम्बूद्वीप, पावापुर एवं श्री सम्मेद शिखर जी आदि तीर्थ क्षेत्रों के चतुर्दिक विकास मे समर्पित, भारतवर्षीय दिगम्बर जैन महासभा, भारतवर्षीय तीर्थ क्षेत्र कमेटी व शिखर जी ट्रस्ट के वरिष्ठ उपाध्यक्ष, जैन महासभा दिल्ली के अध्यक्ष, भारतवर्षीय अनाथ रक्षक जैन सोसायटी एवं सराक ट्रस्ट आदि अनेक संस्थाओं के न्यासी, शाश्वत तीर्थराज *श्री सम्मेदशिखर जी आन्दोलन के अग्रणी व्यक्तित्व, श्रवणबेलगोला* यात्रा संघ व महामस्तकाभिषेक, सहस्राब्दी समारोह श्री महावीर जी, कुण्डलपुर महामस्तकाभिषेक एवं अनेक पंचकल्याणकों में तन, मन, धन से सक्रिय वरिष्ठ सहयोगी पाण्ड्या जी गत कई वर्षों मे वीर सेवा मंदिर की कार्यकारिणी में सदस्य और संस्था के विद्वान पंडित पद्मचन्द्र जी शास्त्री के स्नेह पात्र रहे हैं। समन्वयवादी दृष्टिकोण के लिए विख्यात, आर्ष परम्परा के सच्चे उपासक श्रद्धेय श्री उम्मेदमल जी जैन पाण्ड्या के प्रति वीर सेवा मंदिर की विनम्र श्रद्धाञ्जलि।

–सुभाष जैन, महासचिव

वीर सेवा मंदिर